हेमचन्द्र-मोदी-पुस्तकमाला ★ ★ षष्ठ पुष्प

धर्म और समाज

लेखक
प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी संघवी,
बनारस हिन्दूविश्वविद्यालयके जैनदर्शनके भूतपूर्व प्रधानाध्यापक,
और गुजरात विद्या-सभा अहमदाबादके दर्शनाध्यापक,

सम्पादक
प० दलसुख मालवणिया

सोल एजेण्ट
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ४.

अभिनंदन

धर्म, नीति, संस्कृति, समाज, जीवन, शास्त्र, सत्य, स्वतंत्रता आदि प्रौढ और गंभीर विषयोंपर मौलिक विचार प्रकट करनेका जिन इने-गिने भारतवासियोंको अधिकार है, उनमें भी पंडित सुखलालजीका स्थान ऊँचा है। शास्त्र-ग्रंथोंका अध्ययन जिस गहराईसे पंडित सुखलालजीने किया है उतना बहुत कम पंडितोंने किया है। और खूबी यह है कि सतत अध्ययनसे इनकी बुद्धि और शास्त्रदृष्टि श्रद्धाजड नहीं हुई है—बल्कि चेतनवती हुई है।

इस पुस्तकके चौबीस निबंध और भाषण अधिकांशमें जैन समाजको उद्देश कर लिखे गये हैं। तो भी इनमें साम्प्रदायिक संकुचितताका लवलेश नहीं है। सारग्राही समन्वयवादी और कल्याणाकांक्षी वृत्तिसे लिखे हुए इन प्रबंधोंमें लोक-कल्याणकी तीव्र इच्छा और जीवन-शुद्धिकी तेजस्विता शुरूसे आखिर तक झलकती है। इस ग्रंथका अध्ययन केवल जैनोंके लिये ही नहीं, समस्त भारतीय जनसमुदायके लिये पोषक और लाभदायी है। जैन समाजका मैं अभिनंदन करता हूँ कि उसे ऐसे शुद्ध विचारवाले, दीर्घदर्शी, निस्पृह नेता मिले हैं। पंडित सुखलालजीकी प्रेरणा बौद्धिक क्षेत्रमें काम करती है, इस लिये उसका कार्य तुरंत प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु उनकी निस्पृह और तटस्थ भूमिकाके कारण ही उनकी वाणीसे जो जीवन-परिवर्तन होता है वह अपना कार्य धीमे धीमे किन्तु स्थायी रूपसे करता है।

ऐसे व्याख्यान-संग्रह उच्च शिक्षाके पाठ्यक्रममें आवश्यक रूपसे रखने चाहिये, ताकि इन विचारोंका गहराईसे अध्ययन हो और विद्यार्थियोंको शास्त्रोंके अध्ययनके लिये शुद्ध दृष्टिका लाभ हो।

इस छोटेसे ग्रंथको पढते हुए पंडित सुखलालजीके बौद्धिक सह-वासका जो सुख मिला वह सचमुच तीर्थस्नानके जैसा आह्लादक है।

—काका कालेलकर

संपादकीय

श्रद्धेय पं० सुखलालजी संघवी स्वतंत्र विचारकके रूपमें प्रसिद्ध हैं। विगत बीस वर्षोंमें उन्होंने जो कुछ लिखा है और व्याख्यानोंमें जो कुछ कहा है, उसमेंसे धर्म और समाजविषयक लेखोंको चुनकर इस पुस्तकमें संग्रह किया गया है। पंडितजीके लेखनका प्रारंभ 'कर्मग्रन्थ' जैसे जैन ग्रन्थोंसे हुआ है। किन्तु उनके सम्पादनमें उन्होंने जो कुछ लिखा था, आज तीस वर्षके बाद भी कोई लेखक उससे आगे नहीं बढ़ा है। इससे हम समझ सकते हैं कि कितना गंभीर अध्ययन और मनन करनेके बाद वे लिखते और बोलते हैं।

वास्तवमें उन्होंने धर्म और समाजके विषयमें सन् १९३० से लिखना और बोलना शुरू किया है। किन्तु उस समय उनके जो विचार बनें, लगभग वे ही विचार आज भी हैं। उनमें स्पष्टता और गंभीरता तो आती गई, पर विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। उनके लेखोंके पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे प्रगतिशील नहीं हैं। उनको जिस वस्तुका दर्शन आजसे बीस वर्ष पहले हुआ और वह भी अँग्रेजी पुस्तकें पढ़े विना, उसका दर्शन आजके कालेजोंमें पढ़नेवालोंके लिए भी सुलभ नहीं। धर्म तो ऐसा विषय है कि पढे लिखे युवक उसपर सोचना जरूरी ही नहीं समझते। इसका भार तो वे पंडों और पुरोहितोंपर ही डालकर निश्चिन्त हैं।

पंडितजी जब अहमदाबादके 'गुजरात विद्यापीठ'के अध्यापक होकर पहुँचे तब गुजरातमें गाँधी-युग शुरू हो चुका था और गाँधीजीने धर्मकी रूढ मान्यताओंपर प्रहार करना शुरू कर दिया था। उस परिस्थितिमें पंडित-जीको भी जैन धर्मके और धर्मके तात्त्विक रूपके विषयमें गहराईसे सोचना विचारना पड़ा और धर्मके बाह्य रूपसे तात्त्विक धर्मको अलग करके दिखानेकी

प्रेरणा मिली। उनका मुख्य कार्य तो दार्शनिक ग्रन्थोंका सम्पादन संशोधन और अध्यापन ही था; किन्तु जैन समाओंमें बोलनेका जहाँ कहीं भी अवसर मिला उन्होने धर्म-स्वरूपकी मीमांसा करना उचित माना। श्रोता मुख्य रूपसे जैन होते थे, इसलिए दृष्टान्तोंमें उन्हींकी बातोंका आना स्वाभाविक है, फिर भी धर्मका जो तात्त्विक स्वरूप बतलाया गया है वह सर्वजनग्राह्य और सर्वोपयोगी है।

कलकत्तेके श्री भँवरमलजी सिंघीने सबसे पहले उक्त लेखोंका संग्रह करनेकी प्रेरणा की थी। उसके बाद जब श्री नाथूराम प्रेमीने स्वर्गीय हेमचन्द्रकी स्मृतिमें प्रकाशित होनेवाली पुस्तकमालामें इसे देनेका प्रस्ताव किया, तब पंडितजीने इसे स्वीकार कर लिया। पंडितजीका स्व० हेमचन्द्रपर विशेष स्नेह था।

पंडितजीने अपने सभी प्रकाशित अप्रकाशित लेखोंकी व्यवस्थाका भार मुझे दे रखा है। मेरी इच्छा थी कि उनके समस्त लेख जैनसंस्कृति-संशोधन मंडल, काशीकी ओरसे प्रकाशित हों। मंडलने अनुवादके लिए कुछ खर्च भी किया था। अतएव यही निश्चय हुआ कि मंडलकी ओरसे इस संग्रहका प्रकाशन प्रेमीजी करें और तदनुसार यह प्रकाशित हो रहा है।

मेरी प्रार्थनापर पूज्य काका कालेलकरने संग्रहको पढ़कर अस्वस्थ अवस्थामे भी कुछ पंक्तियाँ लिख देनेका कष्ट उठाया है, उसके लिए उनका आभार मानता हूँ।

इस संग्रहके कई लेख कई मित्रोंने स्वतःप्रवृत्त होकर गुजरातीसे हिन्दी-अनुवाद करके पत्रोमे प्रकाशित किये थे। अतएव उनका और पत्र-सम्पादकोंका भी मैं आभारी हूँ।

प्रेमीजीने अनुवादका संस्कार किया है। कहीं कहीं तो उनको समूचा बदलना पड़ा है और यह सब उन्होंने बड़े प्रेमसे किया है। इसलिए वे भी धन्यवादके पात्र हैं।

काशी
हिन्दू-विश्वविद्यालय

—दलसुख मालवणिया

धर्मका बीज और उसका विकास

श्री देशमुखने कहा है कि धर्मकी लगभग सातसौ व्याख्याएँ की गई हैं, फिर भी उनमें सब धर्मोंका समावेश नहीं होता। आखिर बौद्ध, जैन आदि धर्म उन व्याख्याओंके बाहर ही रह जाते हैं। विचार करनेसे जान पड़ता है कि सभी व्याख्याकार किसी न किसी पंथका अवलम्बन करके व्याख्या करते हैं। जो व्याख्याकार कुरान और मुहम्मदको व्याख्यामें समावेश करना चाहेगा उसकी व्याख्या कितनी ही उदार क्यों न हो, अन्य धर्म-पंथ उससे बाहर रह जायँगे। जो व्याख्याकार बाइबल और क्राइस्टका समावेश करना चाहेगा, या जो वेद, पुरान आदिको शामिल करेगा उसकी व्याख्याका भी यही हाल होगा। सेश्वरवादी निरीश्वर धर्मका समावेश नहीं कर सकता और निरीश्वरवादी सेश्वर धर्मका। ऐसी दशामें सारी व्याख्याएँ अधूरी साबित हों, तो कोई अचरज नहीं। तब प्रश्न यह है कि क्या शब्दोंके द्वारा धर्मका स्वरूप पहचानना सभव ही नहीं? इसका उत्तर 'हाँ' और 'ना' दोनोंमें है। 'ना' इस अर्थमें कि जीवनमें धर्मका स्वतः उदय हुए विना शब्दोंके द्वारा उसका स्पष्ट भान होना संभव नहीं और 'हाँ' इस अर्थमें कि शब्दोंसे प्रतीति अवश्य होगी, पर वह अनुभव जैसी स्पष्ट नहीं हो सकती। उसका स्थान अनुभवकी अपेक्षा गौण ही रहेगा। अतएव, यहाँ धर्मके स्वरूपके बारेमें जो कुछ कहना है वह किसी पान्थिक दृष्टिका अवलंबन करके नहीं कहा जायगा जिससे अन्य धर्मपंथोंका समावेश ही न हो सके। यहाँ जो कुछ कहा जायगा वह प्रत्येक समझदार व्यक्तिके अनुभवमें आनेवाली हकीकतके आधारपर ही कहा जायगा जिससे वह हर एक पंथकी परिभाषामें घट सके और किसीका बहिर्भाव न हो। जब वर्णन शाब्दिक है तब यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता कि वह अनुभव जैसा स्पष्ट भी होगा।

पूर्व-मीमांसामें ' अथातो धर्मजिज्ञासा ' सूत्रसे धर्मके स्वरूपका विचार प्रारंभ किया है कि धर्मका स्वरूप क्या है ? तो उत्तर-मीमांसामें ' अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा ' सूत्रसे जगत्के मूलतत्त्वके स्वरूपका विचार प्रारम्भ किया है। पहलेमें आचारका और दूसरेमें तत्त्वका विचार प्रस्तुत है। इसी तरह आधुनिक प्रश्न यह है कि धर्मका बीज क्या है, और उसका प्रारंभिक स्वरूप क्या है ? हम सभी अनुभव करते हैं कि हममें जिजीविषा है। जिजीविषा केवल मनुष्य, पशु, पक्षी तक ही सीमित नहीं है, वह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीट पतंग और बेक्टेरिया जैसे जंतुओंमें भी है। जिजीविषाके गर्भमें ही सुखकी ज्ञात, अज्ञात अभिलाषा अनिवार्यरूपसे निहित है। जहाँ सुखकी अभिलाषा है, वहाँ प्रति-कूल वेदना या दुःखसे बचनेकी वृत्ति भी अवश्य रहती है। इस जिजीविषा, सुखाभिलाषा और दुःखके प्रतिकारकी इच्छामें ही धर्मका बीज निहित है।

कोई छोटा या बड़ा प्राणधारी अकेले अपने आपमें जीना चाहे तो जी नहीं सकता और वैसा जीवन बिता भी नहीं सकता। वह अपने छोटे बड़े सजातीय दलका आश्रय लिये विना चैन नहीं पाता। जैसे वह अपने दलमें रहकर उसके आश्रयसे सुखानुभव करता है वैसे ही यथावसर अपने दलकी अन्य व्यक्तियोंको यथासंभव मदद देकर भी सुखानुभव करता है। यह वस्तु-स्थिति चींटी, भौंरे और दीमक जैसे क्षुद्र जन्तुओंके वैज्ञानिक अन्वेषकोंने विस्तारसे दरसाई है। इतने दूर न जानेवाले सामान्य निरीक्षक भी पक्षियों और बन्दर जैसे प्राणियोंमें देख सकते हैं कि तोता, मैना, कौआ आदि पक्षी केवल अपनी संततिके ही नहीं बल्कि अपने सजातीय दलके संकटके समय भी उसके निवारणार्थ मरणांत प्रयत्न करते हैं और अपने दलका आश्रय किस तरह पसंद करते हैं। आप किसी बन्दरके बच्चेको पकड़िए, फिर देखिए कि केवल उसकी माँ ही नहीं, उस दलके छोटे बड़े सभी बन्दर उसे बचानेका प्रयत्न करते हैं। इसी तरह पकड़ा जानेवाला बच्चा केवल अपनी माँकी ही नहीं अन्य बन्दरोंकी ओर भी बचावके लिए देखता है। पशु-पक्षि-योंकी यह रोजमर्राकी घटना है तो अतिपरिचित और बहुत मामूली-सी, पर इसमें एक सत्य सूक्ष्मरूपसे निहित है।

वह सत्य यह है कि किसी प्राणधारीकी जिजीविषा उसके जीवनसे अलग

नहीं हो सकती और जिजीविषाकी तृप्ति तभी हो सकती है, जब प्राणधारी अपने छोटे बड़े दलमें रहकर उसकी मदद लें और मदद करें। जिजीविषाके साथ अनिवार्य रूपसे संकलित इस सजातीय दलसे मदद लेनेके भावमें ही धर्मका बीज निहित है। अगर समुदायमें रहे बिना और उससे मदद लिए विना जीवनधारी प्राणीकी जीवनेच्छा तृप्त होती, तो धर्मका प्रादुर्भाव संभव ही न था। इस दृष्टिसे देखनेपर कोई सन्देह नहीं रहता कि धर्मका बीज हमारी जिजीविषामें है और वह जीवन-विकासकी प्राथमिकसे प्राथमिक स्थितिमें भी मौजूद है, चाहे वह अज्ञान या अव्यक्त अवस्था ही क्यों न हो।

हरिण जैसे कोमल स्वभावके ही नहीं बल्कि जंगली भैंसों तथा गैण्डों जसे कठोर स्वभावके पशुओंमें भी देखा जाता है कि वे सब अपना अपना दल बाँधकर रहते और जीते हैं। इसे हम चाहे आनुवंशिक संस्कार मानें चाहे पूर्वजन्मोपार्जित, पर विकसित मनुष्य-जातिमें भी यह सामुदायिक वृत्ति अनिवार्य रूपसे देखी जाती है। जब पुरातन मनुष्य जगली अवस्थामें था तब और जब आजका मनुष्य सभ्य गिना जाता है तब भी, यह सामुदायिक वृत्ति एक-सी अखण्ड देखी जाती है। हाँ, इतना फ़र्क़ अवश्य है कि जीवन-विकासकी अमुक भूमिका तक सामुदायिक वृत्ति उतनी सभान नहीं होती जितनी कि विकसित बुद्धिशील गिने जानेवाले मनुष्यमें है। हम अभान या अस्पष्ट भानवाली सामुदायिक वृत्तिको प्रावाहिक या औघिक वृत्ति कह सकते हैं। पर वही वृत्ति धर्म-बीजका आश्रय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस धर्म-बीजका सामान्य और संक्षिप्त स्वरूप यही है कि वैयक्तिक और सामुदायिक जीवनके लिए जो अनुकूल हो उसे करना और जो प्रतिकूल हो उसे टालना या उससे बचना।

जब हम विकसित मानव जातिके इतिहास-पटपर आते हैं तब देखते हैं कि केवल माता-पिताके सहारे बढ़ने और पलनेवाला तथा कुटुम्बके वातावरणसे पुष्ट होनेवाला बच्चा जैसे जैसे बड़ा होता जाता है और उसकी समझ जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे उसका ममत्व और आत्मीय भाव माता-पिता तथा कुटुम्बके वर्तुलसे और भी आगे विस्तृत होता जाता है। वह शुरूमें अपने छोटे गाँवको ही देश मान लेता है। फिर क्रमशः अपने राष्ट्रको देश मानता

है और किसी किसीकी समझ इतनी अधिक व्यापक होती है कि उसका ममत्व या आत्मीयभाव किसी एक राष्ट्र या जातिकी सीमामें बद्ध न रहकर समग्र मानव-जाति ही नहीं बल्कि समग्र प्राणि-वर्गतक फैल जाता है। ममत्व या आत्मीय-भावका एक नाम मोह है और दूसरा प्रेम। जितने परिमाणमें ममत्व सीमाबद्ध अधिक, उतने परिमाणमें वह मोह है और जितने परिमाणमें निस्सीम या सीमा-मुक्त है उतने परिमाणमें वह प्रेम है। धर्मका तत्त्व तो मोहमें भी है और प्रेममें भी। अन्तर इतना ही है कि मोहकी दशामें विद्यमान धर्मका बीज तो कभी कभी विकृत होकर अधर्मका रूप धारण कर लेता है जब कि प्रेमकी दशामें वह धर्मके शुद्ध स्वरूपको ही प्रकट करता है।

मनुष्य-जातिमें ऐसी विकास शक्ति है कि वह प्रेम-धर्मकी ओर प्रगति कर सकती है। उसका यह विकास-बल एक ऐसी वस्तु है जो कभी कभी विकृत होकर उसे यहाँतक उलटी दिशामें खींचता है कि वह पशुसे भी निकृष्ट मालूम होती है। यही कारण है कि मानव-जातिमें देवासुर-वृत्तिका द्वन्द्व देखा जाता है। तो भी एक बात निश्चित है कि जब कभी धर्मवृत्तिका अधिकसे अधिक या पूर्ण उदय देखा गया है या संभव हुआ है तो वह मनुष्यकी आत्मामें ही।

देश, काल, जाति, भाषा, वेश, आचार आदिकी सीमाओंमें और सीमा-ओंसे परे भी सच्चे धर्मकी वृत्ति अपना काम करती है। वही काम धर्म-बीजका पूर्ण विकास है। इसी विकासको लक्ष्यमें रखकर एक ऋषिने कहा कि 'कुर्व-न्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः' अर्थात् जीना चाहते हो तो कर्तव्य कर्म करते ही करते जियो। कर्तव्य कर्मकी संक्षेपमें व्याख्या यह है कि "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यचित् धनम्" अर्थात् तुम भोग करो पर विना त्यागके नहीं और किसीके सुख या सुखके साधनको लूटनेकी वृत्ति न रखो। सबका साराश यही है कि जो सामुदायिक वृत्ति जन्मसिद्ध है उसका बुद्धि और विवेकपूर्वक अधिकाधिक ऐसा विकास किया जाय कि वह सबके हितमें परिणत हो। यही धर्म-बीजका मानव-जातिमें सभवित विकास है।

ऊपर जो वस्तु संक्षेपमें सूचित की गई है, उसीको हम दूसरे प्रकारसे अर्थात्

तत्त्वचिन्तनके ऐतिहासिक विकास-क्रमकी दृष्टिसे भी सोच सकते हैं। यह निर्विवाद तथ्य है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओंसे लेकर बड़ेसे बड़े पशु-पक्षी जैसे प्राणियोंतकमें जो जिजीविषामूलक अमरत्वकी वृत्ति है, वह दैहिक या शारीरिक जीवन तक ही सीमित है। मनुष्येतर प्राणी सदा जीवित रहना चाहते हैं पर उनकी दृष्टि या चाह वर्तमान देहिक जीवनके आगे नहीं जाती। वे आगे या पीछेके जीवनके बारेमें कुछ सोच ही नहीं सकते। पर जहाँ मनुष्यत्वका प्रारभ हुआ वहाँसे इस वृत्तिमें सीमा-भेद हो जाता है। प्राथमिक मनुष्य-दृष्टि चाहे जैसी रही हो या अब भी हो, तो भी मनुष्य-जातिमें हजारों वर्षके पूर्व एक ऐसा समय आया जब उसने वर्तमान दैहिक जीवनसे आगे दृष्टि दौड़ाई। मनुष्य वर्तमान दैहिक अमरत्वसे संतुष्ट न रहा, उसने मरणोत्तर जिजीविषामूलक अमरत्वकी भावनाको चित्तमें स्थान दिया और उसीको सिद्ध करनेके लिए वह नाना प्रकारके उपायोंका अनुष्ठान करने लगा। इसीमेंसे बलिदान, यज्ञ, व्रत-नियम, तप, ध्यान, ईश्वर-भक्ति, तीर्थ-सेवन, दान आदि विविध धर्म-मार्गोंका निर्माण तथा विकास हुआ। यहाँ हमें समझना चाहिए कि मनुष्यकी दृष्टि वर्तमान जन्मसे आगे भी सदा जीवित रहनेकी इच्छासे किसी न किसी उपायका आश्रय लेती रही है। पर उन उपायोंमें ऐसा कोई नहीं है जो सामुदायिक वृत्ति या सामुदायिक भावनाके सिवाय पूर्ण सिद्ध हो सके। यज्ञ और दानकी तो बात ही क्या, एकांत सापेक्ष माना जानेवाला ध्यान-मार्ग भी आखिरको किसी अन्यकी मददके बिना नहीं निभ सकता या ध्यान-सिद्ध व्यक्ति किसी अन्यमें अपने एकत्र किये हुए संस्कार डाले बिना तृप्त भी नहीं हो सकता। केवल दैहिक जीवनमें दैहिक सामुदायिक वृत्ति आवश्यक है, तो मानसिक जीवनमें भी दैहिकके अलावा मानसिक सामुदायिक वृत्ति अपेक्षित है।

जब मनुष्यकी दृष्टि पारलौकिक स्वर्गीय दीर्घ-जीवनसे तृप्त न हुई और उसने एक कदम आगे सोचा कि ऐसा भी जीवन है जो विदेह अमरत्व-पूर्ण है, तो उसने इस अमरत्वकी सिद्धिके लिए भी प्रयत्न शुरू किया। पुराने उपायोंके अतिरिक्त नये उपाय भी उसने सोचे। सबका ध्येय एकमात्र अशरीर अमरत्व रहा। मनुष्य अभी तक मुख्यतया वैयक्तिक अमरत्वके बारेमें सोचता था, पर उस समय भी उसकी दृष्टि सामुदायिक वृत्तिसे मुक्त न थी। जो मुक्त होना चाहता था, या मुक्त हुआ माना जाता था, वह भी अपनी श्रेणीमे

अन्य मुक्तोंकी वृद्धिके लिए सतत प्रयत्नशील रहता था। अर्थात् मुक्त व्यक्ति भी अपने जैसे मुक्तोंका समुदाय निर्माण करनेकी वृत्तिसे मुक्त न था। इसी-लिए मुक्त व्यक्ति अपना सारा जीवन अन्योंको मुक्त बनानेकी ओर लगा देता था। यही वृत्ति सामुदायिक है और इसीमें महायानकी या सर्व-मुक्तिकी भावना निहित है। यही कारण है कि आगे जाकर मुक्तिका अर्थ यह होने लगा कि जब तक एक भी प्राणी दुःखित हो या वासनाबद्ध हो, तब तक किसी अकेलेकी मुक्तिका कोई पूरा अर्थ नहीं है। यहाँ हमें इतना ही देखना है कि वर्तमान दैहिक जिजीविषासे आगे अमरत्वकी भावनाने कितना ही प्रयाण क्यों न किया हो, पर वैयक्तिक जीवन और सामुदायिक जीवनका परस्पर संबंध कभी विच्छिन्न नहीं होता।

अब तत्त्वचिन्तनके इतिहासमें वैयक्तिक जीवन-भेदके स्थानमें या उसके साथ साथ अखण्ड जीवनकी या अखण्ड ब्रह्मकी भावना स्थान पाती है। ऐसा माना जाने लगा कि वैयक्तिक जीवन भिन्न भिन्न भले ही दिखाई दे, तो भी वास्तवमें कीट-पतंगसे मनुष्य तक सब जीवनधारियोंमें और निर्जीव मानी-जानेवाली सृष्टिमें भी एक ही जीवन व्यक्त-अव्यक्त रूपसे विद्यमान है, जो केवल ब्रह्म कहलाता है। इस दृष्टिमें तो वास्तवमें कोई एक व्यक्ति इतर व्यक्तियोंसे भिन्न है ही नहीं। इसलिए इसमें वैयक्तिक अमरत्व सामुदायिक अमरत्वमें घुल मिल जाता है। साराश यह है कि हम वैयक्तिक जीवन-भेदकी दृष्टिसे या अखण्ड ब्रह्म-जीवनकी दृष्टिसे विचार करें या व्यवहारमें देखें, तो एक ही बात नजरमें आती है कि वैयक्तिक जीवनमें सामुदायिक वृत्ति अनि-वार्यरूपसे निहित है और उसी वृत्तिका विकास मनुष्य-जातिमें अधिकसे अधिक संभवित है और तदनुसार ही उसके धर्ममार्गोंका विकास होता रहता है।

उन्हीं सब मार्गोंको सक्षेपमें प्रतिपादन करनेवाला वह ऋषिप्रवचन है जो पहले निर्दिष्ट किया गया है कि कर्तव्य कर्म करते ही करते जीओ और अपनेमेंसे त्याग करो, दूसरेका हरण न करो। यह कथन सामुदायिक जीवन-शुद्धिका या धर्मके पूर्ण विकासका सूचक है जो मनुष्य-जातिमें ही विवेक और प्रयत्नसे कभी न कभी संभवित है।

हमने मानव-जातिमें दो प्रकारसे धर्म-बीजका विकास देखा। पहले प्रकारमें धर्म-बीजके विकासके आधाररूपसे मानव जातिका विकसित जीवन या विकसित चैतन्यस्पन्दन विवक्षित है और दूसरे प्रकारमें देहात्मभावनासे आगे बढ़कर पुनर्जन्मसे भी मुक्त होनेकी भावना विवक्षित है। चाहे जिस प्रकारसे विचार किया जाय, विकासका पूर्ण मर्म ऊपर कहे हुए ऋषिवचनमें ही है, जो वैयक्तिक और सामाजिक श्रेयकी योग्य दिशा बतलाता है।

प्रस्तुत पुस्तकमें धर्म और समाजविषयक जो जो लेख, व्याख्यान आदि संग्रह किये गये हैं, उनके पीछे मेरी धर्मविषयक दृष्टि वही रही है जो उक्त ऋषिवचनके द्वारा प्रकट होती है। तो भी इसके कुछ लेख, ऐसे मालूम पड़ सकते हैं कि एक वर्ग विशेषको लक्ष्यमें रखकर ही लिखे गये हों। बात यह है कि जिस समय जैसा वाचक-वर्ग लक्ष्यमें रहा, उस समय उसी वर्गके अधिकारकी दृष्टिसे विचार प्रकट किये गये हैं। यही कारण है कि कई लेखोंमें जैनपरपराका सम्बन्ध विशेष दिखाई देता है और कई विचारोंमें दार्शनिक शब्दोंका उपयोग भी किया गया है। परन्तु मैंने यहाँ जो अपनी धर्मविषयक दृष्टि प्रकट की है यदि उसीके प्रकाशमें इन लेखोंको पढ़ा जायगा तो पाठक यह अच्छी तरह समझ जायँगे कि धर्म और समाजके पारस्परिक सम्बन्धके बारेमें मै क्या सोचता हूँ। यों तो एक ही वस्तु देश-कालके भेदसे नाना प्रकारसे कही जाती है।

सरित्कुंज,
अहमदाबाद

—सुखलाल

पुस्तकमालाका परिचय

इस मालाकी यह छठी पुस्तक है। सन् १९४२ में मेरे एक मात्र पुत्र हेमचन्द्रका तरुण अवस्थामें अचानक देहान्त हो गया। उसकी प्रवृत्ति स्वतंत्र विचार-प्रधान और चिकित्सा-प्रधान थी। विविध विषयोंके अध्ययनका और उनपर लिखनेका शौक भी उसे था। इसलिए इस मालाका स्वरूप भी वैसा ही पसन्द किया गया।

यह निश्चय किया गया है कि इस मालाकी पुस्तकें लागत मूल्यपर, कुछ घाटा उठाकर भी, बेची जायँ। बिक्रीसे वसूल होती रहनेवाली रकममेंसे नई नई पुस्तकें प्रकाशित होती रहें और उनके द्वारा हिन्दी पाठकोंमें युगके अनुरूप स्वतंत्र विचारोंका प्रचार किया जाय।

—नाथूराम प्रेमी

लेख-सूची

		पृ० सं०
	अभिनन्दन	१
	सम्पादकीय	५
	धर्मका बीज और उसका विकास	७
१	धर्म और संस्कृति	१
२	धर्म और बुद्धि	५
३	नीति, धर्म और समाज	११
४	सम्प्रदाय और सत्य	२०
५	धर्म और पंथ	२६
६	धर्म और उसके ध्येयकी परीक्षा	३२
७	आस्तिक और नास्तिक	५१
८	शस्त्र और शास्त्र	६२
९	सम्प्रदाय और कांग्रेस	६८
१०	विकासका मुख्य साधन	८२
११	जीवन-दृष्टिमें मौलिक परिवर्तन	९१
१२	शास्त्र-मर्यादा	९५
१३	वर्तमान साधु और नवीन मानस	१११
१४	स्वतन्त्रताका अर्थ	१२३
१५	त्यागी संस्था	१२८
१६	युवकोंसे	१४३

१७	हरिजन और जैन	१५३
१८	विचार-कणिका	१६४
१९	समाजको बदलो	१७२
२०	धर्मोंका मिलन	१८०
२१	धर्म कहाँ है ?	१८९
२२	मगल प्रवचन	१९३
२३	धार्मिक शिक्षाका प्रश्न	१९९
२४	विद्याकी चार भूमिकायें	२०४

धर्म और समाज
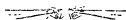
धर्म और संस्कृति

धर्मका सच्चा अर्थ है आध्यात्मिक उत्कर्ष, जिसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखताको छोड़कर—वासनाओंके पाशसे हटकर—शुद्ध चिद्रूप या आत्म-स्वरूपकी ओर अग्रसर होता है। यही है यथार्थ धर्म। अगर ऐसा धर्म सचमुच जीवनमें प्रकट हो रहा हो, तो उसके बाह्य साधन भी—चाहे वे एक या दूसरे रूपमें अनेक प्रकारके क्यों न हों—धर्म कहे जा सकते हैं। पर यदि वासनाओंके पाशसे मुक्ति न हो या मुक्तिका प्रयत्न भी न हो, तो बाह्य साधन कैसे भी क्यों न हों, वे धर्म-कोटिमें कभी आ नहीं सकते। बल्कि वे सभी साधन अधर्म ही बन जाते हैं। सारांश यह कि धर्मका मुख्य मतलब सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह-जैसे आध्यात्मिक सद्गुणोंसे है। सच्चे अर्थमें धर्म कोई बाह्य वस्तु नहीं है। तो भी वह बाह्य जीवन और व्यवहारके द्वारा ही प्रकट होता है। धर्मको यदि आत्मा कहें, तो बाह्य जीवन और सामाजिक सब व्यवहारोंको देह कहना चाहिए।

धर्म और संस्कृतिमें वास्तविक रूपमें कोई अन्तर होना नहीं चाहिए। जो व्यक्ति या जो समाज संस्कृत माना जाता हो, वह यदि धर्म-पराङ्मुख है, तो फिर जंगलीपनसे संस्कृतिमें विशेषता क्या? इस तरह वास्तवमें मानव-संस्कृतिका अर्थ तो धार्मिक या न्याय-सम्पन्न जीवन-व्यवहार ही है। परन्तु सामान्य

जगत्‌में संस्कृतिका यह अर्थ नहीं लिया जाता। लोग संस्कृतिसे मानवकृत विविध कलाएँ, विविध आविष्कार और विविध विद्याएँ ग्रहण करते हैं। पर ये कलाएँ, ये आविष्कार, ये विद्याएँ हमेशा मानव-कल्याणकी दृष्टि या वृत्तिसे ही प्रकट होती हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। हम इतिहाससे जानते हैं कि अनेक कलाओं, अनेक आविष्कारों और अनेक विद्याओंके पीछे हमेशा मानव-कल्याणका कोई शुद्ध उद्देश्य नहीं होता है। फिर भी ये चीजें समाजमें आती हैं और समाज भी इनका स्वागत पूरे हृदयसे करता है। इस तरह हम देखते हैं और व्यवहारमें पाते हैं कि जो वस्तु मानवीय बुद्धि और एकाग्र प्रयत्नके द्वारा निर्मित होती है और मानव-समाजको पुराने स्तरसे नये स्तरपर लाती है, वह संस्कृतिकी कोटिमें आती है। इसके साथ शुद्ध धर्मका कोई अनिवार्य सम्बन्ध हो, ऐसा नियम नहीं है। यही कारण है कि संस्कृत कही और मानी जानेवाली जातियाँ भी अनेकधा धर्म-पराङ्मुख पाई जाती हैं। उदाहरणके लिए बुद्धका मूर्तिनिर्माण, मन्दिरोंको तोड़कर मस्जिद बनाना और मस्जिदोंको तोड़कर मन्दिर-निर्माण, छीना-झपटी आदि सब धर्म अथवा धर्मोद्धारके नामपर होता है। ये संस्कृत जातियोंके लक्षण तो कदापि नहीं हैं।

सामान्य समझके लोग धर्म और संस्कृतिमें अभेद कर डालते हैं। कोई संस्कृतिकी चीज सामने आई, जिसपर कि लोग मुग्ध हों, तो बहुधा उसे धर्म कहकर बखाना जाता है और बहुतसे भोले-भाले लोग ऐसी सांस्कृतिक वस्तुओंको ही धर्म मानकर उनसे सन्तुष्ट हो जाते हैं। उनका ध्यान सामाजिक न्यायोचित व्यवहारकी ओर जाता ही नहीं। फिर भी वे संस्कृतिके नामपर नाचते रहते हैं। इस तरह यदि हम औरोंका विचार छोड़कर केवल अपने भारतीय समाजका ही विचार करें, तो कहा जा सकता है कि हमने संस्कृतिके नामपर अपना वास्तविक सामर्थ्य बहुत-कुछ गँवाया है। जो समाज हज़ारों वर्षोंसे अपनेको संस्कृत मानता आया है और अपनेको अन्य समाजोंसे संस्कृततर समझता है, वह समाज यदि नैतिक बलमें, चरित्र-बलमें, शारीरिक बलमें और सहयोगकी भावनामें पिछड़ा हुआ हो, खुद आपस-आपसमें छिन्न-भिन्न हो, तो वह समाज वास्तवमें संस्कृत है या असंस्कृत, यह विचार करना आवश्यक है। संस्कृति भी उन्नतर हो और निर्बलताकी भी पराकाष्ठा हो, यह

परस्पर विरोधी बात है। इस दृष्टिसे भारतीय समाज संस्कृत है, एकान्ततः ऐसा मानना बड़ी भारी गलती होगी।

जैसे सच्चे मानीमें हम आज संस्कृत नहीं हैं, वैसे ही सच्चे मानीमें हम धार्मिक भी नहीं हैं। कोई भी पूछ सकता है कि तब क्या इतिहासकार और विद्वान् जब भारतको संस्कृति तथा धर्मका धाम कहते हैं, तब क्या वे झूठ कहते हैं? इसका उत्तर 'हाँ' और 'ना' दोनोंमें है। अगर हम इतिहासकारों और विद्वानोंके कथनका यह अर्थ समझें कि सारा भारतीय समाज या सभी भारतीय जातियाँ और परम्पराएँ संस्कृत एवं धार्मिक ही हैं तो उनका कथन अवश्य सत्यसे पराङ्मुख होगा। यदि हम उनके कथनका अर्थ इतना ही समझें कि हमारे देशमें खास-खास ऋषि या साधक संस्कृत एवं धार्मिक हुए हैं तथा वर्त्तमानमें भी हैं, तो उनका कथन असत्य नहीं।

उपर्युक्त चर्चासे हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि हमारे निकटके या दूरवर्त्ती पूर्वजोंके संस्कृत एवं धार्मिक जीवनसे हम अपनेको संस्कृत एवं धार्मिक मान लेते हैं और वस्तुतः वैसे हैं नहीं, तो यह सचमुच ही अपनेको और दूसरोंको धोखा देना है। मैं अपने अल्प-स्वल्प इतिहासके अध्ययन और वर्त्तमान स्थितिके निरीक्षण द्वारा इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि अपनेको आर्य कहनेवाला भारतीय समाज वास्तवमें संस्कृति एवं धर्मसे कोसों दूर है।

जिस देशमें करोड़ों ब्राह्मण हों, जिनका एकमात्र जीवन-व्रत पढ़ना-पढ़ाना या शिक्षा देना कहा जाता है, उस देशमें इतनी निरक्षरता कैसे? जिस देशमें लाखोंकी संख्यामें भिक्षु, संन्यासी, साधु और श्रमण हों जिनका कि एकमात्र उद्देश्य अकिंचन रहकर सब प्रकारकी मानव-सेवा करना कहा जाता है, उस देशमें समाजकी इतनी निराधारता कैसे?

हमने १९४३ के बंगाल-दुर्भिक्षके समय देखा कि जहाँ एक ओर सड़कोंपर अस्थि-कंकाल बिछे पड़े थे, वहाँ दूसरी ओर अनेक स्थानोंमें यज्ञ एवं प्रतिष्ठाके उत्सव देखे जाते थे, जिनमें लाखोंका व्यय घृत, हवि और दान-दक्षिणामें होता था—मानो अब मानव-समाज खान-पान, वस्त्र-निवास आदिसे पूर्ण सुखी हो और बची हुई जीवन-सामग्री इस लोकमें जरूरी न होनेसे ही परलोकके लिए खर्च की जाती हो!

पिछले एक वर्षसे तो हम अपनी संस्कृति और धर्मका और भी सच्चा रूप देख रहे हैं। लाखों शरणार्थियोंको निःसीम कष्ट होते हुए भी हमारी संग्रह तथा परिग्रह-वृत्ति तनिक भी कम नहीं हुई है। ऐसा कोई विरला ही व्यापारी मिलेगा, जो धर्मका ढोंग किये बिना चोर-बाज़ार न करता हो और जो घूसको एकमात्र संस्कृति एवं धर्मके रूपमें अपनाए हुए न हो। जहाँ लगभग समूची जनता दिलसे सामाजिक नियमों और सरकारी कानूनका पालन न करती हो, वहाँ अगर संस्कृति एवं धर्म माना जाय, तो फिर कहना होगा कि ऐसी संस्कृति और ऐसा धर्म तो चोर-डाकुओंमें भी संभव है।

हम हज़ारों वर्षोंसे देखते आ रहे हैं और इस समय तो हमने बहुत बड़े पैमानेपर देखा है कि हमारे जानते हुए ही हमारी माताएँ, बहनें और पुत्रियाँ अपहृत हुई। यह भी हम जानते हैं कि हम पुरुषोंके अबलत्वके कारण ही हमारी स्त्रियाँ विशेष अबला एवं अनाथ बनकर अपहृत हुई, जिनका रक्षण एवं स्वामित्व करनेका हमारा स्मृतिसिद्ध कर्त्तव्य माना जाना जाता है। फिर भी हम इतने अधिक संस्कृत, इतने अधिक धार्मिक और इतने अधिक उन्नत हैं कि हमारी अपनी निर्बलताके कारण अपहृत हुई स्त्रियाँ यदि फिर हमारे समाजमें आना चाहें, तो हममेंसे बहुतसे उच्चनाभिमानी पंडित, ब्राह्मण और उन्हींकी-सी मनोवृत्तिवाले कह देते हैं कि अब उनका स्थान हमारे यहाँ कैसे? अगर कोई साहसिक व्यक्ति अपहृत स्त्रीको अपना लेता है, तो उस स्त्रीकी दुर्दशा या अवगणना करनेमें हमारी बहनें ही अधिक रस लेती हैं।

इस प्रकार हम जिस किसी जीवन-क्षेत्रको लेकर विचार करते हैं, तो यही मालूम होता है कि हम भारतीय जितने प्रमाणमें संस्कृति तथा धर्मकी बातें करते हैं, हमारा समूचा जीवन उतने ही प्रमाणमें संस्कृति एवं धर्मसे दूर है। हाँ, इतना अवश्य है कि संस्कृतिके बाह्य रूप और धर्मकी बाहरी स्थूल लीकें हममें इतनी अधिक हैं कि शायद ही कोई दूसरा देश हमारे मुकाबलेमें खड़ा रह सके। केवल अपने विरल पुरुषोंके नामपर जीना और बड़ाईकी डींगें हाँकना तो असंस्कृति और धर्म-पराङ्मुखताका ही लक्षण है।

[नया समाज, जुलाई १९४८]

धर्म और बुद्धि

आज तक किसी भी विचारकने यह नहीं कहा कि धर्मका उत्पाद और विकास बुद्धिके सिवाय और भी किसी तत्त्वसे हो सकता है। प्रत्येक धर्म-संप्रदायका इतिहास यही कहता है कि अमुक बुद्धिमान् पुरुषके द्वारा ही उस धर्मकी उत्पत्ति या शुद्धि हुई है। हरेक धर्म-संप्रदायके पोषक धर्मगुरु और विद्वान् इसी एक बातका स्थापन करनेमें गौरव समझते हैं कि उनका धर्म बुद्धि, तर्क, विचार और अनुभव-सिद्ध है। इस तरह धर्मके इतिहास और उसके संचालनके व्यावहारिक जीवनको देखकर हम केवल एक ही नतीजा निकाल सकते हैं कि बुद्धितत्त्व ही धर्मका उत्पादक, उसका संशोधक, पोषक और प्रचारक रहा है और रह सकता है।

ऐसा होते हुए भी हम धर्मोंके इतिहासमें बराबर धर्म और बुद्धितत्त्वका विरोध और पारस्पारिक संघर्ष देखते हैं। केवल यहाँके आर्य धर्मकी शाखाओंमें ही नहीं बल्कि यूरोप आदि अन्य देशोंके ईसाई, इस्लाम आदि अन्य धर्मोंमें भी हम भूतकालीन इतिहास तथा वर्तमान घटनाओंमें देखते हैं कि जहाँ बुद्धि तत्त्वने अपना काम शुरू किया कि धर्मके विषयमें अनेक शंका-प्रतिशंका और तर्क-वितर्कपूर्ण प्रश्नावली उत्पन्न हो जाती है। और बड़े आश्चर्यकी बात है कि धर्मगुरु और धर्माचार्य जहाँ तक हो सकता है उस प्रश्नावलीका, उस तर्कपूर्ण विचारणाका आदर करनेके बजाय विरोध ही नहीं, सख्त विरोध करते हैं। उनके ऐसे विरोधी और संकुचित व्यवहारसे तो यह जाहिर होता है कि अगर तर्क, शंका या विचारको जगह दी जायगी, तो धर्मका अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा अथवा वह विकृत होकर ही रहेगा। इस तरह जब हम चारों तरफ धर्म और विचारणाके बीच विरोध-सा देखते हैं तब हमारे मनमें यह प्रश्न होना

स्वाभाविक है कि क्या धर्म और बुद्धिमें विरोध है ? इसके उत्तरमें संक्षेपमें इतना तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि उनके बीच कोई विरोध नहीं है और न हो सकता है। यदि सचमुच ही किसी धर्ममें इनका विरोध माना जाय तो हम यही कहेंगे कि उस बुद्धि-विरोधी धर्मसे हमें कोई मतलब नहीं। ऐसे धर्मको अंगीकार करनेकी अपेक्षा उसको अंगीकार न करनेमें ही जीवन सुखी और विकसित रह सकता है।

धर्मके दो रूप हैं, एक तो जीवन-शुद्धि और दूसरा बाह्य व्यवहार। क्षमा, नम्रता, सत्य, संतोष आदि जीवनगत गुण पहिले रूपमें आते हैं और स्नान, तिलक, मूर्तिपूजन, यात्रा, गुरुसत्कार, देहदमनादि बाह्य व्यवहार दूसरे रूपमें। सात्त्विक धर्मका इच्छुक मनुष्य जब अहिंसाका महत्त्व गाता हुआ भी पूर्व-संस्कारवश कभी कभी उसी धर्मकी रक्षाके लिए हिंसा, पारम्परिक पक्षपात तथा विरोधीपर प्रहार करना भी आवश्यक बतलाता है सत्यका हिमायती भी ऐन मौकेपर जब सत्यकी रक्षाके लिए असत्यकी शरण लेता है, सबको 'सन्तुष्ट' रहनेका उपदेश देनेवाला भी जब धर्म-समर्थनके लिए परिग्रहकी आवश्यकता बतलाता है, तब बुद्धिमानोंके दिलमें प्रश्न होता है कि अधर्मस्वरूप समझे जानेवाले हिंसा आदि दोषोंसे जीवन-शुद्धि-रूप धर्मकी रक्षा या पुष्टि कैसे हो सकती है ? फिर वही बुद्धिशाली वर्ग अपनी शंकाको उन विपरीतगामी गुरुओं या पंडितोंके सामने रखता है। इसी तरह जब बुद्धिमान् वर्ग देखता है कि जीवन-शुद्धिका विचार किये बिना ही धर्मगुरु और पंडित बाह्य क्रियाकाण्डोंको ही धर्म कहकर उनके ऊपर ऐकान्तिक भार दे रहे हैं और उन क्रियाकाण्डों एवं नियत भाषा तथा वेशके बिना धर्मका चला जाना, नष्ट हो जाना, बतलाते हैं तब वह अपनी शंका उन धर्म-गुरुओं पंडितों आदिके सामने रखता है कि वे लोग जिन अस्थायी और परस्पर असंगत बाह्य व्यवहारोंपर धर्मके नामसे पूरा भार देते हैं उनका सच्चे धर्मसे क्या और कहाँतक सम्बन्ध है ? प्रायः देखा जाता है कि जीवन-शुद्धि न होनेपर, बल्कि अशुद्ध जीवन होनेपर भी, ऐसे बाह्य-व्यवहार, अज्ञान, वहम, स्वार्थ एवं भोलेपनके कारण मनुष्यको धर्मात्मा समझ लिया जाता है। ऐसे ही बाह्य-व्यवहारोंके कम होते हुए या दूसरे प्रकारके बाह्य व्यवहार होनेपर भी सात्त्विक धर्मका होना सम्भव हो सकता है। ऐसे प्रश्नोंके सुनने ही उन धर्म गुरुओं और धर्म-पंडितोंके मनमें

एक तरहकी भीति पैदा हो जाती है। वे समझने लगते हैं कि ये प्रश्न करनेवाले वास्तवमें तात्त्विक धर्मवाले तो हैं नहीं, केवल निरी तर्कशक्तिसे हम लोगोंके द्वारा धर्मरूपमें मनाये जानेवाले व्यवहारोंको अधर्म बतलाते हैं। ऐसी दशामें धर्मका व्यावहारिक बाह्यरूप भी कैसे टिक सकेगा? इन धर्म-गुरुओंकी दृष्टिमें ये लोग अवश्य ही धर्मद्रोही या धर्म-विरोधी हैं। क्यों कि वे ऐसी स्थितिके प्रेरक हैं जिसमें न तो जीवन-शुद्धिरूपी असली धर्म ही रहेगा और न झूठा सच्चा व्यावहारिक धर्म ही। धर्मगुरुओं और धर्म-पंडितोंके उक्त भय और तज्जन्य उलटी विचारणामेंसे एक प्रकारका द्वन्द्व शुरू होता है। वे सदा स्थायी जीवन-शुद्धिरूप तात्त्विक धर्मको पूरे विश्लेषणके साथ समझानेके बदले बाह्य-व्यवहारोंको त्रिकालाबाधित कहकर उनके ऊपर यहाँ तक जोर देते हैं कि जिससे बुद्धिमान् वर्ग उनकी दलीलोंसे ऊबकर, असन्तुष्ट होकर यही कह बैठता है कि गुरु और पंडितोंका धर्म सिर्फ ढकोसला है—धोखेकी टट्टी है। इस तरह धर्मोपदेशक और तर्कवादी बुद्धिमान् वर्गके बीच प्रतिक्षण अन्तर और विरोध बढ़ता ही जाता है। उस दशामें धर्मका आधार विवेकशून्य श्रद्धा, अज्ञान या वहम ही रह जाता है और बुद्धि एवं तज्जन्य गुणोंके साथ धर्मका एक प्रकारसे विरोध दिखाई देता है।

यूरोपका इतिहास बताता है कि विज्ञानका जन्म होते ही उसका सबसे पहला प्रतिरोध ईसाई धर्मकी ओरसे हुआ। अन्तमें इस प्रतिरोधसे धर्मका ही सर्वथा नाश देखकर उसके उपदेशकोंने विज्ञानके मार्गमें प्रतिपक्षी भावसे आना ही छोड़ दिया। उन्होंने अपना क्षेत्र ऐसा बना लिया कि वे वैज्ञानिकोंके मार्गमें बिना बाधा डाले ही कुछ धर्मकार्य कर सकें। उधर वैज्ञानिकोंका भी क्षेत्र ऐसा निष्कण्टक हो गया कि जिससे वे विज्ञानका विकास और सम्वर्धन निर्बाध रूपसे करते रहें। इसका एक सुन्दर और महत्त्वका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक और अन्तमें राजकीय क्षेत्रसे भी धर्मका डेरा उठ गया और फलतः वहाँकी सामाजिक और राजकीय संस्थायें अपने ही गुण-दोषोंपर बनने बिगड़ने लगीं।

इस्लाम और हिन्दू धर्मकी सभी शाखाओंकी दशा इसके विपरीत है। इस्लामी दीन और धर्मोंकी अपेक्षा बुद्धि और तर्कवादसे अधिक घबड़ाता है।

शायद इसीलिए वह धर्म अभीतक किसी अन्यतम महात्माको पैदा नहीं कर सका और स्वयं स्वतन्त्रताके लिए उत्पन्न होकर भी उसने अपने अनुयायियोंको अनेक सामाजिक तथा राजकीय बन्धनोंसे जकड़ दिया। हिन्दू धर्मकी शाखाओंका भी यही हाल है। वैदिक हो, बौद्ध हो या जैन, सभी धर्म स्वतन्त्रताका दावा तो बहुत करते हैं, फिर भी उनके अनुयायी जीवनके हरेक क्षेत्रमें अधिकसे अधिक गुलाम हैं। यह स्थिति अब विचारकोंके दिलमें खटकने लगी है। वे सोचते हैं कि जब तक बुद्धि, विचार और तर्कके साथ धर्मका विरोध समझा जायगा तब तक उस धर्मसे किसीका भला नहीं हो सकता। यही विचार आजकलके युवकोंकी मानसिक क्रान्तिका एक प्रधान लक्षण है।

राजनीति, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, तर्कशास्त्र, इतिहास और विज्ञान आदिका अभ्यास तथा चिन्तन इतना अधिक होने लगा है कि उसमें युवकोंके विचारोंमें स्वतन्त्रता तथा उनके प्रकाशनमें निर्भयता दिखाई देने लगी है। इधर धर्मगुरु और धर्मपंडितोंका उन नवीन विद्याओंसे परिचय नहीं होता, इस कारण वे अपने पुराने, वहमी, संकुचित और भीरु खयालोंमें ही विचरते रहते हैं। ज्यों ही युवकवर्ग अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने लगता है त्यों ही धर्मजीवी महात्मा घबड़ाने और कहने लगते हैं कि विद्या और विचारने ही तो धर्मका नाश शुरू किया है। जैनसमाजकी ऐसी ही एक ताजी घटना है। अहमदाबादमें एक ग्रेज्युएट वकीलने जो मध्यश्रेणीके निर्भय विचारक हैं, धर्मके व्यावहारिक स्वरूपपर कुछ विचार प्रकट किये कि चारों ओरसे विचारके कब्रस्तानोंसे धर्म-गुरुओंकी आत्मायें जाग पड़ीं। हलचल होने लग गई कि ऐसा विचार प्रकट क्यों किया गया और उस विचारकको जैनधर्मोचित सजा क्या और कितनी दी जाय? सजा ऐसी हो कि हिंसात्मक भी न समझी जाय और हिंसात्मक सजासे अधिक कठोर भी सिद्ध हो, जिससे आगे कोई स्वतन्त्र और निर्भय भावसे धार्मिक विषयोंकी समीक्षा न करे। हम जब जैनसमाजकी ऐसी ही पुरानी घटनाओं तथा आधुनिक घटनाओंपर विचार करते हैं तब हमें एक ही बात मालूम होती है और वह यह कि लोगोंके खयालमें धर्म और विचारका विरोध ही जँच गया है। इस जगह हमें थोड़ी गहराईसे विचार-विश्लेषण करना होगा।

हम उन धर्मधुरंधरोंसे पूछना चाहते हैं कि क्या वे लोग तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके स्वरूपको अभिन्न या एक ही समझते हैं ? और क्या व्यावहारिक स्वरूप या बंधारणको वे अपरिवर्तनीय साबित कर सकते हैं ? व्यावहारिक धर्मका बंधारण और स्वरूप अगर बदलता रहता है और बदलना चाहिए तो इस परिवर्तनके विषयमें विशेष यदि कोई अभ्यासी और चिन्तनशील विचारक केवल अपना विचार प्रदर्शित करे, तो इसमें उनका क्या बिगड़ता है ?

सत्य, अहिंसा, संतोष आदि तात्त्विक धर्मका तो कोई विचारक अनादर करता ही नहीं बल्कि वह तो उस तात्त्विक धर्मकी पुष्टि, विकास एवं उपयोगिताका स्वयं कायल होता है। वे जो कुछ आलोचना करते हैं, जो कुछ हेर-फेर या तोड़-फोड़की आवश्यकता बताते हैं वह तो धर्मके व्यावहारिक स्वरूपके सम्बन्धमें है और उसका उद्देश्य धर्मकी विशेष उपयोगिता एवं प्रतिष्ठा बढ़ाना है। ऐसी स्थितिमें उनपर धर्म-विनाशका आरोप लगाना या उनका विरोध करना केवल यही साबित करता है कि या तो धर्मधुरन्धर धर्मके वास्तविक स्वरूप और इतिहासको नहीं समझते या समझते हुए भी ऐसा पामर प्रयत्न करनेमें उनकी कोई परिस्थिति कारणभूत है।

आम तौरसे अनुयायी गृहस्थ वर्ग ही नहीं बल्कि साधु वर्गका बहुत बड़ा भाग भी किसी वस्तुका समुचित विश्लेषण करने और उसपर समतौलपन रखनेमें नितान्त असमर्थ है। इस स्थितिका फायदा उठा कर संकुचितमना साधु और उनके अनुयायी गृहस्थ भी, एक स्वरसे कहने लगते हैं कि ऐसा कहकर अमुकने धर्मनाश कर दिया। बेचारे भोलेभाले लोग इस बातसे अज्ञानके और भी गहरे गड्ढेमें जा गिरते हैं। वास्तवमें चाहिए तो यह कि कोई विचारक नये दृष्टि-बिन्दुसे किसी विषयपर विचार प्रगट करें तो उनका सच्चे दिलसे आदर करके विचार-स्वातन्त्र्यको प्रोत्साहन दिया जाय। इसके बदलेमें उनका गला घोंटनेका जो प्रयत्न चारों ओर देखा जाता है उसके मूलमें मुझे दो तत्त्व मालूम होते हैं। एक तो उग्र विचारोंको समझ कर उनकी गलती दिखानेका असामर्थ्य और दूसरा अकर्मण्यताकी भित्तिके ऊपर अनायास मिलनेवाली आराम-तलबीके विनाशका भय।

यदि किसी विचारकके विचारोंमें आंशिक या सर्वथा गल्ती हो तो क्या उसे

साधुगण समझ नहीं पाते ? अगर वे समझ सकते हैं तो क्या उस गल्तीको वे चौगुने बलसे दलीलोंके साथ दर्शानेमें असमर्थ हैं ? अगर वे समर्थ हैं तो उचित उत्तर देकर उस विचारका प्रभाव लोगोंमेंसे नष्ट करनेका न्याय्य मार्ग क्यों नहीं लेते ? धर्मकी रक्षाके बहाने वे अज्ञान और अधर्मके संस्कार अपनेमें और समाजमें क्यों पुष्ट करते हैं ? मुझे तो सच बात यही जान पड़ती है कि चिरकालसे शारीरिक और दूसरा जवाबदेही पूर्ण परिश्रम किये बिना ही मखमली और रेशमी गद्दियोंपर बैठकर दूसरोंके पसीनेपूर्ण परिश्रमका पूरा फल बड़ी भक्तिके साथ चखनेकी जो आदत पड़ गई है, वही इन धर्मधुरधरोंसे ऐसी उपहासास्पद प्रवृत्ति कराती है। ऐसा न होता तो प्रमोद-भावना और ज्ञान-पूजाकी हिमायत करनेवाले ये धर्मधुरन्धर विद्या, विज्ञान और विचार-स्वातन्त्र्यका आदर करते और विचारक युवकोंसे बड़ी उदारतासे मिलकर उनके विचारगत दोषोंको दिखाते और और उनकी योग्यताकी कद्र करके ऐसे युवकोंको उत्पन्न करनेवाले अपने जैनसमाजका गौरव करते। खैर, जो कुछ हो पर अब दोनों पक्षोंमे प्रतिक्रिया शुरू हो गई है। जहाँ एक पक्ष ज्ञात या अज्ञात रूपसे यह स्थापित करता है कि धर्म और विचारमें विरोध है, तो दूसरे पक्षको भी यह अवसर मिल रहा है कि वह प्रमाणित करे कि विचार-स्वातन्त्र्य आवश्यक है। यह पूर्ण रूपसे समझ रखना चाहिए कि विचार-स्वातन्त्र्यके बिना मनुष्यका अस्तित्व ही अर्थशून्य है। वास्तवमें विचार तथा धर्मका विरोध नहीं, पर उनका पारस्परिक अनिवार्य सम्बन्ध है।

[ओसवाल नवयुवक, अगस्त १९३६]

नीति, धर्म और समाज

चींटीके प्रति सूक्ष्मतासे ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि वह अकेली नहीं रह सकती। वह किसीके साहचर्यकी तलाश करती है। पर उसे चींटेका तो क्या विजातीय चींटीका भी सहचार अनुकूल नहीं जँचता। वह सजातीयके सहचारमें ही मस्त रहती है। ऐसे क्षुद्र जन्तुको छोड़कर अब दूसरे बड़े जन्तु पक्षीकी ओर ध्यान दीजिए। मुर्गेसे वियुक्त मुर्गी मयूरके सहचारसे संतुष्ट नहीं होती। उसे भी स्वजातीयका ही साहचर्य चाहिए। एक बन्दर और एक हरिण ये दोनों स्वजातीय प्राणीके साथ रहकर जितनी प्रसन्नताका अनुभव करेंगे या अपने जीवनको दीर्घायु बना सकेंगे, उतनी मात्रामें चाहे जितनी सुखसामग्री मिलने पर भी विजातीयके सहचारमें प्रसन्न नहीं रह सकेंगे। मनुष्य जातिने जिस कुत्तेको अपनाकर अपना वफादार सेवक और सहचारी बनाया है, वह भी दूसरे कुत्तेके अभावमें असन्तुष्ट ही रहेगा। यही कारण है कि वह दूसरे कुत्तेके प्रति ईर्षा रखनेपर भी और दूसरेको देख कर प्रारंभमें उससे लड़कर भी अन्तमें उसके साथ एकरस होकर खिलवाड़ करने लग जाता है। सूक्ष्म जंतु, पक्षी और पशु जातिके इस नियमको हम मनुष्य जातिमें भी देखते हैं।

पक्षी या पशुको पालतू बनाकर मनुष्य जंगलमें अकेला रहनेका कितना भी अभ्यास क्यों न करे पर अन्तमें उसकी प्रकृति मनुष्य जातिके ही साह-चर्यकी तलाश करती है। समान रहन-सहन, समान आदतें, समान भाषा और शरीरकी समान रचनाके कारण सजातीय साहचर्यकी तलाशकी वृत्ति हम जीवमात्रमें देखते हैं। फिर भी मनुष्यके सिवाय किसी भी जीववर्ग या देहधारी-वर्गको हम समाजका नाम नहीं देते। वह वर्ग समुदाय या गण भले ही कहा जाय किन्तु समाज होनेकी पात्रता तो मनुष्य जातिमें ही है। और

उसका कारण यह है कि मनुष्यमें ऐसी बुद्धि-शक्ति और विवेक-शक्तिका बीज है कि वह अपना रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा, खान-पान और अन्य संस्कारोंका परिवर्तन कर सकता है, अभ्यास कर सकता है। मनुष्य जब चाहे तब प्रयत्नसे दूसरी भाषा सीख सकता है और अन्य-भाषाभाषी लोगोंके साथ सरलतासे घुल-मिल जाता है। वेश-भूषा और खान पान बदल कर या बिना बदले उदारताका अभ्यास करके भिन्न प्रकारके वेश-भूषा और खान-पानवाले मनुष्योंके साथ बस कर सरलतासे जिंदगी बिता सकता है। दूसरोंका जो अच्छा हो उसे लेनेमें और अपना जो अच्छा हो उसे दूसरोंको देनेमें सिर्फ मनुष्य प्राणी ही गौरवका अनुभव करता है। भिन्न देश, भिन्न रंग और भिन्न संस्कारवाली मानव-प्रजाके साथ केवल मनुष्य ही एकता सिद्ध करके उसे विकसित कर सकता है। इसी शक्तिके कारण मनुष्यका वर्ग समाज नामके योग्य हुआ है।

मनुष्य जहाँ कहीं होगा किसी न किसी समाजका अंग होकर रहेगा। वह जिस समाजका अंग होगा उस समाजके ऊपर उसके अच्छे बुरे संस्कारका असर होगा ही। यदि एक मनुष्य बीड़ी पीता होगा तो वह अपने आसपासके लोगोंमें बीड़ीकी तलप (तड़प) जागरित करके उस व्यसनका वातावरण खड़ा करेगा। अफीम खानेवाला चीनी अपने समाजमें उसीकी रुचि बढ़ावेगा। यदि कोई वस्तुतः शिक्षित होगा तो वह अपने समाजमें शिक्षाका वातावरण जाने अनजाने खड़ा करेगा। इसी प्रकारसे समस्त समाजमें या उसके अधिकांशमें जो रसूम और संस्कार रूढ़ हो गये होते हैं—चाहे वे इष्ट हों या अनिष्ट, उन रस्मों और संस्कारोंसे उस समाजके अंगभूत व्यक्तिके लिए मुक्त रहना अशक्य नहीं तो दुःशक्य तो होता ही है। तार या टिकट आफिसमें काम करनेवालोंमें अथवा स्टेशनके कर्मचारियोंके बीचमें एकाध व्यक्ति ऐसा जाकर रहे जो रिश्वतसे नफरत करता हो, इतना ही नहीं किन्तु कितनी ही रिश्वतकी लालच उसके सामने क्यों न दिखाई जाय फिर भी जो उसका शिकार बनना न चाहता हो, तो ऐसे सच्चे व्यक्तिको शेष सब रिश्वतखोर वर्गकी ओरसे बड़ा भारी त्रास होगा। क्योंकि वह स्वयं रिश्वत नहीं लेगा, इसका मतलब यह है कि वह स्वभावतः दूसरे रिश्वतखोरोंका विरोध करेगा और इसका फल यह होगा कि दूसरे लोग एक साथ इस प्रयत्नमें लग जायँगे कि या तो वह रिश्वत ले या उन सबके द्वारा परेशान हो। यदि उक्त सच्चा

व्यक्ति असाधारण साहसी और बुद्धिमान् न हो तो वह इतना ही करेगा कि दूसरोंके रिश्वत लेने पर तटस्थ रह जायगा, विरोध नहीं करेगा। ऐसा होने पर ही उसकी गाड़ी उन सबके बीच चल सकेगी। इसी न्यायसे हमारे देशी आई० सी० एसोंको परदेशियोंके बीच बहुत बार बहुत अनिष्ट सहना पड़ता है। तब ऐसे अनिष्टोंसे समाजको बचानेके लिए समाजके नायक या राजशासन करनेवाले कायदे कानून बनाते हैं या नीति-नियमोंका सृजन करते हैं। किसी समय बड़ी उम्र तक कन्याओंको अविवाहित रखनेमें अमुक अनिष्ट समाजको प्रतीत हुआ, तो स्मृतिशास्त्रमें नियम बनाया गया कि आठ या नव वर्षकी कन्या जब तक गौरी हो, शादी कर देना धर्म है। इस नियमका उल्लंघन करनेवाला कन्याका पिता और कन्या दोनों समाजमें निन्दित होते थे। उस भयसे समाजमें बाल-विवाहकी प्रथा चल पड़ी। और जब इस नीतिके अनुसरणमें अधिक अनिष्ट होने लगा तब समाजके नायकों और राजकर्ताओंके लिए दूसरा नियम बनाना आवश्यक हो गया। अब चौदह या सोलह वर्षसे कम उम्रमें कन्याका ब्याह करते हुए लोग शिक्षितोंद्वारा की जानेवाली निन्दासे डरते हैं या राज्यके दण्ड-भयसे नियमका पालन करते हैं। एक कर्जदार व्यक्ति अपना कर्ज चुकानेके लिए तत्पर रहता है, यह इस लिए कि यदि वह कर्ज नहीं चुका देगा तो उसकी साख-प्रतिष्ठा चली जायगी, और यदि साख चली गई तो कोई उसे कर्ज नहीं देगा और ऐसा होनेसे उसके व्यापारमें हानि होगी। इस तरह यदि देखा जाय तो प्रतीत होगा कि समाजके प्रचलित सभी नियमोंका पालन लोग भय या स्वार्थवश करते हैं। यदि किसी कार्यके करने या न करनेमें भय या लालच न हो तो उस कार्यको करने या न करनेवाले कितने होंगे, यह एक बड़ा प्रश्न है। कन्या भी पुत्रके ही समान संतति है, इसलिए उसका पुत्रके समान हक होना चाहिए, ऐसा समझ कर उसे दहेज देनेवाले माता-पिताओंकी अपेक्षा ऐसे मातापिताओंकी संख्या अधिक मिलेगी जो यही समझ कर दहेज देते हैं कि यदि उचित दहेज नहीं दिया जायगा तो कन्याके लिए अच्छा घर मिलना मुश्किल हो जायगा या प्रतिष्ठाकी हानि होनेसे अपने पुत्रोंको अच्छे घरकी कन्या नहीं मिलेगी। यही भय या स्वार्थ प्रायः संतानकी शिक्षाके विषयमें भी कार्य करता है। यही कारण है कि उक्त उद्देश्यकी सिद्धि होने पर लड़का या लड़की योग्य होने पर

भी उनकी शिक्षा समाप्त कर दी जाती है । क्यों कि वह शिक्षा शिक्षाके लिए नहीं दी जाती थी । यही बात कितने ही समाजोंके पुनर्विवाहके प्रतिबन्धके विषयमें भी देखी जाती है । जिस समाजमें पुनर्विवाह नहीं होते उसमें भी अनेक स्त्री-पुरुष ऐसा स्पष्ट माननेवाले होते हैं कि 'बलात्कारसे वैधव्य' धर्म नहीं है, फिर भी यदि उनकी छोटी बहन या पुत्री विधवा हो जाती है तो उसकी इच्छा होनेपर भी उसका पुनर्विवाह कर देनेको वे तैयार नहीं होते । प्रायः ऐसा भी होता है कि वे पुनर्विवाहके विरुद्ध अनिच्छासे भी चौका करने लग जाते हैं । बलात्कारसे ब्रह्मचर्यकी इस नीतिके पीछे भय और स्वार्थको छोड़कर अन्य कुछ भी हेतु नहीं होता । गृहस्थकी बात जाने दें । त्यागी या गुरु माने जानेवाले वर्गकी भीतरी बात देखें तो प्रतीत होगा कि उनके भी अधिकांश नीति-नियम और व्यवहार भय या स्वार्थमें प्रेरित होते हैं । किसी त्यागीके शिष्य दुराचारी हो जाये या स्वयं गुरु ही भ्रष्ट हो जाय तो उन शिष्योंका वह गुरु, शिष्योंकी वृत्तिमें सुधार हुआ है या नहीं यह बिना देखे ही, उन्हें वेशधारी रखनेका पूर्ण प्रयत्न करेगा । क्यों कि उसे शिष्योंकी भ्रष्टताके कारण अपनी प्रतिष्ठाकी हानिका भय रहता है । आचार्यके भ्रष्ट होनेपर भी उसके सांप्रदायिक अनुयायी उसे पदभ्रष्ट करनेमें हिचकिचाते हैं । इतना ही नहीं किन्तु उसपर बलात्कार ब्रह्मचर्य थोप देते हैं । क्यों कि उन्हें अपने सम्प्रदायकी प्रतिष्ठाकी हानिका डर रहता है । पुष्टिमार्गी आचार्यका पुनः पुनः स्नान और जैनधर्मके साधुका सर्वथा अस्नान यह अक्सर सामाजिक भयके कारण ही होता है । मौलवीके गीतापाठमें और पंडितके कुरान पाठमें भी सामाजिक भय ही प्रायः बाधक होता है । इन सामाजिक नीति-नियमों और रीति-रस्मोंके पीछे प्रायः भय और स्वार्थ ही होते हैं । भय और स्वार्थसे अनुष्ठित नीति-नियम सर्वथा त्याज्य निकम्मे ही हैं या उनके बिना भी चल सकता है, यह प्रतिपादन करनेका यहाँ अभिप्राय नहीं है । यहाँ तो इतना ही बताना अभिप्रेत है कि धर्म और नीतिमें फर्क है ।

जो बन्धन या कर्तव्य, भय या स्वार्थमूलक होता है, वह है नीति । किन्तु जो कर्तव्य, भय या स्वार्थमूलक न होकर शुद्ध कर्तव्यके तौरपर होता है और जो सिर्फ उसकी योग्यताके ऊपर ही अवलम्बित होता है, वह है धर्म । नीति और धर्मके बीचका यह फर्क तुच्छ नहीं है । यदि हम तनिक गहराईसे सोचें तो

यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि नीति समाजके धारण और पुष्टिके लिए आवश्यक होनेपर भी उससे समाजका संशोधन नहीं होता। संशोधन अर्थात् शुद्धि, और शुद्धि ही सच्चा विकास है। यदि यह धारणा वास्तविक हो तो कहना चाहिए कि वैसा विकास धर्मके बिना नहीं हो सकता। जिस समाजमें उक्त धर्मका जितने अंशमें अधिक पालन होता हो वह समाज उतने अंशमें उच्चतर है। इस वस्तुको स्पष्ट करनेके लिए कुछ दृष्टांतोंपर विचार किया जाय।

दो व्यक्तियोंको कल्पनामें रखा जाय। उनमेंसे एक तो टिकट मास्टर है जो अपना हिसाब संपूर्ण सावधानीपूर्वक रखता है और रेलवे-विभागको एक पाईका भी नुकसान न हो इसका ध्यान रखता है। वह इसलिए कि यदि भूल होगी तो वह दंडित होगा, और नौकरीसे भी बरखास्त किया जायगा। इतना सावधान भी वह यदि दूसरा भय न हो तो मुसाफिरोंके पाससे रिश्वत लेनेसे नहीं चूकता। किन्तु हमारी कल्पनाका दूसरा स्टेशन मास्टर रिश्वत लेनेका और उसके हजम हो जानेका कितना ही अनुकूल प्रसंग क्यों न हो, रिश्वत नहीं लेता और रिश्वत-खोरीके वातावरणको भी पसंद नहीं करता। इसी प्रकार एक त्यागी व्यक्ति खुले तौरसे पैसे लेनेमें और अपने पास रखनेमें अकिञ्चन व्रतका भंग मानकर पैसे नहीं लेता और न अपने पास संग्रह करता है। फिर भी यदि वस्तुतः उसके मनमें आकिञ्चन्य भावकी जागृति नहीं हुई होगी अर्थात् लोभका संस्कार नष्ट नहीं हुआ होगा, तो वह धनिक शिष्योंका संग्रह करके अभिमान करेगा और उससे मानो वह स्वयं धनवान् हो गया हो, इस प्रकार दूसरोंसे अपनेको उन्नत मानता हुआ अपने गौरवपूर्ण अहंपनका प्रदर्शन करेगा। जब कि दूसरा यदि वह सच्चा त्यागी होगा तो मालिक बनकर रुपये अपने पास रखेगा ही नहीं और यदि रखेगा तो उसके मनमें अभिमान या अपने स्वामित्वका गौरव तनिक भी न होगा। यद्यपि वह अनेक धनिकोंके बीचमें रहता होगा, और अनेक धनिक उसकी सेवा करते होंगे फिर भी उसका उसे अभिमान नहीं होगा या उनके कारण अपनेको दूसरोंसे उन्नत भी नहीं मानेगा। इस प्रकार यदि किसी समाजमें केवल नैतिक दृष्टिसे त्यागी वर्ग होगा तो परिणामतः वह समाज उन्नत या शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उस समाजमें त्यागीके वेशमें भोगोंका सेवन इस

प्रकार होगा जिससे त्यागका पालन भी माना जाय और भोगोंका सेवन भी पुष्ट हो। ऐसी स्थितिमें त्यागी वर्गमें गृहस्थोंकी तरह खुले तौरपर धन संग्रहकी स्पर्धा नहीं होनेपर भी दूसरेकी अपेक्षा अपने पास अधिक धनिक शिष्योंको फुसलाकर समझाकर फँसाकर अपना कर रखनेकी गूढ़ स्पर्धा तो अवश्य होगी। और ऐसी स्पर्धामें पड़कर वे जानमें या अनजानमें समाजकी सेवा करनेके बजाय कु-सेवा ही अधिक करेंगे। इसके विपरीत समाजमें यद धार्मिक दृष्टिसे त्यागीवर्ग होगा तो उसमें न होगी पैसे संग्रहकी स्पर्धा और न होगी धनिक शिष्योंको अपने ही बनाकर रखनेकी फिक्र। अर्थात् वह शिष्य-संग्रह या शिष्य-परिवारके विषयमें अत्यन्त निश्चिन्त होगा और इस प्रकार सिर्फ अपने सामाजिक कर्तव्योंमें ही प्रसन्नताका लाभ करेगा। ऐसे वर्गके दो त्यागियोंके बीच न होगी स्पर्धा और न होगा क्लेश। इसी प्रकार जिस समाजमें वे रहते होंगे उसमें भी कोई क्लेशका प्रसंग उपस्थित न होगा। इस प्रकार हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि किसी समाजमें नैतिक दृष्टिसे कितने ही त्यागी क्यों न हों फिर भी उनसे उस समाजका कल्याण न होकर अकल्याण ही अधिक होगा। इसके विपरीत किसी समाजमें धार्मिक दृष्टिसे सिर्फ एक ही त्यागी क्यों न हो फिर भी वह अकेला ही समाजकी शुद्धि अत्यधिक मात्रामें करेगा।

एक दूसरा दृष्टान्त लें। एक सन्यासी भोग-वासनाका अविर्भाव होने पर भी समाजमें अपयशके भयसे बाह्य रूपसे त्यागी रहकर भी अनाचारका सेवन करता रहता है। जब कि दूसरा त्यागी वैसी वासनाके प्रकट होने पर यदि उसका दमन नहीं कर सकता तो चाहे कितना भी अपयश और तिरस्कार क्यों न हो फिर भी स्पष्ट रूपसे गृहस्थ हो जाता है। विचार करनेसे उस नैतिक दृष्टिसे रहे हुए त्यागीकी अपेक्षा यह भोगी त्यागी ही समाजकी शुद्धिका अधिक रक्षक है। क्योंकि प्रथमने भयका पराजय नहीं किया जब कि दूसरेने भयको पराजित करके आन्तर और बाह्यका ऐक्य सिद्ध करके नीति और धर्म दोनोंका पालन किया है। इतनी लम्बी चर्चासे यह स्पष्ट हो गया है कि समाजकी सच्ची शुद्धि और सच्चे विकासके लिए धर्मको ही अर्थात् निर्भय निःस्वार्थ और ज्ञानपूर्ण कर्तव्यकी ही आवश्यकता है। अब हमें देखना चाहिए कि विश्वमें वर्तमान कौनसे पंथ, संप्रदाय या धर्म ऐसे हैं जो यह दावा कर सकते हों कि हमने ही मात्र धर्मका पालन करके समाजकी अधिक संशुद्धि की है।

इसका उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि विश्वमें ऐसा एक भी पंथ, संप्रदाय या धर्म नहीं जिसने मात्र धर्मका ही आचरण किया हो और उसके द्वारा समाजकी केवल शुद्धि ही की हो। यदि कोई संप्रदाय या पंथ अपनेमें होनेवाली कुछ सत्यनिष्ठ धार्मिक व्यक्तियोंका निर्देश करके समाजकी शुद्धि सिद्ध करनेका दावा करता है तो वैसा दावा दूसरा विरोधी पंथ भी कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक पन्थमें कम या अधिक संख्यक ऐसे सच्चे त्यागी व्यक्तियोंके होनेका इतिहास हमारे समक्ष मौजूद है। धर्मके तथाकथित बाह्यरूपोंके आधारसे ही समाजको माप कर किसी पंथको धार्मिक होनेका प्रमाणपत्र नहीं दिया जा सकता। क्योंकि बाह्य रूपोंमें परस्पर इतना विरोध होता है कि यदि उसीके आधारसे धार्मिकताका प्रमाणपत्र दे दिया जाय तो या तो सभी पंथोंको धार्मिक कहना होगा या सभीको अधार्मिक।

उदाहरणके तौरपर कोई पंथ मंदिर और मूर्तिपूजाके अपने प्रचारका निर्देश करके ऐसा कहे कि उसने उसके प्रचारके द्वारा जनसमाजको ईश्वरको पहचाननेमें या उसकी उपासनामें पर्याप्त सहायता देकर समाजमें शुद्धि सिद्ध की है, तो इसके विपरीत उसका विरोधी दूसरा पंथ यह कहनेके लिए तैयार है कि उसने भी मंदिर और मूर्तिके ध्वंसके द्वारा समाजमें शुद्धि सिद्ध की है। क्योंकि मंदिर और मूर्तियोंको लेकर जो वहमोंका साम्राज्य, आलस्य और दंभकी वृद्धि हो रही थी उसे मंदिर और मूर्तिका विरोध करके कुछ मात्रामें रोक दिया गया है। एक पंथ जो तीर्थस्थानकी महिमा गाता और बढ़ाता हो वह शारीरिक शुद्धिद्वारा मानसिक शुद्धि होती है, ऐसी दलीलके सहारे अपनी प्रवृत्तिको समाज-कल्याणकारी सिद्ध कर सकता है, जब कि उसका विरोधी दूसरा पंथ स्नान-नियन्त्रणके अपने कार्यको समाज-कल्याणकारी साबित करनेके लिए ऐसी दलील दे सकता है कि बाह्य स्नानके महत्त्वमें फँसनेवाले लोगोंको उस रास्तेसे हटाकर आन्तरिक शुद्धिकी ओर ले जानेके लिए स्नानका नियन्त्रण करना ही हितावह है। एक पंथ कंठी बँधाकर और दूसरा उसे तुड़वाकर समाजकल्याणका दावा कर सकता है। इस तरह धर्मके बाह्य रूपके आधारपर जो प्रायः परस्पर विरोधी होतेहैं

यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि अमुक पंथ ही सच्चा धार्मिक है और उसीने समाजमें सच्ची शुद्धि की है।

फिर क्या ऐसी कोई भूमिका है जो सर्वसामान्य हो और जिसके आधारपर निर्विवाद रूपसे यह कहा जा सके कि बाह्यरूप कैसा भी क्यों न हो किन्तु यदि वह वस्तु विद्यमान है तो उससे समाजका ऐकान्तिक कल्याण ही होगा और वह वस्तु जिस पंथ, जाति या व्यक्तिमें जितने अंशमें ज्यादह होगी उतने अंशमें उस जाति पन्थ या व्यक्तिसे समाजका अधिक कल्याण ही किया है ? वस्तुतः ऐसी वस्तु है और वह ऊपरकी चर्चासे स्पष्ट भी हो गई है। वह है निर्भयता, निर्लेपता और विवेक। व्यक्ति या पंथके जीवनमें यह है या नहीं यह अत्यंत सरलतासे जाना जा सकता है। जैसा मानना वैसा ही कहना और कहनेसे विपरीत नहीं चलना अथवा जैसा करना वैसा ही कहना—यह तत्त्व यदि जीवनमें है तो निर्भयता भी है। ऐसी निर्भयताको धारण करनेवाला नौकर सेठसे डर कर किसी बातको नहीं छुपाएगा और कैसा भी जोखिम सिरपर लेनेको तैयार रहेगा। कोई भी भक्त गृहस्थ अपने बड़प्पनकी हानिके भयसे धर्मगुरुके सामने अथवा कहीं भी दोषोंको छिपानेका अथवा बड़प्पनका मिथ्या दिखावा करनेका ढोंग करनेके बजाय जो कुछ सच होगा उसे प्रकट कर देगा। कोई भी धर्मगुरु यदि वह निर्भय होगा तो अपना पाप तनिक भी गुप्त नहीं रखेगा। इसी प्रकार जो निर्लोभ होगा वह अपना जीवन बिलकुल सादा बनावेगा। निर्लोभ पंथके ऊपर बहुमूल्य कपड़ों या गहनोंका भार नहीं होगा। यदि किसी पंथमें निर्लेपता होगी, तो वह अपनी समग्र शक्तियाँ एकाग्र करके दूसरोंकी सेवा लेकर ही संतुष्ट नहीं होगा। यदि विवेक होगा तो उस व्यक्ति या पंथका किसीके साथ क्लेश होनेका कोई कारण ही नहीं रहेगा। वह तो अपनी शक्ति और संपत्तिका सदुपयोग करके ही दूसरोंके हृदयको जीतेगा। विवेक जहाँ होता है वहाँ क्लेश नहीं होता और जहाँ क्लेश होता है वहाँ विवेक नहीं होता। इस प्रकार हम किसी व्यक्ति या पंथमें धर्म है या नहीं, यह सरलतासे जान सकते हैं और उक्त कसौटीसे जाँच कर निश्चित कर सकते हैं कि अमुक व्यक्ति या पंथ समाजके कल्याणके लिए है या नहीं।

जातिमें महाजन पंच, पंथमें उसके नेता और समस्त प्रजामें शासनकर्ता

नीतिका निर्माण करते हैं, देशकालानुसार उसमें परिवर्तन करते हैं और उसका पालन करवाते हैं। फिर भी समाजकी शुद्धिका कार्य अवशिष्ट रह जाता है। यह कार्य कोई महाजन, पंडित या राजा सिर्फ अपने पदके कारण सिद्ध नहीं कर सकता। जब कि यही कार्य मुख्य है, और यही कार्य करना परमात्माका सन्देश है। जिस व्यक्तिको इस कार्यकी लगन हो उसे दूसरोंको उपदेश देनेकी बजाय अपने जीवनमें ही धर्म लाना चाहिए। यदि जीवनमें धर्मका प्रवेश हुआ तो उतने अंशमें उसका जीवन समाजकी शुद्धि सिद्ध करेगा, फिर भले ही वह दूसरोंको शुद्ध होनेका उपदेश वचन या लेखनसे न देता हो। समाजकी शुद्धि जीवन-शुद्धिमें समाविष्ट है और जीवन-शुद्धि ही धर्मका साध्य है। इसलिए यदि हमें समाज और अपने जीवनको नीरोग रखना है तो स्वयं अपनेमें उक्त धर्म है या नहीं, और है तो कितनी मात्रामें, इसका निरीक्षण करना चाहिए। धार्मिक माने जानेवाले पर्वके दिनोंमें यदि अपना निरीक्षण करनेकी आदत डाली जाय तो वह सदैवके लिए स्थायी होगी और ऐसा होनेसे हमारे सामने उपस्थित विशाल समाज और राष्ट्रके घटकके रूपमें हमने भी अपना कुछ हिस्सा अदा किया है, ऐसा कहा जायगा।

[पर्युषण-व्याख्यानमाला, बम्बई, १९३२। अनु०—प्रो० दलसुख भाई]

सम्प्रदाय और सत्य

साम्प्रदायिक दृष्टि और सत्य दृष्टिका क्या अर्थ है, इन दोनोंके बीचमें क्या भेद है और साम्प्रदायिक दृष्टिके स्थानमें सत्य दृष्टिके शिक्षण पोषण और विकासकी कितनी आवश्यकता है, यह सब शिक्षितोंके लिए जानना अत्यावश्यक है। शिक्षित ही सामान्य लोकवर्गके प्रतिनिधि होनेके कारण मार्गदर्शक बन सकते हैं। यदि वे इसका यथार्थ एवं असाधारण ज्ञान रखते हों तो अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित जनवर्गको विश्वकी, राष्ट्रकी और जातिकी एकताकी ओर अपने असाधारण प्रयत्नसे ले आ सकते हैं और अयोग्य मार्गसे उनकी चित्तवृत्तिको पराङ्मुख करके योग्य दिशाकी ओर प्रवृत्त कर सकते हैं।

बेक्टिरिया जैसे सूक्ष्मतम जन्तुओं और इतर प्राणियोंमें भी अभेदकी भूमिका है; किन्तु वह आदर्श नहीं है क्योंकि यह भूमिका ज्ञान अथवा बुद्धिसाधित नहीं, अज्ञानमूलक है। इसमें भेदके ज्ञानका अभाव तो है पर अभेदका ज्ञान नहीं है। मनुष्यत्वका आदर्श अभेदका है किन्तु वह अभेद ज्ञानमूलक है। बुद्धि, विचार और समझपूर्वक अनुभवगम्य एकता ही मनुष्यत्वका शुद्ध आदर्श है। भेदोंकी विविधताओंका भान होनेपर भी उससे ऊपर उठकर जितने अंशमें दृष्टि अभेद, एकता या समन्वयको अनुभवगम्य कर सकेगी उतने अंशमें कहा जाएगा कि वह मनुष्यत्वके आदर्शके नजदीक पहुँची। इस आदर्शमें केवल आध्यात्मिकता ही नहीं किन्तु शुद्ध एवं सुखावह व्यावहारिकताका भी सामंजस्य है। प्राणिमात्रके प्रति आत्मौपम्यकी दृष्टि, समग्र विश्वमें परस्पर भ्रातृभाव और विशुद्ध राष्ट्रीयता, ये सभी उक्त आदर्शके जुदे जुदे और भिन्न भिन्न कक्षावाले स्वरूप हैं, अंग हैं।

अहंकार, अज्ञान और विपरीत समझसे मनुष्य-जातिने आदर्शको छोड़कर

केवल उन्मार्गका अवलम्बन ही नहीं किया है किन्तु बहुत-सी बातोंमें तो प्रतीत होता है कि उसने अपने आदर्शको चकनाचूर कर डाला है। देशभेद, जातिभेद, भाषाभेद, आचारभेद और संस्कारभेद, ऐसे अन्य अनेक भेदोंकी भावनाओंको प्रमाणसे अधिक आश्रय देकर उसने एकताके साधनकी कितनी हत्या कर डाली है, यह मनुष्य जातिके इतिहासके अभ्यासियोंसे कहनेकी अवश्यकता नहीं। हममें जाने अनजाने साम्प्रदायिक भेद बुरी तरहसे किस प्रकार घर कर लेता है, उससे व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय दृष्टिसे कैसे कैसे बुरे परिणाम होते हैं और उन परिणामोसे बचनेके लिए किस दृष्टिकी आवश्यकता है इसकी चर्चा कर लेना आवश्यक जान पड़ता है।

अन्य पथों और संप्रदायोंका संस्कार रखनेवाले इतर व्यक्तियोंका मुझे चाहे जितना अनुभव हो फिर भी वह स्वपंथ और स्वानुभवकी दृष्टिसे धुँधला ही होगा, अतएव मैं यद्यपि यहाँपर जैन पंथ या जैन संप्रदायको लक्ष्य करके स्वानुभूत जैसा चित्र खींचता हूँ किन्तु प्रत्येक पाठक उसे अपना ही चित्र मान कर, उसकी भिन्न भिन्न घटनाओंको अपनी अनुभूत घटनाओंके साथ तुलना करके इस चित्रको साधारण रूप दे तो प्रस्तुत चर्चाके समझनेमें बहुत सरलता हो सकती है।

जन्मके प्रारम्भिक कालमे जब एक बालक माँकी गोदमें क्रीड़ा करता है तभीसे वह स्तनपान और बाल-जगतके अवलोकनके साथ साथ अनजाने ही साम्प्रदायिक संस्कार संग्रह करने लगता है। थोड़ी-सी बड़ी अवस्था होनेपर वे संस्कार "जय जय" "राम" "भगवान्" आदि सरल शब्दोंमें व्यक्त होते हैं। माँ बाप आदि बालकसे धर्म-शब्दका उच्चारण करवाते हैं। बालक भी अनुकरण करता है। फिर उसकी ग्रहण और उच्चारण शक्तिके बढ़ते ही उससे "जैनधर्म" आदि शब्द उच्चारण करवाये जाते हैं। थोड़े ही समयमें बालक अपनेको अमुक धर्मका कहने लगता है। उस समय उसके हृदयमे धर्म, पंथ या संप्रदायकी कोई स्पष्ट कल्पना नहीं होती, फिर भी वह परम्परासे प्राप्त संस्कारोंसे अपनेको अमुक धर्म अथवा अमुक संप्रदायका मानने लगता है। और थोड़ी बड़ी अवस्था होने पर उसके माता-पिता, पितामहादि यदि जैन हों तो बालकको यह समझानेका प्रयत्न करते हैं कि हम जैन कहलाते हैं। अवस्था अवलोकन और जिज्ञासाकी साथ ही साथ वृद्धि होती है। पिता पितामहादि

उसके संतोषार्थ कहते जाते हैं कि चींटी नहीं मारनी चाहिए, बिना छाना हुआ पानी नहीं पीना चाहिए, अधिक पानी न ढोलना चाहिए-क्योंकि हम जैन कहलाते हैं। इतने शिक्षणसे किशोर-मानस इतना ही सीख सकता है कि अमुक नियमोंका पालन करना ही जैनधर्म है। वह किशोर अपने गुरुजनोंके साथ धर्मस्थानोंमें जाता है या घरपर ही धर्मगुरुओंका दर्शन करता है। तब ये धर्मगुरु कहलाते हैं, जैनगुरु ऐसे होते हैं, इनकी ऐसी वेश-भूषा होती है, इनको इस प्रकार प्रणाम करना चाहिए, आदि विधियाँ जान लेता है। अब तक तो उसने केवल जैनधर्म जैसे साधारण शब्द ही ग्रहण किये थे, उनका अर्थ भी उसने आसपासके वातावरणसे साधारण रूपसे ग्रहण किया था, अब कुछ बुद्धि होनेके साथ ही उसका शिक्षण अन्य दिशाकी ओर चला जाता है। धर्मगुरु यदि स्थानकवासी हो तो उसे ऐसी शिक्षा मिलती है कि जो मुँह-पत्ती बाँधते हैं, जो अमुक प्रकारके आचारका पालन करते हैं, वे ही सच्चे जैन गुरु हैं। बालक इतने शिक्षणके पश्चात् आगे बढ़ता है। धर्म-पुस्तकोंको पढ़ते समय पढ़ता है कि अमुक पुस्तकें ही जैनशास्त्र हैं और ये ही सच्चे धर्मशास्त्र हैं।

इसी प्रकार वह भिन्न भिन्न क्रियाकाड, उपासना और आचार जो उसके आसपास प्रचलित होते हैं उनको ही जैन क्रिया, जैन उपासना और जैन आचार कहने लगता है और क्रमशः उसके हृदयमें इन संस्कारोंकी पुष्टि होने लगती है कि जैन गुरु तो जैसे मैंने देखे हैं वैसे ही हैं, अन्य नहीं। जैन क्रिया, जैन उपासना और जैन आचार जैसे मैं मानता हूँ वे ही हैं, अन्य नहीं। इस प्रकार धर्म और जैनधर्म आदि महत्त्वपूर्ण शब्दोंके भाव उसके मनमें बहुत ही संकीर्ण रूपमें चित्रित हो जाते हैं और उमरकी वृद्धिके साथ साथ उसके सामने एक नया चित्र खड़ा होता है कि जैनधर्म ही सत्य है, अन्य सभी धर्म असत्य एवं सत्यसे पराङ्मुख हैं और जैनधर्म भी उसके लिए उसकी जन्मभूमिमें प्रचलित सम्प्रदायसे अधिक कुछ नहीं होता।

आगे जब यह किशोर तरुण होकर जिज्ञासाके वेगमें अन्य प्रकारके धर्मगुरु, अन्य प्रकारके धर्मशास्त्र, अन्य प्रकारके धर्मस्थान और अन्य प्रकारके क्रियाकाड–उपासना आदि देखता है, उनके विषयमें जानता है तब उसके सामने बड़ी

उलझन खड़ी हो जाती है। इस प्रकारकी उलझनमें उसने यह पहला ही कदम रखा है। उसको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे द्वारा स्वीकृत पंथकी अपेक्षा ये सभी भिन्न प्रकारके हैं। इन सबको जैनधर्मकी कोटिमें परिगणित कर सकते हैं या नहीं? साधारणतः ऐसी दुविधाका समाधान अयोग्य रीतिसे होता है। साम्प्रदायिक शिक्षणके द्वारा हृदयमें ये भावनाएँ बलात् भरी जाती हैं कि अमुक ही मौलिक जैन हैं, अन्य नहीं। इनके अतिरिक्त अन्य असली जैन नहीं हैं किन्तु विकृत हैं। फिर तरुणकी जिज्ञासा उत्तरोत्तर बलवती होती जाती है। वह पूछता है कि अमुक ही मौलिक हैं और अन्य नहीं, इसका क्या कारण है? प्रथम उसने मूर्ति एवं मन्दिरोंको धर्म-कोटिमें नहीं गिना था। पर अब तो वह प्रश्न करता है कि इन सबको और प्रथमकी अपेक्षा ज्ञात अन्य शास्त्रोंको भी जैन-शास्त्रोंकी कोटिमें क्यों नहीं गिना जाए? अब तो वह देहात या ग्रामवासी मिटकर नगरवासी बन जाता है और वहाँ वह स्थानकवासीके उपरांत श्वेतांबर मूर्तिपूजक-परंपराकी सभी विधियोंका निरीक्षण करके उसको भी जैनधर्मके प्रदेशमें परिगणित करना चाहता है और प्रथम ग्रहण किये हुए शब्दोंके भावोंका विस्तार करता है। तत्पश्चात् वह युवक विद्यापीठ या अन्य स्थलोंमें प्रथमतः अज्ञात किसी तीसरे जैन पंथके विषयमें कुछ सुनता है, जानता है कि वस्त्ररहित मुनि ही जैन गुरु कहलानेके अधिकारी हैं, वस्त्रोंसे परिवेष्टित नहीं। स्थानकवासी एवं श्वेताम्बरोंद्वारा स्वीकृत शास्त्र मूल जैन शास्त्र नहीं, ये तो बनावटी और पीछेके हैं, सच्चे जैन शास्त्र सभी लुप्त हो गये हैं। फिर भी यदि मानना हो तो अमुक अमुक आचार्योंद्वारा निर्मित शास्त्र ही मूल शास्त्रोंके समकक्ष हो सकते हैं, अन्य नहीं। मूर्ति माननी चाहिए किंतु नग्न प्रतिमा ही। जब वह युवक इस प्रकार प्रथम नहीं सुनी हुई बातोंको सुनता है या पढ़ता है, तब उसकी दुविधाका पार नहीं रहता। धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले जो जो शब्द उसके हृदयमें घर किये हुए थे उनके विरुद्ध यह नया शिक्षण उसे व्यग्र कर डालता है। पर इस व्यग्रतासे भी सत्य मार्गकी प्राप्ति नहीं होती। अंतमें वह प्राप्त हुए नवीन शिक्षणको मिथ्या कहकर पुरातन पिता पितामहादिसे प्राप्त परपरागत संस्कारोंका पोषक बन जाता है। अथवा प्रथमके संस्कारोंको एक ओर रखकर नवीन शिक्षणके अनुसार इन धार्मिक शब्दोंके अर्थका पर्यालोचना करता है। यह तो केवल जैनियोंके मुख्य तीन विरोधी

फिरकोंकी विरोधी मान्यताओंमें सीमाबद्ध रहनेवाले जैनधर्मसम्बन्धी शब्दों और संकेतोंकी बात हुई। परतु अब वह चित्र अधिक विस्तृत होता है। अब वह बालक, किशोर, कुमार या कालेजका तरुण मिटकर विश्वशालाका विद्यार्थी बनता है। उसके सामने अनेक पंथोंके अनेक रूपके धर्मगुरु, अनेक प्रकारके आचार और क्रियाकांड, अनेक प्रकारके धर्मशास्त्र और धार्मिक विचार उपस्थित होते हैं, इससे वह और अधिक उलझनमें मैं पड़ जाता है। वह कहता है कि इन सबको धर्म-प्रदेशमें गिन सकते हैं या नहीं? यदि ये धर्मकी उस कोटिमें सम्मिलित नहीं हो सकते तो क्या कारण है? यदि गिन सकते हैं तो उनको कुलधर्म अर्थात् प्रथमके जैन धर्मकी कोटिमें गिना जाए अथवा उससे हीन कोटिमें? इस दुविधाका समाधान भी हजारोंमेंसे कोई एक ही कर पाता है।

इस प्रकार जन्मसे लेकर बड़ी अवस्थापर्यंत कुलपरम्परासे प्राप्त साम्प्रदायिक भावनाके परिणामस्वरूप मनुष्यजाति भिन्न भिन्न पथोंकी छावनियोंमें एकत्रित होकर एक दूसरेके ऊपर नास्तिकता, धर्मभ्रष्टता मिथ्यादृष्टि, आदि धार्मिक लड़ाईकी तोपें चलाते हैं और आस्तिकता धार्मिकता एव सम्यग्दृष्टि आदि सर्व मान्य शब्दोंके कवचसे अपनेको सुरक्षित बनानेका पूरा प्रयत्न करते हैं। धर्मके इस युद्ध-क्षेत्रको देखकर एक विचारक चिंतनमें डूब जाता है और अपनी उलझनको अन्यके द्वारा सुलझवानेकी अपेक्षा स्वयं ही उसकी गहराईमें पैठनेका प्रयत्न करता है। बादमें तो वह विविध शास्त्रोंका अध्ययन करता है, उक्त सभी विवादग्रस्त प्रश्नोंका तटस्थ भावमे विचार करता है और उसके मनमें मनुष्यत्वके आदर्श और धर्मका परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह विचार होते ही उसका सारा भ्रम दूर हो जाता है, उलझन अपने आप ही सुलझ जाती है और इस नवीन ज्योतिके प्रकाशमें वह साप्रदायिकता और सत्यका अतर समझ जाता है। तब वह देखता है कि सम्प्रदाय किसी एक व्यक्तिकी विशिष्ट साधनाका प्रतीक है। इसमें तो संप्रदायके मूल प्रवर्तककी आत्मा प्रदर्शित होती है। वह आत्मा महान् होनेपर भी अन्तत मर्यादित ही है। उसकी साधना तेजस्वी होनेपर भी अन्य दूसरे प्रकाशोंको अभिभूत या लुप्त नहीं कर सकती। यद्यपि उसकी साधनाके पीछे विद्यमान मूल प्रवर्तकके उपयोगी अनुभव हैं, फिर भी वे अन्य साधकोंकी साधना एवं अनुभवोंको व्यर्थ और अनुपयोगी सिद्ध नहीं कर सकते। वे तो केवल अपनी उपयोगिता सिद्ध

करनेका ही बल रखते हैं। ऐसे व्यापक, निष्पक्ष और समन्वयगामी चिन्तन-प्रवाहमेंसे उसे ऐसी चाबी प्राप्त हो जाती है कि अब वह संप्रदाय-संप्रदाय, पंथ-पंथ और फिरके-फिरकेके बीचके छोटे बड़े सभी भेदोंके विरोधकी ग्रन्थिको एकदम सुलझा लेता है। बादमें तो वह उन स्वानुभूत सभी साम्प्रदायिक परिस्थितियोंमेंसे सिद्धान्तोंको खोज लेता है और उसे ऐसा अनुभव होता है कि सप्रदायोंमें सत्य तो है किंतु वह मर्यादित ही है। अन्य सम्प्रदायके सत्यके साथ एक सम्प्रदायके सत्यका कोई विरोध नहीं तथा दोनों सम्प्रदायोंके आंशिक सत्यका इतर तमाम संप्रदायोंके आशिक सत्यके साथ भी कोई विरोध नहीं। ये सभी खंड सत्य एक महासत्यके अभिव्यक्त रूप हैं। उसका मन यही कहता है कि किसी मातृभक्तको अपनी माताकी उत्कृष्ट उपासनाके लिए दूसरोंकी माताकी लघुताका ढिंढोरा पीटना उचित नहीं है। स्वमाताकी पूज्यता दूसरोंकी माताको गाली दिए बिना भी सिद्ध हो सकती है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायोंके विषयमें तिरस्कार, क्षुद्रता अथवा दोष दर्शन किये बिना ही स्वसप्रदायके प्रति पूर्ण सम्मान बुद्धिपूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है। ऐसे विचार-प्रवाहोंके स्फुरित होते ही वह साम्प्रदायिक होनेपर भी असाम्प्रदायिक हो जाता है, पंथगामी होनेपर भी सत्यगामी बनता है, और मनुष्यत्वके आदर्शके साथ पूर्ण रूपमें सम्बन्ध रखनेवाले धर्मपथके विषयमें विचार करता है।

अब तो वह कुरान और पुराण दोनोंके साम्प्रदायिक अनुगामियोंके झगड़ोंको बाल-चेष्टा गिनता है और वेद, आगम, पिटक, अवेस्ता, बाइबिल आदि सभी धर्मग्रन्थोंमें दिखाई देनेवाले विरोधोंका समाधान पा जाता है। उसके सामने विश्वकी एकता, राष्ट्रीय एकता, सामाजिक और धार्मिक एकताका स्पष्ट आदर्श उपस्थित होता है और दूसरोंको परस्पर विरोधी दिखाई देनेवाले इन्हीं पंथोंमेंसे उसे अभी तक साम्प्रदायिक बुद्धिसे आच्छादित एकताके पोषक तत्त्वोंका ऐतिहासिक मर्म प्राप्त हो जाता है। यदि वह जैन हो तो गीतामेंसे भी सत्य पा सकता है। वैदिक हो तो उत्तराध्ययन और धम्मपदका [illegible] करता है। मुसलमान हो तो अवेस्ता और आगम पिटकोंमेंसे भी सत्यकी प्रेरणा प्राप्त करता है। जो धर्मदृष्टि एक बार सकुचित मार्ग और उलझनोंकी सकीर्ण गलियोंमेंसे कठिनाईसे गिरती पड़ती चलती थी वही अब बन्धनमुक्त होकर मनुष्य मात्रको एकता सिद्ध करनेके पुण्यकार्यमें [illegible] हो जाती है।

[मूल गुजराती। अनु०—पं० महेन्द्रकुमार]

धर्म और पंथ

प्रथम अर्थात् धर्ममें अन्तर्दर्शन होता है। वह आत्माके अन्दरसे उत्पन्न होता है वहीं स्थिर रहता है और मनुष्यको उसी ओर आकृष्ट करता है। जब कि दूसरे अर्थात् पंथमें बहिर्दर्शन होता है, वह बाह्य वातावरण तथा देखा-देखीमें उत्पन्न होता है, इसलिए बाहरकी ओर आकृष्ट करता है और मनुष्य-को बाहरकी तरफ देखनेमें उलझा रखता है।

धर्म गुणजीवी और गुणावलम्बी है। वह आत्माके गुणोंपर रहता है। पंथ रूपजोवी और रूपावलम्बी है। उसका आधार बाह्य रूप रग और ऊपरी आडम्बर है। वह वेश, कपडोका रग, पहननेकी रीति, पास रखनेके साधन तथा उपकरणोंकी ओर विशेष रुचि दिखलाता है तथा उन्हींका आग्रह करता है।

धर्ममें एकता और अभेदके भाव उठते हैं और समानताकी तरगे उछलती हैं। पंथमें भेद और विषमताकी दरारें पडती और बढती जाती हैं। धर्ममें मनुष्य दूसरोंके साथ भेदभाव भूलकर अभेदकी ओर झुकता है, दूसरेके दुःखमें अपना सुख भूल जाता है, या यों कहना चाहिए कि उसके सुख-दुःख कोई अलग वस्तु नहीं रहते। दूसरोंके सुख-दुःख ही उसके सुख-दुःख बन जाते है। पंथमें मनुष्य अपनी वास्तविक अभेद-भूमिको भूलकर भेदकी तरफ अधिकाधिक झुकता जाता है। दूसरेका दुःख उसपर असर नहीं करता। अपने सुखके लिए वह लालायित रहता है। अथवा यों कहना चाहिए कि उस मनुष्यके सुख-दुःख दुनियाके सुख-दुःखोंसे सर्वथा अलग हो जाते हैं। इसमे मनुष्यको अपना और पराया ये दो शब्द पद पदपर याद आते हैं। धर्ममें स्वाभाविक नम्रता होनेके कारण मनुष्य अपनेको छोटा और हलका समझता

है। उसमें अभिमान सरीखी कोई बात ही नहीं होती। चाहे जितने गुण तथा सम्पत्ति प्राप्त हो जाय वह अपनेको सबसे छोटा ही देखता है। धर्ममें ब्रह्म अर्थात् सच्चे जीवनकी झाँकी होनेसे, उसकी व्यापकताके सामने मनुष्यको अपना व्यक्तित्व हमेशा छोटा-सा प्रतीत होता है। पंथमें इससे उल्टा है। इसमें गुण और वैभव न होनेपर भी मनुष्य अपनेको दूसरोंसे बड़ा मानता है और दूसरोंसे मनवानेका प्रयत्न करता है। उसमें यदि नम्रता होती है तो वह बनावटी होती है। उस मनुष्यको सदा अपने बड़प्पनका ख्याल बना रहता है। उसकी नम्रता बड़प्पनका पोषण करनेके लिए होती है। सच्चे जीवनकी झाँकी न होनेके कारण गुणोंकी अनन्तता तथा अपनी पामरताका भान न होनेके कारण पथमें पड़ा हुआ मनुष्य अपनी लघुताका अनुभव नहीं कर सकता। वह लघुताका केवल दिखावा करता है।

धर्ममें सत्यकी दृष्टि होती है। उसमें सभी तरफ देखने तथा जाननेका धैर्य होता है। सभी पक्षोंको सह लेनेकी उदारता होती है। पथमें ऐसा नहीं होता। उसमें सत्याभासकी दृष्टि होती है। वह सम्पूर्ण सत्यको अपने ही पक्षमें मान लेता है, इसलिए दूसरी तरफ देखने तथा जाननेके लिए उसका झुकाव ही नहीं होता। विरोधी पक्षोंको सहने अथवा समझनेकी उदारता उसमें नहीं होती।

धर्ममें अपना दोषोंका और दूसरोंके गुणोंका दर्शन मुख्य होता है। पंथमें इससे उल्टा है। पंथवाला दूसरोंके गुणोंकी अपेक्षा दोष ही अधिक देखता है और अपने दोषोंकी अपेक्षा गुणोंको ही अधिक देखता है। वह अपने ही गुणोंका बखान करता रहता है, उसकी आँखोंमें अपने दोष आते ही नहीं।

धर्ममें केवल चारित्रपर ध्यान दिया जाता है। जाति, लिंग, उमर, वेश, चिह्न, भाषा तथा दूसरी बाह्य वस्तुओंके लिए उसमें स्थान नहीं है। पंथमें इन बाह्य वस्तुओंपर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। अमुक व्यक्ति किस जातिका है? पुरुष है या स्त्री? उमर क्या है? वेश कैसा है? कौन-सी भाषा बोलता है? किस प्रकार उठता बैठता है? पंथमें इन्हींको मुख्य मानकर चारित्रको गौण कर दिया जाता है। बहुत बार ऐसा होता है कि जिस जाति, लिंग, उमर, वेश या चिह्नकी पंथविशेषके अनुयायिओंमें प्रतिष्ठा नहीं है, उन्हें धारण

करके कोई अच्छे चारित्रवाला व्यक्ति भी आ जाता है तो वे लोग उसकी तरफ ध्यान नहीं देते। कई बार तो उसे अपमानित करके निकाल तक देते हैं।

धर्ममें सारा संसार एक ही चौका है। छोटे छोटे चौके न होनेके कारण उसमें छुआछूत या घृणा-द्वेषकी बात ही नहीं है। यदि कोई बात बुरी समझी जाती है तो यह कि प्रत्येक व्यक्तिको अपना पाप ही बुरा लगता है। पंथमें चौकेबाजी इतनी जबर्दस्त होती है कि हर एक बातमें छुआछूतकी गंध आती है। इसी कारण पंथवालोंकी नाक अपने आपको दुर्गन्ध तक नहीं पहुँचती। उन्हें जितनी दुर्गन्ध अपने पथसे बाहरके लोगोंमें आती है उतनी अपने पापमें नहीं। स्वयं जिसे स्वीकार कर लिया वही उन्हें सुगन्धित लगता है और अपना पकड़ा हुआ रास्ता ही श्रेष्ठ दिखता है। उसके सिवाय सभी बदबूदार तथा सभी मार्ग घटिया मालूम पड़ते हैं।

संक्षेपमें कहा जाय तो धर्म मनुष्यको दिन रात पुष्ट होनेवाले भेदभावके संस्कारोंसे निकाल कर अभेदकी तरफ धकेलता है। पंथ इन संस्कारोंको अधिकाधिक पुष्ट करता है। यदि दैवयोगसे कोई अभेदकी तरफ जाता है तो पंथको सन्ताप होता है। धर्ममें दुनियाके छोटे बड़े झगड़े, जर, जोरू, जमीन, छुटपन, बड़प्पन आदिके सब विरोध शांत हो जाते हैं। पंथमें धर्मके नाम और धर्मकी भावनापर ही झगड़े खड़े हो जाते हैं। इसमें ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि झगड़ेके बिना धर्मकी रक्षा ही नहीं हो सकती।

धर्म और पंथका अन्तर समझनेके लिए पानीका उदाहरण लें, तो पंथ ऐसा पानी है जो समुद्र, नदी, तालाब, कुआँ आदि मर्यादाओंसे भी अधिक संकुचित होकर हिन्दुओके पीनेके घड़ेमें पड़ा हुआ है। किसी दूसरे व्यक्तिके छूने ही उसके अपवित्र एव भ्रष्ट हो जानेका डर है। पर धर्म आकाशसे गिरते हुए वर्षाके पानी सरीखा है। इसके लिए कोई स्थान या व्यक्ति ऊँचा नीचा नहीं है। इसमें एक जगह एक स्वाद और दूसरी जगह दूसरा स्वाद नहीं है। इसमें रूप-रंगका भी भेद नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है और पचा सकता है। पंथ हिन्दुओंके घड़ेके पानी सरीखा होता है। उसके लिए अपने सिवाय दूसरे सब पानी अस्पृश्य होते हैं। उसे अपना स्वाद और अपना ही रूप अच्छा लगता है। प्राणान्त होनेपर भी पन्थ दूसरोंके घड़ेको छूनेसे रोकता है।

पन्थ यद्यपि धर्ममेंसे ही उत्पन्न होता है और अपनेको धर्मका प्रचारक मानता है किन्तु हमेशा धर्मका घात ही करता रहता है। जैसे जीवित रुधिर और मांसमेंसे उगा हुआ नख जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे रुधिर और मांसको भी नुकसान पहुँचाता है। इस लिए जब बढ़े हुए नखको काट दिया जाता है तभी हाड़-पिंजर सुरक्षित रहते हैं। इसी प्रकार धर्मसे अलग पड़ा हुआ पन्थ, चाहे वह धर्ममेंसे ही पैदा हुआ हो, जब काटकर साफ कर दिया जाता है तभी मानव-समाज सुखी होता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि धर्म और पन्थमें किसी प्रकारका मेल है या नहीं, और यदि है तो किस तरहका? इसका उत्तर सरल है। जीवित नखको कोई नहीं काटता। यदि वह कट जाय तो दुःख होता है। रुधिर और मांसकी रक्षाको भी धक्का पहुँचता है। वे सड़ने लगते हैं। इसी प्रकार पन्थोंमें यदि धर्मका जीवन हो तो हजारों पन्थ भी बुरे नहीं हैं। जितने मनुष्य हैं, चाहे उतने ही पन्थ हो जायँ फिर भी लोगोंका कल्याण होगा। क्योंकि इसमें प्रकृतिभेद और दूसरी विशेषताओंके अनुसार हजारों भिन्नताएँ होने पर भी क्लेश नहीं होगा, प्रेम बना रहेगा। अभिमान नहीं होगा, नम्रता बनी रहेगी। शत्रुभाव नहीं होगा, मित्रता कायम रहेगी। उत्तेजितपना नहीं होगा, क्षमाभाव स्थिर रहेगा। पन्थ पहले थे, अब है और आगे भी रहेंगे। उनमें सुधारने या करने लायक इतना ही है कि उनसे अलग पड़े हुए धर्मके तत्त्वको फिरसे उनमें डाल दिया जाय। हम किसी भी पंथको मानें किन्तु उसमें धर्मके तत्त्वोंको सुरक्षित रखते हुए ही उसका अनुसरण करें। अहिंसाके लिए हिंसा न करें। सत्यके लिए असत्य न बोले। पंथमें धर्मके प्राण फूँकनेकी शर्त यही है कि हमारी दृष्टि सत्यका आग्रह करनेवाली बन जाय। संक्षेपमें सत्याग्रहीके लक्षण इस प्रकार हैं —

(१) हम स्वयं जिस बातको मानते या करते हों उसकी पूरी समझ होनी चाहिए। अपनी समझपर इतना विश्वास होना चाहिए कि दूसरेको स्पष्टता और दृढ़ताके साथ समझा सकें।

(२) अपनी मान्यताके विषयमे हमारी समझ तथा हमारा विश्वास यथार्थ है, इसकी कसौटी यही है कि दूसरेको समझाते समय हमें तनिक भी आवेश या क्रोध न आवे। दूसरेको समझाते समय अपनी मान्यताकी विशेषताके साथ यदि

कुछ त्रुटियाँ भी मालूम पड़ें तो उन्हें भी बिना संकोच स्वीकार करते जाना चाहिए।

(३) जिस प्रकार अपनी दृष्टि समझानेका धैर्य चाहिए उसी प्रकार दूसरेकी दृष्टि समझनेके लिए भी पूरी उदारता तथा तत्परता होनी चाहिए। एक वस्तुके विषयमें जितने पक्ष तथा जितने दृष्टिकोण हो सकें सभीकी समानता करके बलाबल जाननेकी वृत्ति होनी चाहिए। इतना ही नहीं यदि अपना पक्ष निर्बल और भ्रान्त मालूम पड़े, तो उसका त्याग करनेमें इतनी प्रसन्नता होनी चाहिए जितनी स्वीकार करते समय भी न हुई थी।

(४) सम्पूर्ण सत्य देश, काल अथवा संस्कारोंसे सीमित नहीं होता। इसलिए सारे पहलुओंमें जो खंडसत्य हैं, उन सबका समन्वय करनेकी वृत्ति होनी चाहिए।

पंथमें धर्म नहीं है, इसीलिए पन्थ समाज और राष्ट्रके लिए घातक बने हुए हैं। जहाँ समाज और राष्ट्रकी एकताका प्रश्न आता है वहींपर निष्प्राण पंथ आड़े आ जाते हैं। धर्मजनित पंथोंकी सृष्टि तो मानव-समाज तथा विश्व-मात्रको एक करनेके लिए हुई थी। इस कार्यको करनेका पंथ दावा भी करते हैं। किन्तु हम देख रहे हैं कि पन्थ ही हमारे एक होने और मिलनेमें रोड़ा अटका रहे हैं। पंथका अर्थ और कुछ नहीं उसका अर्थ है, धर्मके नामपर उत्पन्न तथा पुष्ट हुआ हमारे मानसिक संकुचितपनका मिथ्याभिमान। जब लोक-कल्याण या राष्ट्र-कल्याणके लिए एक सामान्य-सी बातको प्रचलित करना होता है तो पंथके जहरीले और संकुचित संस्कार आकर कहते हैं--सावधान! तुम ऐसा नहीं कर सकते। ऐसा करोगे तो धर्म रसातलमें चला जाएगा। लोग क्या समझेंगे और क्या कहेंगे! कोई दिगम्बर या श्वेताम्बर या अन्य कोई अपने पक्षको तरफसे चलनेवाले झगड़ेमें भाग न ले अथवा पैसा होनेपर भी उस झगड़ेके फंडमें दान देनेसे इन्कार करे, न्यायालयमें प्रभाव होनेपर भी साक्षी न बने, तो उसका पंथ उसके लिए क्या करेगा? मुसलमानोंका सारा जत्था हिन्दू मंदिरके पाससे ताजिया ले जा रहा हो और कोई सच्चा मुसलमान हिन्दुओंकी भावना न दुखानेके उद्देश्यसे दूसरे रास्ते ले जानेको कहे या गोहत्या करनेकी मनाही करे, तो उस मुसलमानके साथ उसके पंथवाले कैसा

व्यवहार करेंगे ? एक आर्य समाजका सभ्य कभी सच्ची दृष्टिसे मूर्तिके सामने बैठ जाय तो उसका समाज-पंथ उसके लिए क्या करेगा ? इस प्रकार पंथ सत्य और एकताके आड़े आ रहे हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि हम स्वयं पंथमय संस्कारके शस्त्रसे सत्य और एकताके साथ द्रोह कर रहे हैं। इसीलिए पंथका अभिमान करनेवाले तथा बड़े बड़े माने जानेवाले धर्मगुरु, पंडित या पुरोहित कभी आपसमें नहीं मिल सकते। वे कभी एकरस नहीं हो सकते, जब कि साधारण मनुष्य आसानीसे मिल-जुल सकते हैं। आप देखेंगे कि एकता और लोक कल्याणका दावा करनेवाले पंथके गुरु ही एक दूसरेसे अलग अलग रहते हैं। यदि धर्मगुरु एक हो जायँ अर्थात् एक दूसरेका आदर करने लगें, साथ मिलकर काम करें और झगड़े पैदा ही न होने दें, तो समझना चाहिए कि अब पंथमें धर्म आ गया है।

हमारा कर्तव्य है कि पंथोंमें धर्मको लावें। यदि ऐसा न हो सके तो पंथोंको मिटा दें। धर्मशून्य पंथकी अपेक्षा विना पंथका मनुष्य या पशु होना भी लोकहितकी दृष्टिसे अधिक अच्छा है। इसमें किसीको विवाद नहीं हो सकता।

[पर्युषण-व्याख्यानमाला, अहमदाबाद, १९३०। अनु० इन्द्रचन्द्र, एम० ए०]

———

धर्म और उसके ध्येयकी परीक्षा

शिक्षा सूर्यके प्रकाशके-समान है। दूसरी वस्तुओंका अंधकार दूर करनेसे ही इसे सन्तोष नहीं होता, यह तो अपने ऊपरके अधकारको भी सहन नहीं कर सकती। सची बात तो यह है कि शिक्षा अपने स्वरूप और अपने सभी अंगोंके संबंधमें पैदा हुए भ्रम या अस्पष्टतायें नहीं सह सकती। अपनी इसी एक शक्तिके कारण यह दूसरे विषयोंपर भी प्रकाश डाल सकती है। कुशल चिकित्सक पहले अपने ही दर्दकी परीक्षा करता है और तभी वह दूसरेके रोगोंकी चिकित्सा अनुभवसिद्ध बलसे करता है। मैकालेके मिनट (Minute-वक्तव्य) के अनुसार हिन्दुस्तानमें प्रचलित केवल क्लर्क उत्पन्न करनेवाली अँग्रेजी शिक्षाने पहले पहल अपनेसे ही सम्बद्ध भ्रान्तियोंको समझने और उन्हे दूर करनेके लिए सिर ऊँचा किया। और साथ ही इसी शिक्षाने धर्म, इतिहास, समाज, राजनीति आदि दूसरे विषयोंपर भी नई रीतिसे प्रकाश डालना शुरू किया। जिस विषयकी शिक्षा दी जाने लगती है उसी विषयकी, उस शिक्षाके संस्पर्शसे विचारणा जाग्रत होनेके कारण, अनेक दृष्टियोंसे परीक्षा होने लगती है।

धर्मका पिता, मित्र या उसकी प्रजा विचार ही है। विचार न हो तो धर्मकी उत्पत्ति ही संभव नहीं। धर्मके जीवन और प्रसारके साथ विचारका योग होता ही है। जो धर्म विचारोंको स्फुरित नहीं करता और उनका पोषण नहीं करता वह अपनी ही आत्माकी हत्या करता है। इसलिए धर्मके विषयमें विचारणा या उसकी परीक्षा करना, उसको जीवन देनेके बराबर है। परीक्षाकी भी परीक्षा यदि हो, तो वह अंतमें लाभकारक ही होती है। परीक्षाको भी भयके बंधन संभव है। जहाँ स्वेच्छाचारी राजतंत्र हो और शिक्षासंबंधी मीमांसासे उस तत्रको धक्का

लगनेका संभव हो वहाँ वैसी समालोचनाके सामने कानून और पुलिस जेलका द्वार बतानेके लिए खड़ी रहती है।

यह सत्य है कि धर्मकी परीक्षाको सद्भाग्यसे ऐसा भय नहीं है। इसके भयस्थान दूसरी ही तरहके है। परीक्षकमें पूरी विचार-शक्ति न हो, निष्पक्षता रखनेका पूरा बल न हो, और फिर उसकी परीक्षाका उचित मूल्य आँक सकनेवाले श्रोता न हों, तो यह परीक्षाका भयस्थान समझा जायगा। धर्म जैसे सूक्ष्म और विवादग्रस्त विषयकी परीक्षाका मुख्य भय-स्थान तो स्वार्थ है। अगर कोई स्वार्थकी सिद्धिके लिए या स्वार्थकी हानिके भयसे प्रेरित होकर धर्मकी मीमांसा शुरू करे, तो वह उसकी परीक्षाके प्रति न्याय नहीं कर सकेगा। इसलिए इस विषयमें हाथ डालते समय मनुष्यको सब तरफसे यथाशक्य सावधानी रखना अनिवार्य है अगर वह अपने विचारोंका कुछ भी मूल्य समझता है तो।

सबकी सद्गुणपोषक भावना

धर्मका समूल ध्वंस करनेके इच्छुक रूसी साम्यवादियोंसे यदि पूछा जाय कि क्या तुम दया, सत्य, संतोष, त्याग, प्रेम और क्षमा आदि गुणोंका नाश चाहते हो, तो वे क्या जवाब देंगे? साम्यवादियोंका कट्टरसे कट्टर विरोधी भी इस बातको सिद्ध नहीं कर सकता कि वे उपर्युक्त गुणोंका विनाश करना चाहते हैं और दूसरी तरफ धर्मप्राण कहलानेवाले धार्मिक सज्जनोंसे— किसी भी पंथके अनुयायियोंसे—पूछा जाय कि क्या वे असत्य, दम्भ, क्रोध, हिंसा, अनाचार आदि दुर्गुणोंका पोषण करना चाहते हैं या सत्य मैत्री वगैरह सद्गुणोंका पोषण करना चाहते है, तो मेरी धारणा है कि वे यही जवाब देंगे कि वे एक भी दुर्गुणका पक्ष नहीं करते बल्कि सभी सद्गुणोंका पोषण चाहते हैं। साथ ही साथ उन साम्यवादियोंसे भी उक्त दुर्गुणोंके विषयमें पूछ लिया जाय तो ठीक होगा। कोई भी यह नहीं कहेगा कि साम्यवादी भी दुर्गुणोंका पोषण करना चाहते हैं या वे उसीके लिए सब योजना करते हैं।—यदि धार्मिक कहलानेवाले कट्टरपन्थी और धर्मोच्छेदक माने जानेवाले साम्यवादी दोनों ही सद्गुणोंका पोषण करने और दुर्गुणोंको दूर करनेके विषयमें एकमत हैं और सामान्य रूपसे सद्गुणोंमें गिने जानेवाले गुणों और दुर्गुणोंमें गिने जानेवाले दोषोंके विषयमें भी दोनोंमें

मतभेद नहीं है, तो यह सवाल उठता है कि रूढिपन्थी और सुधारवादी इन दोनोंके बीच धर्म-रक्षा और धर्म-विच्छेदके विषयमे जो भारी खींचतान, मारामारी और विवाद दिखलाई पडता है उसका क्या कारण है? यह मत-भेद, यह तकरार, धर्म-नामकी किस वस्तुके विषयमें है?

मत-भेदके विषय

सद्वृत्ति या सद्वृत्तिजन्य गुण, जो मानसिक होनेके कारण सूक्ष्म हैं, उनकी धार्मिकताके विषयमे तो मत-भेद है ही नहीं। मत-भेद तो धर्मके नामसे प्रसिद्ध, धर्मरूपमे माने जानेवाले और धर्मके नामसे व्यवहारमे आनेवाले बाह्य आचरणों या बाह्य व्यवहारोंके विषयमें है। यह मत-भेद एक या दूसरे रूपमें तीव्र या तीव्रतर रूपमें उतना ही पुराना है जितना मनुष्य जातिका इतिहास। सामान्य रीतिसे मत-भेदके विषयरूप बाह्य नियमों, विधानो या कलापोंको तीन भागोमे बाँटा जा सकता है।

(१) वैयक्तिक नियम वे हैं जिनका मुख्य संबंध व्यक्तिकी इच्छासे है; जैसे कि खान पान स्नानादिके नियम। यदि एक श्रेणीके लोग कन्द-मूलको धर्मकी दृष्टिसे वर्ज्य मान कर खानेमें अधर्म समझते हैं तो दूसरे उसीको खाकर उपवास-धर्म समझते हैं। एक आदमी रात्रि होनेसे पहले खानेमे धर्म मानता है, दूसरा रात्रि-भोजनमें अधर्म नहीं समझता। एक व्यक्ति स्नानमें ही बडा भारी धर्म समझता है और दूसरा उसीमें अधर्म।

(२) कुछ सामाजिक बाह्य व्यवहार होते हैं जो धर्म रूपमे माने जाते हैं। एक समाज मंदिर बनानेमे धर्म मानकर उसके पीछे पूरी शक्ति लगाता है और दूसरा पूर्णरूपसे उसका विरोध करनेमें धर्म मानता है। फिर मन्दिरकी मान्यता रखनेवाले समाजमे भी विभिन्न विरोधी विचारवाले हैं। एक विष्णु, शिव या रामके सिवाय दूसरी मूर्तिको नमस्कार करने या पूजन करनेमें अधर्म बतलाता है, और दूसरा इन्हीं विष्णु शिव आदिकी मूर्तियोंका आदर करनेमें अधर्म मानता है। इतना ही नहीं किन्तु एक ही देवकी मूर्तियोंके नग्न और सवस्त्र स्वरूपमें भी भारी सामाजिक मत-भेद है। एक ही प्रकारके स्वरूपकी एक ही देवकी नग्न मूर्तिके माननेवालोंके बीच भी पूजाके तरीकोंमें कुछ कम मत-भेद नहीं हैं। एक

समाज पुरुषके एक साथ या क्रमसे किये हुए एकसे अधिक विवाहोंको तो अधर्म नहीं समझता परन्तु पालनेमें झूलती हुई बाल-विधवाके पुनर्विवाहके नाम मात्रसे ही काँप उठता है। एक कौम, हो सके वहाँ तक, दूरके गोत्रमें विवाह करना धर्म समझती है तो दूसरी कौम, हो सके वहाँ तक नजदीकके खानदानमें शादी करना श्रेष्ठ समझती है। एक समाज धर्मदृष्टिसे पशु-वधका समर्थन करता है तो दूसरा उसी दृष्टिसे उसका विरोध करता है।

(३) कुछ प्रथायें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध समस्त जनताके साथ होते हुए भी उनकी धार्मिकताके विषयमें तीव्र मतभेद उपस्थित होता है। इस समय किसी प्रत्यक्ष आक्रमणकारी दुश्मनका धावा सौभाग्यसे या दुर्भाग्यसे नहीं हो रहा है—अतः दुश्मनोंको मारनेमें धर्म है या अधर्म है, इस विषयकी चर्चा ब्रिटिश गवर्नमेंटने बन्द करके हमारा समय बचा दिया है, फिर भी प्लेगदेव जैसे रोगोंका आक्रमण तो होता ही है। उस समय इस रोगके दूत चूहोंको मारनेमें कोई सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे धर्म समझता है, और कोई अधर्म मानता है। जहाँ बाघ, सिंह वगैरह हिंसक प्राणियों या क्रूर जन्तुओंका उपद्रव होता है, वहाँ भी सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे उनका संहार करनेमें धर्माधर्मका प्रश्न खड़ा हो जाता है। एक वर्ग सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे किसी भी जलाशय या आम रास्तेको मल मूत्र आदिसे बिगाड़नेमें पाप मानता है, तो दूसरा वर्ग इस विषयमें केवल तटस्थ ही नहीं रहता बल्कि विरोधी व्यवहार करता है जिससे मालूम पड़ता है कि मानो वह उसमें धर्म समझता है।

यहाँ तो थोड़ेसे ही नमूने दिये गये हैं परन्तु अनेक तरहके छोटे बड़े क्रिया-कांडोंके अनेक भेद हैं जिनसे एक वर्ग बिलकुल धर्म मान कर चिपटे रहनेका आग्रह करता है तो दूसरा वर्ग क्रियाकांडोंको बन्धन समझ कर उनको उखाड़ फेंकनेमें धर्म समझता है। इस प्रकार हरेक देश, हरेक जाति और हरेक समाजमें बाह्य विधि-विधानों और बाह्य आचारोंके विषयमें उनके धर्म होने या न होनेकी दृष्टिसे बेशुमार मत-भेद हैं। इस लिए प्रस्तुत परीक्षा उपर्युक्त मतभेदोंके विषयपर ही चर्चा करनेकी है। हमने यह तो देखा है कि इन विषयोंमें अनेक मत-भेद हैं और वह घटते बढ़ते रहते हैं।

अधिक संख्यक लोगोंमें इन मतभेदोंके पूरे जोशके साथ प्रवर्तित होते हुए भी सदा कुछ व्यक्ति ऐसे मिल जाते हैं जिनको ये मत-भेद स्पर्श ही नहीं कर सकते। इससे यह सोचना प्राप्त होता है कि ऐसी कौन-सी बात है कि जिसको लेकर ऐसा बहुव्यापी मत-भेद भी थोड़ेसे इने-गिने लोगोंको स्पर्श नहीं करता और जिस तत्त्वको लेकर इन लोगोंको मतभेद स्पर्श नहीं करता वह तत्त्व पा लेना क्या दूसरे लोगोंके लिए शक्य नहीं है?

हमने ऊपर बतलाया है कि धर्मके दो स्वरूप हैं, पहला तात्त्विक जिसमें सामान्यतः किसीका मतभेद नहीं होता, अर्थात् वह है सद्गुणात्मक। दूसरा व्यावहारिक जिसमें तरह तरहके मतभेद अनिवार्य होते हैं, अर्थात् वह है बाह्य प्रवृत्तिरूप। जो तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके बीचके भेदको स्पष्ट रूपसे समझते हैं, जो तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके संबंधके विषयमें विचार करना जानते हैं, संक्षेपमें तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके उचित पृथक्करणकी और उसके बलाबलकी चाबी जिनको मिली है उनको व्यावहारिक धर्मके मत-भेद क्लेशवर्द्धक रूपमें स्पर्श नहीं कर सकते। इस प्रकारके पुरुष और स्त्रियाँ इतिहासमें हुई हैं और आज भी हैं। इसका सार यह निकला कि अगर धर्मके विषयकी सच्ची और स्पष्ट समझ हो, तो कोई भी मत-भेद क्लेशका कारण नहीं हो सकता। सच्ची समझ होना ही क्लेशवर्द्धक मत-भेदके निवारणका उपाय है और इस समझका तत्त्व, प्रयत्न किया जाय तो, मनुष्य जातिमें विस्तार किया जा सकता है। इस लिए ऐसी समझको प्राप्त करना और उसका पोषण करना इष्ट है। अब अपनेको यह देखना चाहिए कि तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके बीचमें क्या संबंध है?

शुद्ध वृत्ति और शुद्ध निष्ठा निर्विवाद रूपसे धर्म है जब कि बाह्य व्यवहारके धर्माधर्मत्वके विषयमें मतभेद है। इसलिए बाह्य आचारों, व्यवहारों, नियमों और रीति-रिवाजोंकी धार्मिकता या अधार्मिकताकी कसौटी तात्त्विक धर्म ही हो सकता है।

शुद्धाशुद्धनिष्ठा और उसके दृष्टान्त

जिन जिन प्रथाओं, रीति-रिवाजों और नियमोंकी उत्पत्ति शुद्ध निष्ठासे होती है उनको सामान्य रूपसे धर्म कहा जा सकता है और जो आचार शुद्धनिष्ठाजन्य

नहीं होते, उनको अधर्म कहना चाहिए। अपने अनुभवसे अपनी आत्मामें और सच्चे अनुमानसे दूसरोंमें भी देखा जा सकता है कि अमुक एक ही आचार कभी तो शुद्ध निष्ठासे उत्पन्न होता है और कभी अशुद्ध निष्ठासे। एक व्यक्ति जो आचरण शुद्ध निष्ठासे करता है, उसीको दूसरा व्यक्ति अशुद्ध निष्ठासे करता है। यदि एक वर्ग शुद्ध या शुभ निष्ठासे मंदिर-निर्माणके पीछे पड़कर लोगोंकी शक्ति समय और धन लगानेमें धर्म मानता है, तो दूसरा वर्ग उतनी ही बल्कि कई बार उससे भी अधिक शुभ या शुद्ध निष्ठासे मंदिर-निर्माणका विरोध करके उसके पीछे खर्च किये जानेवाले धन-जन-बलको दूसरी ही दिशामें खर्च करनेमें धर्म समझता है और तदनुसार आचरण करता है। एक वर्ग कदाचित् विधवा-बालाके हितार्थ ही उसके पुनर्विवाहका विरोध करता है, तो दूसरा वर्ग उस बालाका अधिकार समझकर उसके अधिकार-धर्मकी दृष्टिसे शुभ निष्ठापूर्वक उसके पुनर्विवाहकी हिमायतमें ही धर्म समझता है। एक वर्ग चूहों और दूसरे विषैले जन्तुओंकी, द्वेषभावसे नहीं, पर बहुजनहितकी दृष्टिसे शुभनिष्ठापूर्वक, हिंसाकी हिमायत करता है, तो दूसरा वर्ग बहुजनके जीवनाधिकारकी दृष्टिसे शुभनिष्ठापूर्वक ही उनकी हिंसाके विरोधमें धर्म समझता है। तात्पर्य यह कि बहुतसे रीति-रिवाजों और प्रथाओंके समर्थन या विरोधके पीछे बहुधा दोनों पक्षवालोंकी शुभनिष्ठाका होना संभव है।

यह तो जानी हुई बात है कि हजारों स्वार्थी जन सिर्फ अपनी अन्दरूनी स्वार्थ-वृत्ति और लोलुप अशुभ निष्ठाको लेकर ही मन्दिर तथा वैसी दूसरी संस्थाओंका समर्थन करते हैं, और तीर्थोंका माहात्म्य गाकर सिर्फ आजीविका प्राप्त करते हैं। अपनी किसी स्वार्थवृत्तिसे या प्रतिष्ठाके भूनके भयसे प्रेरित होकर विधवाके भले बुरेका विवेक किये विना ही केवल अशुभ निष्ठासे उसके पुनर्विवाहका समर्थन करनेवाले भी होते आये हैं, और इतनी ही या इससे भी अधिक अशुभ वृत्तिसे पुनर्विवाहका विरोध करने वाले भी मिल जाते हैं। मद्य मांस जैसे हेय पदार्थोंका भी शुभनिष्ठासे प्रसंग विशेष पर उपयोग करनेमें धर्म माना गया है, जब कि अशुभ निष्ठासे उनका त्याग करने या करानेका धर्म सिद्ध नहीं होनेके उदाहरण भी मिल सकते हैं।

इस तरह ऐसा कोई भी वैयक्तिक, सामाजिक या सार्वजनिक नियम, आचार, प्रथा या रीति-रिवाज नहीं है, जिसके विषयमें कोई समझदार प्रामाणिक मनुष्य ऐसा कह सके कि अमुक व्यवहार तीनों कालोंमें सबके लिए एक ही तरीकेसे शुभनिष्ठापूर्वक होना और अमुक व्यवहार अशुभनिष्ठापूर्वक होना ही संभव है।

परिणामसे ही बाह्य व्यवहारको धर्म मानना चाहिए

इतने विचारके बाद हम अपने निश्चयकी प्रथम भूमिकापर आ पहुँचते हैं कि कोई भी बाह्य व्रत-नियम आचार-विचार या रीति-रिवाज ऐसा नहीं है जो सबके लिए, समाजके लिए या एक व्यक्तिके लिए हमेशा धर्मरूप या अधर्मरूप ही कहा जा सके। इस प्रकारके व्यावहारिक गिने जानेवाले धर्मोंकी धार्मिकता या अधार्मिकता सिर्फ उन नियमोंके पालन करनेवालेकी निष्ठा और प्रामाणिक बुद्धिके ऊपर अवलंबित है। शुभ निष्ठासे किसीका प्राण बचानेके लिए उसपर होनेवाले शस्त्राघातको रोका जा सकता है और इससे भी ज्यादा शुभ निष्ठासे दूसरे वक्त उसके ऊपर वही शस्त्र चलाया जा सकता है। अशुभ निष्ठासे किसीके ऊपर शस्त्र चलानेकी बात तो जानी हुई है, पर इससे भी ज्यादा अशुभ निष्ठासे उसके पालन और पोषण करनेवाले भी होते हैं। सिंह और सर्प जैसे जीवोंको पाल कर उनकी स्वतन्त्रताके हरणसे आजीविका करनेवालोंको कौन नहीं जानता? परन्तु इससे भी ज्यादा अशुभ निष्ठासे लड़कियोंको पालन पोषण कर उनकी पवित्रताका बलिदान करके आजीविका करनेवाले लोग भी आज संस्कृत गिने जानेवाले समाजमें सुरक्षित हैं। इन सबसे सूचित यही होता है कि कोई भी व्यावहारिक बाह्य क्रिया-काण्ड सिर्फ इस लिए कि बहुतसे लोग उसका आचरण करते हैं, धर्म नहीं कहा जा सकता या उसको दूसरे लोग नहीं मानते या आचारमें नहीं लाते या उसका विरोध करते हैं, तो इन्हीं कारणोंसे वह अधर्म नहीं कहा जा सकता।

बहुत-से लोग कहते हैं कि बहुत दफा व्रत, नियम, क्रिया-काण्ड आदि शुभ-निष्ठामेंसे उत्पन्न न होने पर भी अभ्यासके बलसे शुभनिष्ठा उत्पन्न करनेमें कारण हो सकते हैं। इस लिए परिणामकी दृष्टिसे बाह्य व्यवहारको धर्म मानना चाहिए। इसका उत्तर मुश्किल नहीं है। कोई भी बाह्य व्यवहार ऐसा नहीं,

जो शुभनिष्ठा ही उत्पन्न करे । उलटा बहुत दफा तो ऐसा होता है कि अमुक बाह्य व्यवहारकी धर्मरूपमें प्रतिष्ठा जम जानेपर उसके आधारपर स्वार्थ पोषणका ही काम अधिकांशमें साधा जाता है । इसी लिए हम देखते हैं कि शुभ-निष्ठासे स्थापित की हुई मंदिर-संस्थाकी व्यवस्था करनेवाली धार्मिक पेढ़ियाँ अन्तमें स्वार्थ और सत्ताके पोषणकी साधन हो जाती हैं । इतना ही नहीं, परन्तु कभी कभी धर्म-भीरु दृष्टिसे पाई पाईका धार्मिक हिसाब रखनेवाले लोग भी धनके लोभमें फँसकर प्रसग आनेपर अपना धार्मिक कर्ज चुकाना भूल जाते हैं । शुभ निष्ठासे स्वीकार किये हुए त्यागीके वेशकी प्रतिष्ठा जम जानेपर और त्यागीके आचरणका लोकाकर्षण जम जानेपर उसी वेश और बाह्य आचरणके आधारपर अशुभ वृत्तियोके पोषणके उदाहरण भी कदम कदमपर मिलते रहते हैं । ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कोई भी व्यक्ति बाह्य नियमसे लाभ नहीं उठाता किन्तु बाह्य नियम लाभप्रद होता ही है, यह भी एकान्त सत्य नहीं है । इस लिए जिस तरह एकान्त-रूपमें शुद्ध-निष्ठाको, बाह्य व्यवहारका कारण नहीं माना जा सकता, उसी तरह उसको एकान्त रूपमें बाह्य व्यवहारका कार्य भी नहीं मान सकते । अतः कारणकी दृष्टिसे या फलकी दृष्टिसे किसी भी व्यवहारको एक ही व्यक्ति या समष्टिके वास्ते ऐकान्तिक धर्म होनेका विधान नहीं किया जा सकता । यही कारण है कि जैन शास्त्रोंमें और दूसरे शास्त्रोंमे भी, तात्त्विक धर्मको सबके लिए और सदाके वास्ते एकरूप मानते हुए भी व्यावहारिक धर्मको इस तरह नहीं माना गया ।

फिर भी यह प्रश्न होता है कि अगर व्यावहारिक आचार ऐकान्तिक धर्मके रूपमें संभव नहीं है तो जब उन आचारोंका कोई विरोध करता है और उसके स्थानपर दूसरे नियम और दूसरे आचार स्थापित करना चाहता है, तो पुराने आचारोंका अनुसरण करनेवालोंको क्यों बुरा लगता है ? और क्या उनकी भावनाको ठेस लगाना सुधारवादियोंके लिए इष्ट है ? जवाब स्पष्ट है । व्यावहारिक क्रियाकाण्डोंको भ्रमपूर्वक तात्त्विक धर्म मान लेनेवालोंका वर्ग हमेशा बड़ा होता है । वे लोग इन बाह्य क्रियाकाण्डोंके ऊपर होनेवाले आघातोंको भी तात्त्विक धर्मपर आघात माननेकी भूल किया करते हैं और इस भूलसे ही उनका दिल कष्ट पाता है । सुधारवादियोंका यह कर्तव्य है कि वे स्वयं जो समझते हों उसको स्पष्ट रूपसे रूढ़िवादियोंके सामने रखें । भ्रम दूर

हो जानेपर उन लोगोंका जो कष्ट है वह दूर हो जायगा और उसके स्थानपर सत्य दर्शनका आनन्द प्राप्त होगा।

देव, गुरु, धर्म तत्त्व

जैन परम्पराके अनुसार तात्त्विक धर्म तीन तत्त्वोंमें समाया हुआ है —देव, गुरु और धर्म। आत्माकी संपूर्ण निर्दोष अवस्थाका नाम देव तत्त्व, उस निर्दोषताको प्राप्त करनेको सच्ची आध्यात्मिक साधना गुरु तत्त्व और सब तरहके विवेकपूर्ण यथार्थ संयमका नाम धर्म तत्त्व। इन तीन तत्त्वोंको जैनत्वकी आत्मा कहना चाहिए। इन तत्त्वोंकी रक्षा करनेवाली और पोषण करनेवाली भावनाको उसका शरीर कहना चाहिए। देवतत्त्वको स्थूल रूप प्रदान करनेवाले मन्दिर, उनके अन्दरकी मूर्तियाँ, उनकी पूजा-आरती और उक्त संस्थाके निर्वाहके लिए आमदनीके साधन, उसकी व्यवस्थापक पेढ़ियाँ, तीर्थस्थान, ये सब देवतत्त्वकी पोषक भावना रूप शरीरके वस्त्र और अलंकार हैं। इसी प्रकार मकान, खान-पान रहन-सहन आदिके नियम तथा दूसरे प्रकारके विधि-विधान ये सब गुरुतत्त्वरूप शरीरके वस्त्र और अलंकार हैं। अमुक चीज न खानी, अमुक ही खानी, अमुक प्रमाणमें खाना, अमुक वक्त नहीं खाना, अमुक स्थानमें रहना, अमुकके प्रति अमुक रीतिसे ही व्यवहार करना, इत्यादि विधि-निषेधके नियम संयम तत्त्वके शरीरके कपड़े और जेवर हैं।

आत्मा, शरीर और उसके अंग

आत्माके बसने, काम करने और विकसित होनेके लिए शरीरकी सहायता अनिवार्य होती है। शरीरके बिना वह कोई व्यवहार सिद्ध नहीं कर सकता। कपड़े शरीरकी रक्षा करते हैं और अलंकार उसकी शोभा बढ़ाते हैं, परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि एक ही आत्मा होते हुए भी उसके अनादि जीवनमें शरीर एक नहीं होता। वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। अगर इस बातको छोड़ भी दिया जाय, तो भी पुराने शरीरका त्याग और नये शरीरकी स्वीकृति सांसारिक आत्म-जीवनमें अनिवार्य है। कपड़े शरीरकी रक्षा करते हैं, परन्तु यह एकान्त सत्य नहीं है। बहुत-बार कपड़े उलटे शरीरकी विकृतिका कारण होनेसे त्याज्य हो जाते हैं और जब रक्षा करते हैं तब भी शरीरके ऊपर वे एक जैसे नहीं रहते। शरीरके प्रमाणसे छोटे बड़े करने और बदलने पड़ते हैं। अक्सर

एक मापका कपड़ा भी मैला, पुराना या जन्तुमय हो जानेपर बदलना पड़ता है या साफ करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त बिना कपड़ेके भी शरीर निरोग रह सकता है बल्कि इस स्थितिमें तो ज्यादा निरोगपना और स्वाभाविकपना शास्त्रमें कहा गया है। इससे विपरीत कपड़ोका संभार तो आरोग्यका विनाशक और दूसरे कई तरीकोंसे नुकसानकारक भी सिद्ध हुआ है। गहनोंका तो शरीररक्षा और पुष्टिके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। कपड़े और गहनोंको अपेक्षा जिसका आत्माके साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है और जिसका सम्बन्ध अनिवार्य रीतिसे जीवनमें आवश्यक है, उस शरीरके विषयमें भी ध्यान खींचना जरूरी है। शरीरके अनेक अंगोंमें हृदय, मस्तिष्क, और नाभि आदि ध्रुव अंग हैं। इनके अस्तित्वपर ही शरीरका अस्तित्व है। इनमेंसे कोई अंग गया कि जीवन समाप्त। परन्तु हाथ, पैर, कान, नाक, आदि जरूरी अंग होते हुए भी ध्रुव नहीं हैं—उनमें बिगाड़ या अनिवार्य दोष उत्पन्न होनेपर उनके काट देनेसे ही शरीर सुरक्षित रहता है। आत्मा, शरीर, उसके ध्रुव-अध्रुव अङ्ग, वस्त्र, अलंकार इन सबका पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, वे एक दूसरेसे कितने नजदीक अथवा कितने दूर हैं, कौन अनिवार्य रूपसे जीवनमें जरूरी हैं और कौन नहीं, जो यह विचार कर सकता है उसको धर्म-तत्त्वकी आत्मा, उसके शरीर और उसके वस्त्रालंकार-रूप बाह्य व्यवहारोंके बीचका पारस्परिक सम्बन्ध, उनका बलाबल और उनकी कीमत शायद ही समझानी पड़े।

धर्मनाशका भय

इस समय यदि कोई धर्मके कपड़े और गहनेस्वरूप बाह्य व्यवहारोंको बदलने, उनमें कमी करने, सुधार करने और जो निकम्मे हों उनका विच्छेद कर देनेकी बात करता है, तो एक वर्ग बौखला उठता है कि यह तो देव, गुरु और धर्म तत्त्वके उच्छेद करनेकी बात है। इस वर्गकी बौखलाहट एक बालक और युवतीकी तरह है। बालकके शरीरसे मैले और नुकसानदेह कपड़े उतारते समय वह चिल्लाता है—' अरे मुझे मार डाला। ' सौन्दर्यको पुष्ट करनेके लिए या परंपरासे चली आती हुई भावनाके कारण सुरक्षा-पूर्वक बढाये हुए और सँभाल कर रखे हुए बालोंको जब उनकी जड़में कोई बड़ी भारी सड़न हो

जानेसे काटा जाता है तो उस समय युवती भी केश-मोह-वश चिल्ला उठती है 'अरे मुझे मार डाला, काट डाला।' धर्मरक्षकोंकी चिल्लाहट क्या इसी प्रकारकी नहीं है?

प्रश्न होगा कि क्या तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मका संबंध और उसका बलाबल रूढिपन्थी विद्वान् गिने जानेवाले आचार्यसम्राट् (?) नहीं जानते?

यदि उनकी चिल्लाहट सच्ची हो, तो जवाब यह है कि या तो वे जानते नहीं, और यदि जानते हैं तो इतने असहिष्णु हैं कि उसके आवेशमें समभाव खोकर बाह्य व्यवहारके परिवर्तनको तात्त्विक धर्मका नाश कह देनेकी भूल कर बैठते हैं। मुझे तो इस प्रकारकी बौखलाहटका कारण यही लगता है कि उनके जीवनमें तात्त्विक धर्म तो रहता नहीं और व्यवहारिक धर्मकी लोकप्रतिष्ठा तथा उसके प्रति लोगोंकी भक्ति होनेसे किसी भी त्याग या अर्पण या किसी भी तरहके कर्तव्य या ज़वाबदारीके बिना सुखी और आलसी जीवन निर्वाह करनेकी उनकी आदत पड़ जाती है, और इस लिए वे इस जीवन और इस आदतको सुरक्षित रखनेके लिए ही स्थूल-दर्शी लोगोंको उत्तेजित कर होहल्ला मचानेका काम जाने अजाने करने लगते हैं।

रूढिवादी धर्माचार्य और पंडित एक तरफ़ तो खुदके धर्मको त्रिकालाबाधित और शाश्वत कहकर सदा ध्रुव मानते और मनवाते हैं और दूसरी तरफ कोई उनकी मान्यताके विरुद्ध विचार प्रकट करता है तो फौरन धर्मके विनाशकी चिल्लाहट मचा देते हैं। यह कैसा 'वदतो व्याघात' है? मैं उन विद्वानोंसे कहता हूँ कि यदि तुम्हारा धर्म त्रिकालाबाधित है, तो सुखसे सौड़ तानकर सोये रहो, क्योंकि तुम्हारी मनसे किसीके कितने ही प्रयत्न करने पर भी उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं होना और यदि तुम्हारा धर्म विरोधीके विचार मात्रसे नाशको प्राप्त हो जाने जितना कोमल है तो तुम्हारे हजार चौकी पहरा रखते हुए भी नष्ट हो जायगा। कारण, विरोधी विचार तो किसी न किसी दशामें होंगे ही—इस लिए तुम धर्मको त्रिकालाबाधित मानो या विनश्वर मानो, तुम्हारे लिए तो सभी स्थितियोंमें होहल्ला मचानेका प्रयत्न निकम्मा है।

धर्मके ध्येयकी परीक्षा

धर्मके ध्येयकी परीक्षा भी धर्म-परीक्षाके साथ अनिवार्य रूपसे संबद्ध है।

इसलिए अब इस उत्तरार्धपर आना चाहिए । हरेक देशमें अपनेको आस्तिक माननेवाले या मनवानेवाला वर्ग, चार्वाक जैसे केवल इहलोकवादी या प्रत्यक्ष सुखवादी लोगोंसे कहता आया है कि तुम नास्तिक हो। क्यों कि तुम वर्तमान जन्मके उस पार किसीका अस्तित्व नहीं माननेके कारण कर्म-वाद और उससे फलित होनेवाली सारी नैतिक धार्मिक जवाबदेहियोंसे इनकार करते हो। तुम मात्र वर्तमान जीवनको और वह भी अपने ही जीवनकी स्वार्थी संकीर्ण दृष्टि रखकर सामाजिक और आध्यात्मिक दीर्घदर्शितावाली जवाबदेहीके बंधनोंकी उपेक्षा करते हो, उनसे इंकार करते हो और वैसा करके केवल पारलौकिक ही नहीं, ऐहिक जीवन तककी सुव्यवस्थाका भंग करते हो। इसलिए तुम्हें सिर्फ आध्यात्मिक हितके लिए भी नास्तिकतासे दूर रहना चाहिए। इस प्रकार आस्तिक गिने जानेवाले वर्गका प्रत्यक्षवादी चार्वाक जैसे लोगोंके प्रति आक्षेप या उपदेश होता है। इसके आधारसे कर्मसिद्धान्तवादी कहो, आत्म-वादी कहो, या परलोकवादी कहो, उनका क्या सिद्धान्त है, यह अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

कर्म-वादीका सिद्धान्त यह है कि जीवन सिर्फ वर्तमान जन्ममें ही पूरा नहीं हो जाता। वह पहले भी था और आगे भी रहेगा। ऐसा कोई भी भला या बुरा, स्थूल या सूक्ष्म, शारीरिक या मानसिक परिणाम जीवनमें नहीं उत्पन्न होता जिसका बीज उस व्यक्तिके द्वारा वर्तमान या पूर्व जन्ममें न बोया गया हो। इसी तरह एक भी स्थूल या सूक्ष्म मानसिक, वाचिक या कायिक कर्म नहीं है कि जो इस जन्ममें या पर जन्ममें परिणाम उत्पन्न किये विना विलुप्त हो जाय। कर्मवादीकी दृष्टि दीर्घ इस लिए है कि वह तीनों कालोंको व्याप्त करती है, जब कि चार्वाककी दृष्टि दीर्घ नहीं है क्यों कि वह सिर्फ वर्तमानको स्पर्श करती है। कर्मवादीकी इस दीर्घ दृष्टिसे फलित उसकी वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक या विश्वीय जवाबदारियों और नैतिक बंधनोंमें, और चार्वाककी अल्प दृष्टिसे फलित होनेवाली जवाबदारियों और नैतिक बंधनोंमें बड़ा अन्तर है। यदि यह अन्तर बराबर समझ लिया जाय और उसका अंशमात्र भी जीवनमें उतारा जाय तब तो कर्मवादियोंका चार्वाकके प्रति आक्षेप सच्चा गिना जाय और चार्वाकके धर्म-ध्येयकी अपेक्षा कर्म-वादीका धर्म-ध्येय उन्नत और ग्राह्य है—यह जीवन-व्यवहारसे मान लिया जाय।

अब हमे यह देखना है कि व्यवहारमें कर्मवादी चार्वाकपन्थीकी अपेक्षा कितना ऊँचा जीवन बिताता है और अपने संसारको कितना अधिक सुन्दर और कितना अधिक भव्य बनाना या रचना जानता है।

यों चर्चामें एक पक्ष दूसरेको चाहे जो कहे, उसको कोई नहीं रोक सकता। किन्तु सिर्फ कहने मात्रसे कोई अपना बड़ापन साबित नहीं कर सकता। बड़े छोटेकी जाँच तो जीवनसे ही होती है। चार्वाक-पन्थी तुच्छ दृष्टिको लेकर परलोक नहीं मानते जिससे वे अपनी आत्मिक जवाब-दारी और सामाजिक जवाबदारीसे भ्रष्ट रहकर सिर्फ अपने ऐहिक सुखकी संकीर्ण लालसामें एक दूसरेके प्रतिकी सामाजिक जवाबदारियाँ अदा नहीं करते। उससे व्यवहार लँगड़ा हो जाता है। ऐसा हो सकता है कि चार्वाकपंथी जहाँ अपने अनुकूल हो, वहाँ दूसरोंसे सहायता ले ले, मा-बापकी विरासत पचा ले और म्युनिसिपेलिटीकी सामग्रीको भोगनेमें जरा भी पीछे नहीं रहे, सामाजिक या राजकीय लाभोंका लेश मात्र भी त्याग न करे। परन्तु जब उन्हीं मा-बापोंके पालने पोषनेका सवाल आवे तब उपेक्षाका आश्रय ले ले। म्युनिसिपालटीके किसी नियमका पालन अपने सिरपर आ जाय तब चाहे जिस बहानेसे निकल जाय। सामाजिक या राष्ट्रीय आपत्तिके समय कुछ कर्त्तव्य प्राप्त होनेपर पेट दुखनेका बहाना करके पाठशालासे बच निकलने-वाले बालककी तरह, किसी न किसी रीतिसे छुटकारा पा जाय और इस तरह अपनी चार्वाक दृष्टिसे कौटुम्बिक, सामाजिक, राजकीय सारे जीवनको लँगड़ा बनानेका पाप करता रहे। यह है उसकी चार्वाकताका दुष्परिणाम।

अब अपनेको पर-लोक-वादी आस्तिक कहनेवाले और अपने आपको बहुत श्रेष्ठ माननेवाले वर्गकी तरफ ध्यान दीजिए। अगर कर्म-वादी भी अपनी कौटुम्बिक, सामाजिक और राजकीय सारी जिम्मेदारियोंसे छूटता दिखाई पड़े, तो उसमें और चार्वाकमें क्या अन्तर रहा? व्यवहार तो दोनोंने ही बिगाड़ा। हम देखते हैं कि कुछ खुदमतलबी अपने आपको खुल्लमखुल्ला चार्वाक कहकर प्राप्त हुई जिम्मेदारियोंके प्रति सर्वथा दुर्लक्ष करते हैं। पर साथ ही हम देखते हैं कि कर्मवादी भी प्राप्त जवाबदारियोंके प्रति उतनी ही उपेक्षा बतलाते है। बुद्धिसे परलोकवाद स्वीकार करनेपर भी और वाणीसे उसका उच्चारण करनेपर भी उनमें

परलोक-वाद तो नाम मात्रका ही रहता है। इसका कारण पर-लोकवादको धर्मके ध्येयमें स्थान देनेपर भी उसकी जो गैर-समझ रहती है, वह है। चार्वाककी गैरसमझ तो संकीर्ण दृष्टितक ही है परन्तु पर-लोकवादीकी गैरसमझ उससे दुगुनी है। वह बोलता तो है दीर्घदृष्टिकी तरह और व्यवहार करता है चार्वाककी तरह।—अतः एकमें अज्ञान है तो दूसरेमें विपर्यास।

विपर्यासके परिणाम

इस विपर्याससे पर-लोकवादी स्वात्माके प्रति सचाईसे सोचने और सच्चा रहकर तदनुसार अपना जीवन बनानेकी जवाबदारीका तो पालन नहीं करता परन्तु जब कौटुम्बिक, सामाजिक वगैरह जवाबदारियाँ उपस्थित होती हैं तब वर्तमान जन्म क्षण-भंगुर है—यहाँ कोई किसीका नहीं है—सब स्वार्थी भरे हुए हैं, यह सब मेला बिखरनेवाला है, जो भाग्यमें लिखा होगा उसे कौन मिटा सकता है, अपना हित साधना अपने हाथमें है। यह हित पर-लोक सुधारनेमें है और परलोक सुधारनेके लिए इस जगतकी प्राप्त हुई सभी वस्तुएँ फेंकने योग्य है। इस प्रकारकी विचार-धारामें पड़कर, पर-लोककी धुनमें वह मनुष्य इन जवाबदारियोंकी उपेक्षा करता है। इस प्रकारकी ऐकान्तिक धुनमें वह भूल जाता है कि उसके परलोकवादके सिद्धान्तके अनुसार उसका वर्तमान जन्म भी तो परलोक ही है और उसकी अगली पीढ़ी भी परलोक है, प्रत्यक्ष उपस्थित अपने सिवायकी सृष्टि भी परलोकका ही एक भाग है। इस भूलके संस्कार भी कर्मवादके नियमानुसार उसके साथ जाएँगे। जब वह किसी दूसरे लोकमें अवतरित होगा, या इसी लोकमें नयी पीढ़ीमें जन्म लेगा, तब उसका परलोक सुधारने और सारा वर्तमान फेंक देनेका संस्कार जागेगा और फिर वह यही कहेगा कि परलोक ही धर्मका ध्येय है। धर्म तो परलोक सुधारनेको कहता है, इसलिए ऐहिक सुधारना या ऐहिक जवाबदारियोंमें बँध जाना तो धर्मद्रोह है। ऐसा कहकर वह प्रथमकी अपेक्षासे परलोक किन्तु अभीकी अपेक्षासे वर्तमान, इस जन्मकी उपेक्षा करेगा और दूसरे ही परलोक और दूसरे ही जन्मको सुधारनेकी धुनमें पागल होकर धर्मका आश्रय लेगा। इस संस्कारका परिणाम यह होगा कि प्रथम माना हुआ परलोक ही वर्तमान जन्म बनेगा और तब वह धर्मके परलोक सुधारनेके ध्येयको

पकड़कर इस प्राप्त हुए परलोककी उपेक्षा करेगा और बिगाड़ेगा। इस तरह धर्मका ध्येय परलोक है, इस मान्यताकी भी गैरसमझका परिणाम चार्वाकके परलोकवादकी अस्वीकृतिकी अपेक्षा कोई दूसरा होना संभव नहीं।

यदि कोई कहे कि यह दलील बहुत खींच-तानकी है तो हमें उदाहरणके लिए दूर जानेकी जरूरत नहीं है। जैन समाज आस्तिक गिना जाता है, परलोक सुधारनेका उसका दावा है और उसके धर्मका ध्येय परलोक सुधारनेमें ही पूर्ण होता है, ऐसा वह गर्वपूर्वक मानता है।

परन्तु अगर हम जैन समाजकी प्रत्येक प्रवृत्तिका बारीकीके साथ अभ्यास करेंगे तो देखेंगे कि वह परलोक तो क्या साधेगा चार्वाक जितना इहलोक भी नहीं साध सकता।

एक चार्वाक मुसाफिर गाड़ीमें बैठा। उसने अपने पूरे आरामके लिए दूसरोंकी सुविधाकी बलि देकर, दूसरोंको अधिक असुविधा पहुँचा कर पर्याप्तसे भी अधिक जगह घेर ली। थोड़ी देर बाद उतरना होगा और यह स्थान छोड़ना पड़ेगा, इसका उसने कुछ भी ख्याल नहीं किया। इसी तरह दूसरे मौकोंपर भी वह सिर्फ अपने आरामकी धुनमें रहा और दूसरोंके सुखकी बलि देकर सुखपूर्वक सफर करता रहा। दूसरा पैसेंजर परलोकवादी जैन जैसा था। उसको जगह तो मिली जितनी चाहिए उससे भी ज्यादा, पर थी वह गन्दी। उसने विचार किया कि अभी ही तो उतरना है, कौन जाने दूसरा कब आ जाय, चलो, इसीसे काम चला लो। सफाईके लिए माथा-पच्ची करना व्यर्थ है। इसमें वक्त खोनेके बदले ‘ अरिहन्त ’ का नाम क्यों ही न लें, ऐसा विचार कर उसने उसी जगहमें वक्त निकाल दिया। दूसरा स्टेशन आया, स्थान बदलनेपर दूसरी जगह मिल गई। वह थी तो स्वच्छ पर बहुत सँकरी। प्रयत्नसे अधिक जगह की जा सकती थी। परन्तु दूसरोंके साथ वादविवाद करना परलोककी मान्यताके विरुद्ध था। सो वहाँ फिर परलोकवाद आ गया—भाई, रहना तो है थोड़ी देरके लिए, व्यर्थकी माथापच्ची किस लिए? ऐसा कहके वहाँ भी उसने अरिहन्तका नाम लेकर वक्त निकाला। इस तरह उसकी लम्बी और अधिक दिनोंकी रेलकी और जहाजकी सारी मुसाफिरी पूरी हुई। आराम मिला या कष्ट—जहाँ उसको कुछ भी करनेकी जरूरत पड़ी—वहीं उसके परलोकवादने हाथ पकड़ लिया—और इष्ट स्मरणके लिए सावधान कर दिया।

हम इन दोनों मुसाफिरोंके चित्र सदैव देखते हैं। इस परसे यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रथम चार्वाककी अपेक्षा दूसरा परलोकवादी पैसेंजर बढ़ा-चढ़ा है। एकने जब कि संकीर्ण दृष्टिसे सबके प्रतिकी जिम्मेदारियोंका भंग कर कमसे कम अपना आराम तो साधा और वह भी अखीर तक, तब दूसरेने प्रयत्न किये बिना यदि आराम मिला तो रसपूर्वक उसका आस्वादन किया, परन्तु जहाँ जहाँ अपने आरामके लिए और दूसरोंकी बेआरामीको दूर करनेके लिए प्रयत्न करनेका प्रसग आया वहाँ वहाँ परलोक और आगेका श्रेय साधनेके निरे भ्रममे चार्वाककी अपेक्षा भी अधिक जवाबदारियोंका भंग किया। यह कोई रूपक नहीं है, प्रतिदिन होनेवाले व्यवहारकी बात है। लड़का वयस्क होकर माता पिताकी विरासत पानेके लिए तो उत्सुक हो जाता है, किन्तु माता पिताकी सेवाका प्रसग आनेपर उसके सामने परलोकवादियोंके उपदेश शुरू हो जाते है। 'अरे मूर्ख! आत्माका हित तो कर ले, माता पिता तो प्रपच है।' ये महाशय फिर परलोक सुधारने चलते हैं और वहाँ फिर वही गैर जवाबदारीका अनवस्था-चक्र चलना शुरू हो जाता है।

कोई युवक सामाजिक जवाबदारीकी तरफ झुकता है तो परलोकवादी गुरु कहते हैं—'जात-पाँतके बधन तोड़कर तू उसको विशाल बनानेकी बातमें तो पड़ा है, पर कुछ आत्माका भी विचार करता है? परलोकको देख। इस प्रपंचमें क्या रखा है?' वह युवक गुरुकी बात सर्वथा न माने तो भी भ्रमवश हाथमें लिया हुआ काम तो प्रायः ही छोड़ देता है। कोई दूसरा युवक वैधव्यके कष्ट निवारणार्थ अपनी सारी संपत्ति और सामर्थ्यका उपयोग एक विधवाके पुनर्विवाहके लिए करता है या अस्पृश्योंको अपनाने और अस्पृश्यताके निवारणमें करता है, तो आस्तिक-रत्न गुरुजी कहते हैं—'अरे विषयके कीड़े, ऐसे पापकारी विवाहोंके प्रपञ्चमे पडकर परलोक क्यो बिगाड़ता है?' और वह बेचारा भ्रान्त होकर मौन लेकर बैठ जाता है। गरीबोंकी व्यथा दूर करनेके लिए राष्ट्रीय खादी जैसे कार्यक्रममें भी किसीको पड़ता देखकर धर्मत्राता गुरु कहते हैं—'अरे यह तो कर्मोंका फल है। जिसने जैसा किया, वह वैसा भोगता है। तू तो तेरा सँभाल। जिसने आत्माको साध लिया, उसने सब साध लिया। परलोक जैसा उच्च ध्येय होना चाहिए।' ऐसे उपदेशसे यह युवक भी कर्त्तव्यसे च्युत हो जाता है। हम इस तरहके कर्तव्य-भ्रंश समाज समाज और घर घरमें

देखते हैं। गृहस्थोंकी ही बात नहीं, त्यागी गिने-जानेवाले धर्मगुरुओंमें भी कर्त्तव्य-पालनके नामपर शून्य है। तब चार्वाक धर्म या उसके ध्येयको स्वीकार करनेसे जो परिणाम उपस्थित होता है वही परिणाम परलोकको धर्मका ध्येय माननेसे भी नहीं हुआ, ऐसा कोई कैसे कह सकता है? यदि ऐसा न होता तो हमारे दीर्घदर्शी गिने जानेवाले परलोकवादी समाजमें आत्मिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जवाबदारियोंके ज्ञानका अभाव न होता।

चाहे कर्ज लेकर भी घी पीनेकी मान्यता रखनेवाले प्रत्यक्षवादी स्वसुख-वादी चार्वाक हों चाहे परलोकवादी आस्तिक हों, यदि उन दोनोंमें कर्तव्यकी योग्य समझ, जवाबदारीका आत्म-भान और पुरुषार्थकी जागृति जैसे तत्त्व न हों, तो दोनोंके धर्मध्येय सम्बन्धी वादमें चाहे कितना ही अन्तर हो, उन दोनोंके जीवनमें या वे जिस समाजके अंग हैं, उस समाजके जीवनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। बल्कि ऐसा होता है कि परलोकवादी तो दूसरेके जीवनको बिगाड़नेके अलावा अपना जीवन भी बिगाड़ लेता है, जब कि चार्वाकपन्थी अधिक नहीं तो अपने वर्तमान जीवनका तो थोड़ा सुख साध लेता है। इसके विपरीत अगर चार्वाक-पंथी और परलोकवादी दोनोंमें कर्तव्यकी योग्य समझ, जवाबदारीका भान और पुरुषार्थकी जागृति बराबर बराबर हो, तो चार्वाककी अपेक्षा परलोकवादीका विश्व अधिक संपूर्ण होनेकी या परलोकवादीकी अपेक्षा चार्वाकपन्थीकी दुनियाके निम्न होनेकी कोई संभावना नहीं है।

धर्मका ध्येय क्या हो?

ध्येय चाहे जो हो, जिनमें कर्तव्य और जवाबदारीका भान और पुरु-षार्थकी जागृति अधिक है, वे ही दूसरोंकी अपेक्षा अपना और अपने समाज या राष्ट्रका जीवन अधिक समृद्ध या सुखी बनानेवाले हैं। कर्तव्य और जवाब-दारीके भान वाले और पुरुषार्थकी जागृतिवाले चार्वाक सदृश लोग भी दूसरे पक्षके समाज या राष्ट्रके जीवनकी बनिस्बत अपने समाज और राष्ट्रका जीवन खूब अच्छा बना लेते हैं, इसके प्रमाण हमारे सामने हैं। इसलिए धर्मके ध्येय रूपमें परलोकवाद, कर्मवाद, या आत्मवाद दूसरे वादोंकी अपेक्षा अधिक संपूर्ण या बढ़ा हुआ है, ऐसा हम किसी भी तरहसे साबित नहीं कर

सकते। ऐसी स्थितिमें परलोक सुधारनेको धर्मका ध्येय माननेकी जो प्रवृत्ति चली आई है, वह बराबर नहीं है, यह स्वीकार करना होगा।

तब प्रश्न होगा कि धर्मका ध्येय क्या होना चाहिए? किस वस्तुको धर्मके ध्येयरूपसे सिद्धान्तमें, विचारमें, और वर्तनमें स्थान देनेसे धर्मकी सफलता और जीवनकी विशेष प्रगति साधी जा सकती है?

इसका जवाब ऊपरके विवेचनमें ही मिल जाता है और वह यह कि प्रत्येकको अपने वैयक्तिक और सामूहिक कर्तव्यका ठीक भान, कर्तव्यके प्रति रही हुई जिम्मेवारीमें रस और उस रसको मूर्त करके दिखानेवाली पुरुषार्थकी जागृति, इसीको धर्मका ध्येय मानना चाहिए।

यदि उक्त तत्त्वोंको धर्मका ध्येय मानकर उनपर जोर दिया जाय, तो प्रजाका जीवन समग्र रूपमें बदल जाय। धर्म तात्त्विक हो या व्यावहारिक, यदि उक्त तत्त्व ही उसके ध्येय-रूपमें स्वीकृत किये जायँ और प्रत्यक्ष सुखवाद या परलोकसुधारवादका स्थान गौण कर दिया जाय, तो मनुष्य चाहे जिस पक्षका हो वह नवजीवन बनानेमें किसी भी तरहकी विसंगतिके बिना अपना योग देगा, और इस तरहका ध्येय स्वीकार किया जायगा तो जैन समाजकी भावी सन्तति सब तरहसे अपनी योग्यता दिखला सकेगी।

इस ध्येयवाला भावी जैन पहले अपना आत्मिक कर्तव्य समझकर उसमें रस लेगा। इससे वह अपनी बुद्धिकी विशुद्धि और विकासके लिए अपनेसे हो सकनेवाली सारी चेष्टा करेगा और अपने पुरुषार्थको जरा भी गुप्त न रखेगा। क्यों कि वह यह समझ लेगा कि बुद्धि और पुरुषार्थके द्रोहमें ही आत्मद्रोह और आत्मकर्तव्यका द्रोह है। वह कुटुम्बके प्रति अपने छोटे बड़े समग्र कर्तव्य और जवाबदारियाँ अदा करनेमें अपने जीवनकी सफलता समझेगा।

इस तरह उसके जीवनसे उसकी कुटुम्बरूपी घड़ी बिना अनियमितताके बराबर चलती रहेगी। वह समाज और राष्ट्रके प्रति प्रत्येक जवाबदारीके पालनमें अपना महत्व मानेगा और इस लिए समाज और राष्ट्रके अभ्युदयके मार्गमें उसका जीवन बहुत मददगार होगा।

जैन समाजमें एकाश्रम संस्था अर्थात् त्यागाश्रम संस्थाके ऊपर ही मुख्य भार देनेके कारण अधिकारका विचार उपेक्षित रह जाता है और उससे जीवनमें

विशृङ्खलता दिखाई देती है। उसके स्थानमें अधिकारस्वरूप आश्रम-व्यवस्था उक्त ध्येयका स्वीकार करनेसे अपने आप सिद्ध हो जायगी। इस दृष्टिसे विचार करते हुए मुझे स्पष्ट मालूम होता है कि यदि आजकी नव सन्तति दूसरे किसी भी वादविवादमें न पड़कर अपने समस्त कर्तव्यों और उनकी जवाबदारियोंमें रस लेने लग जाय, तो हम थोड़े ही समयमें देख सकेंगे कि पश्चिमके या इस देशके जिन पुरुषोंको हम समर्थ मान कर उनके प्रति आदरवृत्ति रखते हैं, उन्हीकी पंक्तिमें हम भी खड़े हो गये हैं।

यहाँ एक प्रश्नका निराकरण करना ज़रूरी है। प्रश्न यह है कि चार्वाक दृष्टि सिर्फ प्रत्यक्ष-सुख-वादकी है और वह भी सिर्फ स्वसुखवादकी। इस लिए उसमें सिर्फ अपने ही सुखका ध्येय रखनेके कारण दूसरोंके प्रति भी सामूहिक जिम्मेवारीको, चाहे वह कौटुम्बिक हो या सामाजिक, कहाँ स्थान है, जैसा कि परलोकवादमें होना संभव है। चार्वाकके लिए तो अपने संतोष पर ही सबका संतोष और 'आप मुए, डूब गई दुनिया' वाला सिद्धान्त है। पर इसका खुलासा यह है कि केवल प्रत्यक्षवादमें भी जहाँ अपने स्थिर और पक्के सुखका विचार आता है वहाँ कौटुम्बिक, सामाजिक आदि जवाबदारियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जबतक दूसरेके प्रति जवाबदारी न समझी जाय और न पाली जाय तबतक केवल अपना ऐहिक सुख भी नहीं साधा जा सकता। दुनियाका कोई भी सुख हो, वह पर-सापेक्ष है। इस लिए दूसरोंके प्रति व्यवहारकी समुचित व्यवस्था किये बिना केवल अपना ऐहिक सुख भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस लिए जिस तरह परलोक-दृष्टिमें उसी तरह केवल प्रत्यक्ष-वादमें भी सभी जिम्मेदारियोंको पूरा स्थान है।

[पर्युषण-व्याख्यानमाला, बम्बई, १९३६]

आस्तिक और नास्तिक

बहुत प्राचीन कालमें जब आर्य ऋषियोंने पुनर्जन्मकी शोध की, तब पुनर्जन्म-के विचारके साथ ही उनके मनमें कर्मके नियम और इहलोक तथा परलोककी कल्पना भी आविर्भूत हुई। कर्मतत्त्व, इहलोक और परलोक इतना तो पुनर्जन्मके साथ सम्बन्धित है ही। यह बात एकदम सीधी सादी और सहज ही सबके गले उतर जाय, ऐसी नहीं है। इसलिए इसके बारेमें थोड़ा बहुत मतभेद हमेशा रहा है। उस पुराने जमानेमें भी एक छोटा या बड़ा वर्ग ऐसा था जो पुनर्जन्म और कर्मचक्रके माननेको बिल्कुल तैयार न था। यह वर्ग पुनर्जन्म-वादियोंके साथ समय समयपर चर्चा भी करता था। उस समय पुनर्जन्मके शोधकों और पुनर्जन्मवादी ऋषियोंने अपने मन्तव्यको न माननेवाले पुनर्जन्म-विरोधी पक्षको नास्तिक कहा और अपने पक्षको आस्तिक। इन गंभीर और विद्वान् ऋषियोंने जब अपने पक्षको आस्तिक कहा, तब उसका अर्थ केवल इतना ही था कि हम पुनर्जन्म और कर्मतत्त्वको माननेवाले पक्षके हैं और इसलिए जो पक्ष इन तत्त्वोंको नहीं मानता उसको सिर्फ हमारे पक्षसे भिन्न पक्षके तौरपर व्यक्त करनेके लिए 'न' शब्द जोड़कर कहा गया। ये समभावी ऋषि उस समय आस्तिक और नास्तिक इन दो शब्दोंका केवल दो भिन्न पक्षोंको सूचित करनेके लिए ही व्यवहार करते थे। इससे ज्यादा इन शब्दोंके व्यवहारके पीछे कोई खास अर्थ नहीं था। पर ये शब्द खूब चले और सबको अनुकूल साबित हुए। बादमें ईश्वरकी मान्य-ताका प्रश्न आया। ईश्वर है और वह संसारका कर्त्ता भी है, ऐसा माननेवाला एक पक्ष था। दूसरा पक्ष कहता था कि स्वतन्त्र और अलग ईश्वर जैसा कोई तत्त्व नहीं है और हो भी तो सर्जनके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ये

दो पक्ष और उनकी अनेक शाखाएँ जब अस्तित्वमें आई तो पहले जो आस्तिक और नास्तिक शब्द सिर्फ पुनर्जन्मवादी और पुनर्जन्मविरोधी पक्षोंके लिए ही प्रयुक्त होते थे, वे ही ईश्वरवादी और ईश्वर-विरोधी पक्षोंके लिए भी व्यवहारमें आने लगे। इस प्रकार आस्तिक और नास्तिक शब्दोंके अर्थका क्षेत्र पुनर्जन्मके अस्तित्व और नास्तित्वकी अपेक्षा अधिक विस्तृत यानी ईश्वरके अस्तित्व और नास्तित्व पर्यन्त हो गया। फिर पुनर्जन्म माननेवाले वर्गमें भी ईश्वरको मानने और न माननेवालोंके दो पक्ष हो गये, अर्थात् अपने आपको आस्तिक समझनेवाले आचार्योंके सामने ही उनकी परपरामें दो भिन्न पार्टियाँ हो गई। उस समय पुनर्जन्मवादी होनेके कारण आस्तिक गिने जानेवाले वर्गके लिए भी ईश्वर न माननेवाले लोगोंको नास्तिक कहना आवश्यक हो गया। परन्तु तब इन शब्दोंमें अमुक बात माननी या अमुक न माननी, इसके सिवाय कोई दूसरा खास भाव नहीं था। इसलिए पुनर्जन्मवादी आर्य पुरुषोंने अपने ही पक्षके किन्तु ईश्वरको नहीं माननेवाले अपने बन्धुओंको, वे कुछ मान्यता भेद रखते हैं इस बातकी सूचनाके लिए ही, नास्तिक कहा। इसी तरह सांख्य, मीमासक, जैन और बौद्ध ये सब पुनर्जन्मवादीके नाते समानरूपसे आस्तिक होते हुए भी दूसरी तरहसे नास्तिक कहलाये।

अब एक दूसरा प्रश्न खड़ा हुआ और वह था शास्त्रके प्रमाणका। वेदशास्त्रकी प्रतिष्ठा रूढ हो चुकी थी। पुनर्जन्मको माननेवाला और ईश्वर तत्त्वको भी माननेवाला एक ऐसा बड़ा पक्ष हो गया था जो वेदका प्रामाण्य पूरा पूरा मंजूर करता था। उसके साथ ही एक ऐसा भी बड़ा और प्राचीन पक्ष था जो पुनर्जन्ममें विश्वास रखते हुए भी और वेदका पूरा पूरा प्रामाण्य स्वीकार करते हुए भी ईश्वर तत्त्व नहीं मानता था। यहाँसे आस्तिक नास्तिक शब्दोंमें बड़ा भारी गोटाला शुरू हो गया। अगर ईश्वरको न माननेसे किसीको नास्तिक कहा जाय, तो पुनर्जन्म और वेदका प्रामाण्य माननेवाले अपने सगे भाई मीमांसकको भी नास्तिक कहना पड़े। इसलिए मनु महाराजने इस जटिल समस्याको सुलझानेके लिए नास्तिक शब्दकी एक संक्षिप्त व्याख्या कर दी और वह यह कि जो वेद-निंदक हो वह नास्तिक कहा जाय। इस

हिसाबसे सांख्य लोगोंको जो निरीश्वरवादी होनेके कारण एक बार नास्तिक गिने जाते थे, वेदोंका कुछ अंशोंमें प्रामाण्य स्वीकार करनेके कारण धीरे धीरे नास्तिक कहा जाना बन्द हो गया और वे आस्तिक गिने जाने लगे और जैन तथा बौद्ध जो वेदका प्रामाण्य बिल्कुल नहीं स्वीकारते थे, नास्तिक। यहाँ तक तो आस्तिक नास्तिक शब्दोंके प्रयोगके बारेमें चर्चा हुई।

अब दूसरी तरफ देखिए। जिस प्रकार पुनर्जन्मवादी, ईश्वरवादी और वेदवादी लोग अपनेसे जुदा पक्षको बतलानेके लिए नास्तिक शब्दका व्यवहार करते थे-और व्यवहारमें कुछ शब्दोंका प्रयोग तो करना ही पड़ता है—उसी तरह भिन्न पक्ष-वाले भी अपने और अपने प्रतिपक्षीको सूचित करनेके लिए अमुक शब्दोंका व्यवहार करते थे। वे शब्द थे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। पुनर्जन्मको मानते हुए भी कुछ विचारक अपने गहरे चिन्तन और तपके परिणामसे यह पता लगा सके थे कि ईश्वर जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। इसलिए उन्होंने अधिकसे अधिक विरोध और जोखिम सहन करके भी अपने विचार लोगोंके सामने रखे। इन विचारोंको प्रकट करते समय अन्तमें उन्हें वेदोंके प्रामाण्यके स्वीकारसे भी इन्कार करना पड़ा। ये लोग समझते थे और सच्ची प्रामाणिक बुद्धिसे समझते थे कि उनकी दृष्टि अर्थात् मान्यता सम्यक् अर्थात् सच्ची है और दूसरे वेदवादी पक्षकी मान्यता मिथ्या अर्थात् भ्रान्त है। सिर्फ इसीलिए समभावपूर्वक उन्होंने अपने पक्षको सम्यग्दृष्टि और सामनेवालेको मिथ्यादृष्टि बतलाया। इसी भाँति जैसे संस्कृतजीवी विद्वानोंने अपने पक्षके लिए आस्तिक और अपनेसे भिन्न पक्षके लिए नास्तिक शब्द योजित किये थे उसी तरह प्राकृतजीवी जैन और बौद्ध तपस्वियोंने भी अपने पक्षके लिए सम्यग्दृष्टि (सम्मादिट्ठी) और अपनेसे भिन्न पक्षके लिए मिथ्यादृष्टि (मिच्छादिट्ठी) शब्द प्रयुक्त किये। पर इतनेमें ही अन्त आनेवाला थोड़े ही था। मतों और मतभेदोंका वटवृक्ष तो समयके साथ ही फैलता जाता है। जैन और बौद्ध दोनों वेदविरोधी होते हुए भी उनमें आपसमें भी बड़ा मतभेद था। इसलिए जैन लोग भी अपने ही पक्षको सम्यग्दृष्टि कहकर वेदका प्रामाण्य नहीं स्वीकार करनेमें सगे भाई जैसे अपने बौद्ध मित्रको भी मिथ्यादृष्टि कहने लगे। इसी

तरह बौद्ध लोग भी सिर्फ अपनेको ही सम्यग्दृष्टि और अपने बड़े भाईके समान जैन पक्षको मिथ्यादृष्टि कहने लगे। सचमुचमे जिस तरह आस्तिक और नास्तिक उसी तरह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि शब्द भी केवल अमुक अंशमें भिन्न मान्यता रखनेवाले दो पक्षोंके लिए प्रयुक्त होते थे, जिनमें एक स्वपक्ष और दूसरा परपक्ष होता था। प्रत्येक अपने पक्षको आस्तिक और सम्यग्दृष्टि कहता और परपक्षको नास्तिक और मिथ्यादृष्टि। यहाँ तक तो सामान्य भाव हुआ, पर मनुष्यकी प्रकृतिमें जैसे मीठापन है वैसे ही कडुआपनका तत्त्व भी है। यह तत्त्व प्रत्येक जमानेमें थोड़ा बहुत देखा ही जाता है। शब्द अपने आपमें किसी तरह भले या बुरे नहीं होते। उनके मिठास या कडुएपन अथवा उनकी प्रियता या अप्रियताका आधार उनके पीछे विद्यमान मनोभावोंपर अवलम्बित रहता है। यह बात हम कुछ उदाहरणोंद्वारा ज्यादा स्पष्ट रीतिसे समझ सकेंगे। पहले हम नंगा, लुच्चा और बाबा — इन शब्दोंको लें और इनपर विचार करें। नंगा या नागा संस्कृतमें नग्न और प्राकृतमें नगिण, लुच्चा संस्कृतमें लुंचक और प्राकृतमें लुंचओ, बाबा संस्कृतमें वप्ता और प्राकृतमें वप्पा अथवा बप्पा रूपसे प्रसिद्ध है।

जो सिर्फ कुटुम्ब और सम्पत्तिका ही नहीं परन्तु कपड़ों तकका त्याग करके आत्म-शोधनके लिए निर्भय व्रत धारण करता और महान् आदर्श सामने रखकर जंगलमें एकाकी सिंहकी तरह विचरण करता था वह पुण्य पुरुष नग्न कहलाता था। भगवान् महावीर इसी अर्थमें नग्न नामसे प्रख्यात हुए हैं। परिग्रहका त्याग करके और देह-दमनका व्रत स्वीकार करके आत्म-साधनाके लिए ही त्यागी होनेवाले और अपने सिरके बालोंको अपने ही हाथोंसे खींच निकालनेवालेको लुंचक या लोच करनेवाला कहा जाता था। यह शब्द शुद्ध त्याग और देह-दमन सूचित करनेवाला था। वप्ता अर्थात् सर्जक और सर्जक अर्थात् बड़ा और सततिका पूज्य। इस अर्थमें बप्पा और बाबा शब्दका प्रयोग होता था। परन्तु शब्दोंके व्यवहारकी मर्यादा हमेशा एक समान नहीं रहती। उसका क्षेत्र छोटा, बड़ा और कभी कभी विकृत भी हो जाता है। नग्न अर्थात् वस्त्ररहित तपस्वी और ऐसा तपस्वी जो सिर्फ एक कुटुम्ब या एक ही परिवारकी जवाबदारी छोड़कर वसुधा-कुटुम्बी बननेवाला और सारे विश्वकी

जवाबदारियोंका विचार करनेवाला हो। परन्तु कितने ही मनुष्य कुटुम्बमें ऐसे निकल आते हैं जो कमजोरीके कारण अपनी कौटुम्बिक जवाबदारीको फेंककर उसकी जगह बड़ी और व्यापक जवाबदारी लेनेके बदले आलस्य और अज्ञानके कारण अपने कुटुम्ब और अपने समाजके प्रति गैर-जिम्मेदार होकर इधर उधर भटकते रहते हैं। ऐसे मनुष्यों और पहले बताये हुए उत्तरदायी नग्न तपस्वियोंके बीच घरसम्बन्धी गैरजिम्मेदारी और घर छोड़कर इच्छापूर्वक घूमने जितनी ही समानता होती है। इस साम्यके कारण उन गैरजिम्मेदार मनुष्योंको उनके रिश्तेके लोगोंने ही तिरस्कारसूचक तरीकेसे या अपनी अरुचि दर्शानेके निमित्त उनको नंगा या नागा (नग्न) कहा। इस तरहसे व्यवहारमें जब कोई एक जवाबदारी छोड़ता है, दिया हुआ वचन पूरा नहीं करता, अपने सिरपर रखा हुआ कर्ज नहीं चुकाता और किसीकी सुनता भी नहीं, तब, उस हालतमें वह तिरस्कार और अरुचिसूचक शब्दोंमें नंगा या नग्न कहता है।

इस तरह धीरे धीरे पहलेवाला मूल नग्न शब्द अपने महान् तप, त्याग और पूज्यताके अर्थमेंसे निकलकर सिर्फ गैरजिम्मेवार अर्थमें आकर रुक गया और आज तो वह ऐसा हो गया है कि कोई भी व्यक्ति अपने लिए नंगा शब्द पसंद नहीं करता। दिगंबर भिक्षुक जो बिलकुल नग्न होते हैं, उनको भी अगर नंगा कहा जाय, तो वे अपना तिरस्कार और अपमान समझेंगे। लुंचक शब्दने भी अपना पवित्र स्थान खो दिया है। कहे हुएका पालन न करे, दूसरोंको ठगे, बस इतने ही अर्थमे उसका उपयोग रह गया है। बाबा शब्द तो बहुत बार बालकोंको डरानेके लिए ही प्रयुक्त होता है और अक्सर जो किसी प्रकारकी जिम्मेदारीका पालन नहीं करता उस आलसी और पेटू मनुष्यके लिए भी प्रयुक्त होता है। इस तरह भलाई या बुराई, आदर या तिरस्कार, संकुचितता या विस्तृतताके भावको लेकर एक ही शब्द कभी अच्छे, कभी बुरे, कभी आदरसूचक, कभी तिरस्कारसूचक, कभी संकुचित अर्थवाले और कभी विस्तृत अर्थवाले हो जाते हैं। ये उदाहरण प्रस्तुत चर्चामें बहुत कामके होंगे।

ऊपर कहे हुए नास्तिक और मिथ्यादृष्टि शब्दोंकी श्रेणीमें दूसरे दो शब्द भी सम्मिलित किये जाने योग्य हैं। उनमें एक ' निन्हव ' शब्द है जो श्वेताम्बर

शास्त्रोंमें व्यवहृत हुआ है और दूसरा 'जैनाभास' शब्द है जो दिगम्बर ग्रंथोंमें प्रयुक्त हुआ है। ये दोनों शब्द अमुक अंशमें जैन किन्तु कुछ बातोंमें विरोध मत रखनेवालोंके लिए प्रयुक्त हैं। निन्हव शब्द तो कुछ प्राचीन भी है परन्तु जैनाभास अर्थात् 'कृत्रिम जैन' शब्द बहुत पुराना नहीं है और विलक्षण रीतिसे इसका प्रयोग हुआ है। दिगम्बर शाखाकी मूलसंघ, माथुरसंघ, काष्ठासंघ आदि अनेक उपशाखाएँ हैं। उनमें जो मूलसंघके न हों ऐसे सभी व्यक्तियोंको जैनाभास कहा गया है, जिनमें श्वेताम्बर भी आ जाते हैं। श्वेताम्बर शास्त्रकारोंने भी प्राचीन कालमें तो अमुक मतभेदवाले अमुक पक्षको ही निन्हव कहा था परन्तु बादमें जब दिगम्बर शाखा बिल्कुल अलग हो गई, तो उसको भी निन्हव कहा जाने लगा। इस तरहसे हम देख सकते हैं कि दो मुख्य शाखाएँ—श्वेताम्बर और दिगम्बर—एक दूसरीको भिन्न शाखाके रूपमें पहचाननेके लिए अमुक शब्दका प्रयोग करती हैं। जब एक ही शाखामें उपभेद होने लगते हैं तो उस समय भी एक उपसम्प्रदाय दूसरे उपसम्प्रदायके लिए इन्हीं शब्दोंका व्यवहार करने लगता है।

इस अवसरपर हम एक विषयपर लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकते कि आस्तिक और नास्तिक शब्दोंके पीछे तो सिर्फ हकार और नकारका ही भाव है जब कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि शब्दोंके पीछे उससे कहीं ज्यादा भाव है। इनमें अपना यथार्थपन और दूसरे पक्षका भ्रान्तपन विश्वासपूर्वक सूचित किया जाता है। यह भाव जरा उग्र और कुछ अंशमें कटु भी है। इसलिए पहलेवाले शब्दोंकी अपेक्षा बादके शब्दोंमें विशेष उग्रता सूचित होती है। फिर ज्यों ज्यों साम्प्रदायिकता और मतांधता बढ़ती गई त्यों त्यों कटुता ज्यादा उग्र होती गई और उसके परिणामस्वरूप निन्हव और जैनाभास जैसे उग्र शब्द प्रतिपक्षके लिए अस्तित्वमें आ गये। यहाँ तक तो सिर्फ इन शब्दोंका कुछ इतिहास आया। अब हमको वर्तमान स्थितिपर गौर करना चाहिए।

आज कल इन शब्दोंके बारेमें बहुत गोटाला हो गया है। ये शब्द अपने मूल अर्थमें नहीं रहे और नये अर्थमें भी ठीक और मर्यादित रीतिसे व्यवहारमें नहीं आते। सच कहा जाय तो आजकाल ये शब्द नंगा, लुच्चा और बाबा शब्दोंकी तरह सिर्फ गालीके तौरपर अथवा तिरस्कार रूपमें हर कोई व्यवहार

करता है। सच्ची बात कहनेवाले और भविष्यमें जो विचार हमको या हमारी सन्ततिको अवश्यमेव स्वीकार करने योग्य होते हैं, उन विचारोंको प्रकट करने वाले मनुष्यको भी शुरू शुरूमें रूढ़िगामी, स्वार्थी और अविचारी लोग नास्तिक कहकर गिरानेका प्रयत्न करते हैं। मथुरा-वृन्दावनमें मन्दिरोंकी संख्या बढ़ाकर उनकी पूजाद्वारा पेट भरनेवाले और अनाचारको पुष्ट करनेवाले पंडों या गुसाईयोंके पाखण्डका स्वामी दयानंदने विरोध किया और कहा कि यह तो मूर्ति-पूजा नहीं वरन् उदर-पूजा और भोग-पूजा है। काशी तथा गयामे श्राद्ध आदि कराकर मस्त रहनेवाले और अत्याचारका पोषण करनेवाले पडोंसे स्वामीजीने कहा—यह श्राद्ध-पिण्ड पितरोंके तो नहीं पर तुम्हारे पेटोंमें जरूर पहुँचता है। ऐसा कहकर जब उन्होंने समाजमे सदाचार, विद्या और बलका वातावरण पैदा करनेका प्रयत्न किया, तब वेद-पुराणको माननेवाले पडोंके पक्षने स्वामीजीको नास्तिक कहा। इन लोगोंने यदि स्वामीजीको सिर्फ अपनेसे भिन्न मत-दर्शकके अर्थमें ही नास्तिक कहा होता, तो कोई दोष नहीं था किन्तु जो पुराने लोग मूर्ति और श्राद्धमें ही महत्त्व मानते थे उनको उत्तेजित करनेके लिए और उनके बीचमें स्वामीजीकी प्रतिष्ठा घटानेके लिए ही उन्होंने नास्तिक शब्दका व्यवहार किया। इसी तरह मिथ्या-दृष्टि शब्दकी भी कदर्थना हुई है। जैन वर्गमे ज्यों ही कोई विचारक निकला और उसने किसी वस्तुकी उचित-अनुचितताका विचार प्रकट किया कि स्वार्थप्रिय वर्गने उसको मिथ्यादृष्टि कहा। एक यति कल्पसूत्र पढ़ता है और लोगोंसे उसकी पूजा कराकर जो दान-दक्षिणा पाता है उसे स्वयं ही हजम कर लेता है और दूसरा यति मंदिरकी आमदनीका मालिक हो जाता है और उससे अनाचार बढ़ाता है, यह देखकर जब कोई उसकी अयोग्यता प्रकट करनेको उद्यत होता है तो शुरूमें स्वार्थी यतियों ही उस विचारकको अपने वर्गमेंसे निकाल देनेके लिए मिथ्यादृष्टि तक कह डालते हैं। इस तरह शुरू शुरूमें नास्तिक और मिथ्या-दृष्टि शब्द सुधारक और विचारक लोगोंके लिए व्यवहारमें आने लगे और अब वे ऐसे स्थिर हो गये हैं कि अधिकांशतः विचारशील सुधारक और किसी वस्तुकी योग्यता-अयोग्यताकी परीक्षा करनेवालेके लिए ही व्यवहृत होते हैं। " पुराने प्रतिबन्ध, पुराने नियम, पुरानी मर्यादाएँ और पुराने

रीति-रिवाज, देश, काल और परिस्थितिको देखते हुए अमुक अंशमें उचित नहीं जान पड़ते। उनके स्थानमें अमुक-प्रकारके प्रतिबन्ध और अमुक प्रकारकी मर्यादाएँ रखी जायँ, तो समाजको लाभ हो सकता है। अज्ञान और संकुचितताकी जगह ज्ञान और उदारता स्थापित हो, तब ही समाज सुखी रह सकता है। धर्म अगर विसंवाद बढ़ाता है तो वह धर्म नहीं हो सकता।" ऐसी सरल और सर्वमान्य बातें करनेवाला कोई निकला कि तुरन्त उसको नास्तिक, मिथ्या-दृष्टि और जैनाभास कहना शुरू कर दिया जाता है। इस तरह शब्दोंके उपयोगकी इस अंधाधुंधीका परिणाम यह हुआ है कि आजकल नास्तिक शब्दकी ही प्रतिष्ठा बढ़ गई है। एक जमानेमें राजमान्य और लोकमान्य शब्दोंकी ही प्रतिष्ठा थी। जब समाज आगे बढ़ा तो उसे राजमान्य शब्द खटका और राजमान्य होनेमें कई बार समाजद्रोह और देशद्रोह भी मालूम हुआ। और राजद्रोह शब्द जो एक समय बड़े भारी अपराधीके लिए ही व्यवहारमें आता था और अपमानसूचक समझा जाता था उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। आज तो देश और समाजमें ऐसा वातावरण पैदा हो गया है कि राजद्रोह शब्द पूजा जाता है और अपनेको राजद्रोही कहलानेके लिए हजारों ही नहीं वरन् लाखों स्त्री-पुरुष निकल पड़ते हैं और लोग उनका सत्कार करते हैं। सिर्फ हिन्दुस्तानका ही नहीं परन्तु सारी दुनियाका महान् सन्त आज एक महान् राजद्रोही गिना जाता है। इस तरह नास्तिक और मिथ्यादृष्टि शब्द जो किसी समय केवल अपनेसे भिन्न पक्षवालेके लिए व्यवहारमें आते थे और पीछे कुछ कदर्थक भावमें आने लगे थे आज प्रतिष्ठित हो रहे हैं। "अछूत भी मनुष्य है। उससे सेवा लेकर तिरस्कार करना बड़ा भारी अपराध है। वैधव्य मर्जीसे ही पालन किया जा सकता है, जबर्दस्ती नहीं।" ये विचार जब गाँधीजीने प्रकट किये तो उनको भी मनुके उत्तराधिकारी काशीके पण्डितोंने पहले नास्तिक कहा और फिर मधुरशब्दोंमें आर्यसमाजी कहा और जब बछड़ेके वधकी चर्चा आई तो बहुतोंने उनको हिंसक बताया। यदि गाँधीजीने राज्यप्रकरणमें पड़कर इतनी बड़ी साम्राज्य-शक्तिका सामना न किया होता और यदि उनमें अपने विचारोंको जगद्व्यापी करनेकी शक्ति न होती, तो वे जो आज कहते हैं वही बात अंत्यजों या विधवाओंके

विषयमें कहते तो लोग उन्हें भारी नास्तिक और मूर्ख मानते और मनुके उत्तराधिकारियोंकी चलती तो वे उनको शूलीपर चढ़ा देते।

इस भाँति जब कट्टर प्राचीनताप्रेमियोंने आवेशमें आकर बिना विचार किये चाहे जैसे विचारक और योग्य मनुष्यको भी अप्रतिष्ठित करनेके लिए तथा लोगोंको उसके विरुद्ध उकसानेके लिए नास्तिक जैसे शब्दोंका व्यवहार किया, तब इन शब्दोंमें भी क्रान्तिका प्रवेश हो गया और इनका अर्थ-चक्र बदलनेके अतिरिक्त महत्ता-चक्र बदलने लगा और आज तो लगभग ऐसी स्थिति आ गई है कि राजद्रोहकी तरह ही नास्तिक, मिथ्यादृष्टि आदि शब्द भी मान्य होते चले जा रहे हैं। कदाचित् ये पर्याप्त रूपमें मान्य प्रमाण न हुए हों, तो भी अब इनसे डरता तो शायद ही कोई हो। उलटे जैसे अपनेको राज-द्रोही कहलानेवाले बहुतसे लोग दिखाई देते हैं वैसे बहुत लोग तो निर्भयता-पूर्वक अपनेको नास्तिक कहलानेमें जरा भी हिचकिचाहट नहीं करते और जब अच्छेसे अच्छे विचारकों, योग्य कार्यकर्ताओं और उदारमना पुरुषोंको भी कोई नास्तिक कहता है तब आस्तिक और सम्यग्दृष्टि शब्दोंका लोग यही अर्थ करने लगे हैं कि जो सच्ची या झूठी किसी भी पुरानी रूढ़िसे चिपके रहते हैं, उसमें औचित्य अनौचित्यका विचार नहीं करते, किसी भी वस्तुकी परीक्षा या तर्क-कसौटी सहन नहीं करते, खरी या खोटी किसी बातकी शोध किए बिना प्रत्येक नये विचार, नई शोध और नई पद्धतिसे भड़कने पर भी कालक्रमसे परवश होकर उनका स्वीकार कर लेते हैं, वे आस्तिक और सम्यग्दृष्टि है। इस तरह विचारक और परीक्षक या तर्कप्रधान अर्थमें नास्तिक आदि शब्दोंकी प्रतिष्ठा जमती जाती है और कदाग्रही, धर्मात्मा, आदिके अर्थमें आस्तिक आदि शब्दोंकी दुर्दशा होती देखी जाती है। उस जमानेमें जब शस्त्रसे लड़नेके लिए कुछ नहीं था तब हरेककी लड़नेकी वृत्ति तृप्त करनेका यह शाब्दिक मार्ग ही रह गया था और नास्तिक या मिथ्यादृष्टि शब्दोंके गोले फेंके जाते थे। परन्तु आज अहिंसक युद्धने जिस तरह शस्त्रोंको निष्क्रिय बना दिया है, उसी तरह नास्तिक आदि शब्दोंको, जो विषमय शस्त्रोंकी भाँति चलाये जाते थे, निर्विष और काफी मात्रामें जीवन-प्रद अमृत जैसा भी बना दिया है। यह क्रान्ति-युगका प्रभाव है। परन्तु इससे किसी विचारक या सुधारकको फूलकर अपना कर्तव्य

नहीं भूल जाना चाहिए। बहुत बार क्षुल्लक विचारक और भीरु स्वार्थी सुधारक अपनेको नास्तिक कहलानेके लिए सामनेवाले पक्षके प्रति अन्याय करने तक तैयार हो जाते हैं। उन्हें भी सावधान होनेकी आवश्यकता है। स्पष्टतः यदि कोई एक पक्षवाला आवेश या जनूनमें आकर दूसरे पक्षको सिर्फ नीचा दिखानेके लिए किसी भी तरहके शब्दका प्रयोग करता है, तो यह तात्त्विक रीतिसे हिंसा ही समझी जायगी। अपनेसे भिन्न विचारवाले व्यक्तिके लिए समभाव और प्रेमसे योग्य शब्दोंका व्यवहार करना एक बात है और रोषमें आकर दूसरेको तुच्छ बनानेके खातिर मर्यादा छोड़कर अमुक शब्दोंका व्यवहार करना दूसरी बात है। फिर भी किसी बोलनेवालेके मुँहपर ताला नहीं लगाया जाता या लिखनेवालेके हाथ बाँधे नहीं जाते। इसीसे जब कोई आवेगमें आकर भिन्न मतवालेके लिए अमुक शब्दका व्यवहार करता है तब भिन्न मतवालेका अहिंसक कर्तव्य क्या है, इसका भी हमको विचार कर लेना चाहिए।

पहला तो यह कि हमारे लिए जब कोई नास्तिक या ऐसा ही कोई दूसरा शब्द व्यवहार करे, तो इतना ही समझना चाहिए कि उस भाईने हमें केवल भिन्न-मतवाला अथवा वैसा न माननेवाला समझकर उसी अर्थमें समभाव और वस्तु-स्थितिसूचक शब्दका प्रयोग किया है। उस भाईकी उस शब्दके व्यवहार करनेमें कोई दुर्वृत्ति नहीं है, ऐसा विचार करके उसके प्रति प्रेमवृत्ति और उदारता रखनी चाहिए।

दूसरा यह कि अगर यही मालूम हो कि अमुक पक्षवालेने हमारे लिए आवेशमें आकर निन्दाकी दृष्टिसे ही अमुक शब्दका व्यवहार किया है तो यह विचार करना चाहिए कि उस भाईकी मानसिक भूमिकामें आवेश और संकुचितताके तत्त्व हैं। उन तत्त्वोंका वह मालिक है और जो जिस वस्तुका मालिक होता है वह उसका इच्छानुसार उपयोग करता ही है। उसमें अगर आवेशका तत्त्व है, तो धीरज कहाँसे आवेगा और अगर संकुचितता है तो उदारता कहाँसे प्रकट होगी? और अगर आवेश और संकुचितताके स्थानमें धैर्य और उदारता उसमें लानी है तो वह इसी तरीकेसे आ सकती है कि चाहे जितने कडुए शब्दोंके बदले भी अपने मनमें धीरता और उदारताको बनाये रखना। क्यों

कि कीचड़ कीचड़से साफ नहीं किया जा सकता, वह तो पानीसे ही धोया जा सकता है।

तीसरा यह कि जब कोई हमारे मत और विचारके विरुद्ध आवेश या शान्तिसे कुछ भी कहता है तो उसके कथनपर सहानुभूतिसे विचार करना चाहिए। अगर सामनेवालेके आवेशपूर्ण कथनमें भी सत्य मालूम होता हो तो चाहे जितना प्रचण्ड विरोध होते हुए भी और चाहे जितनी जोखम उठाकर भी नम्र भावसे उसे स्वीकार करना और उसीमें दृढ रहना चाहिए। अगर इसी भाँति विचार और वर्तन रक्खा जायगा तो शब्दोंके प्रहार-प्रति-प्रहारका विष कम हो जायगा। भाषा-समिति और वचन-गुप्तिकी जो प्रतिष्ठा करीब करीब लुप्त होती जा रही है वह वापस जमेगी और शान्तिका वातावरण उत्पन्न होगा। इन पुण्य दिनोंमें हम इतना ही चाहें। *

[तरुण जैन, अक्टूबर १९४१]

* मूल गुजरातीमें। अनुवादक श्री भँवरमलजी सिंघी।

शस्त्र और शास्त्र

हमारे देशमें शास्त्रोंका निर्माता, रक्षक, विकासक और उनके द्वारा सारी प्रवृत्तियाँ करनेवाला जो वर्ग है वह ब्राह्मण नामसे और शस्त्रोंका धारण करनेवाला और उपयोग करनेवाला जो वर्ग है वह क्षत्रिय नामसे प्रसिद्ध है। प्रारम्भमें ब्राह्मण वर्गका कार्य शास्त्रोंद्वारा और क्षत्रियोंका शस्त्रोंद्वारा लोकरक्षा या समाजरक्षा करना था। यद्यपि ये दोनों ही रक्षा-कार्य थे, परन्तु इनका स्वरूप भिन्न था। शास्त्रमूर्ति ब्राह्मण जब किसीकी रक्षा करना चाहता है तब उसके प्रति शास्त्रका प्रयोग करता है, अर्थात् उसे हितबुद्धिसे, उदारतासे, प्रेमसे वस्तुस्थितिका ज्ञान कराता है, और ऐसा करके वह विपरीत-मार्गपर जानेवाले व्यक्तिको बचा लेता है। वैसा करनेमें यदि उसे सफलता नहीं मिलती, तो कमसे कम स्वयं अपनी उन्नत-स्थितिको सुरक्षित रखता है। अर्थात् शास्त्रका कार्य मुख्यरूपसे वक्ताको और साथ ही साथ श्रोताको भी बचानेका होता था। उससे श्रोताका अनिष्ट नहीं होता था। शस्त्रमूर्ति क्षत्रिय यदि आक्रमणकारीसे रक्षा करना चाहे, तो शस्त्र-द्वारा आक्रमणकारीकी हत्या करके ही कर सकता है। इसी प्रकार किसी निर्बलकी रक्षा भी बलवान् आक्रमणकारीकी हत्या करके या उसे हराकर ही की जा सकती है। इस तरह एककी रक्षामें प्रायः दूसरेका नाश आवश्यक है। दूसरेकी बलिसे ही आत्मरक्षा या पररक्षा सम्भव होती है। इसी कारण जो शासन करके या समझा करके रक्षणकी शक्ति रखता है वह शास्त्र है और दूसरोंका हनन करके किसी एककी रक्षा करता है वह शस्त्र है। यह भेद सात्त्विक और राजस प्रकृति-भेदका सूचक है। इस भेदके रहनेपर भी ब्राह्मण और क्षत्रिय-प्रकृति जबतक समाज-रक्षाके ध्येयसे विचलित नहीं हुई तबतक दोनोंने अपनी अपनी मर्यादानुसार निःस्वार्थ भावसे कार्य किया और शस्त्र तथा शास्त्र दोनोंकी प्रतिष्ठा बनी रही।

किन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया शास्त्रद्वारा प्राप्त प्रतिष्ठाके फल चखनेकी वृत्ति और उपभोगकी लालसा शास्त्रमूर्ति वर्गमें बलवती होती गई। इसी तरह शस्त्रमूर्ति वर्गमें भी शस्त्रसेवासे लब्ध प्रतिष्ठाके फलोंका आस्वादन करनेकी क्षुद्र वृत्ति उदित हो गई। फलस्वरूप धीरे धीरे सात्त्विक और राजसिक प्रकृतिका स्थान तामस प्रकृतिने ले लिया और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि शस्त्रमूर्ति वर्ग शस्त्रजीवी और शास्त्रमूर्ति वर्ग शास्त्रजीवी बन गया। अर्थात् दोनोंका ध्येय रक्षा तो रहा नहीं, आजीविका हो गया। जब शास्त्र और शस्त्रके द्वारा आजीविका करने और अपनी भोगवासना तृप्त करनेकी वृत्ति उदित हुई, तब शास्त्रजीवी ब्राह्मणोंमें परस्पर फूट और ईर्षा बढ़ने लगी। उनका काम भक्त अनुयायी और शिष्योंको अज्ञान और कुसंस्कारोंसे बचा लेनेका था, सो न करके वे अपने हाथमें फँसी निरक्षर और भोली जनताकी सेवाशक्तिका अधिकसे अधिक उपयोग किस प्रकार हो, इसी प्रतिस्पर्धामें लग गये। अतएव शिकारीकी तरह ये शास्त्रजीवी अपने शास्त्रजालमें अधिकसे अधिक अनुयायियोंको बद्ध करनेके लिए दूसरे शास्त्रजीवियोंके साथ कुश्तीमें उतरने लगे और जैसा कि आचार्य सिद्धसेनने कहा है कि एक मांसके टुकड़ेके लिए लड़नेवाले दो कुत्तोंमें तो मैत्रीकी संभावना है, किन्तु दो सगे भाई यदि शास्त्रजीवी या वादी हों तो उनमें मैत्रीकी संभावना नहीं, यह स्थिति उपस्थित हो गई।

दूसरी ओर शस्त्रमूर्तिवर्ग भी शस्त्रजीवी बन गया। अतएव उसमें भी भोग वैभवकी प्रतिस्पर्धा और कर्तव्यच्युति प्रविष्ट हो गई। इससे अनाथ या आश्रित प्रजावर्गका पालन करनेमें अपनी शक्तिका व्यय करनेकी अपेक्षा यह वर्ग भी सत्ता और महत्ताकी वृद्धिके पीछे पागल हो गया। परिणाम यह हुआ कि इन शस्त्रजीवियोंके बीच, किसी अनाथ या निर्बलकी रक्षाके निमित्त नहीं, किन्तु व्यक्तिगत द्वेष और वैरके कारण युद्ध होने लगे और युद्धाग्निमें, जिनकी रक्षाके वास्ते इस वर्गकी सृष्टि हुई थी और इतना गौरव प्राप्त हुआ था, उन्हीं करोड़ों लोगोंको बलिदान किया जाने लगा।

इस तरह आर्यावर्तका इतिहास शास्त्र और शस्त्र दोनोंके द्वारा विशेष

कलुषित हुआ और अपनी पवित्रता अखंडित न रख सका। यही कारण है कि इस देशमें लाखों नहीं करोड़ों शास्त्रजीवियोंके होते हुए भी अज्ञान और विवादका अन्त नहीं है। इतना ही नहीं, इस वर्गने अज्ञान और विवादकी वृद्धि और पुष्टि करनेमें भी कुछ कम हिस्सा नहीं लिया है। शूद्रों और स्त्रियोंको तो ज्ञानका अनधिकारी घोषित कर उनसे सिर्फ सेवा ही ली गई। क्षत्रियों और वैश्योंको ज्ञानका अधिकारी मानकर भी उनका अज्ञान दूर करनेका कोई व्यवस्थित प्रयत्न व्यापकरूपसे नहीं किया गया। शस्त्रजीवी वर्ग भी आपसी ईर्षा-द्वेष भोग-विलास और कलहके फलस्वरूप परराष्ट्रके आक्रमणसे अपने देशको न बचा सका और अन्तमें स्वयं भी गुलाम बन गया। पूर्वजोंने अपने हाथमें शास्त्र या शस्त्र लेते समय जो ध्येय रखा था उससे च्युत होते ही उसका अनिष्ट परिणाम उनकी संतति और समाजमें प्रकट हुआ। शास्त्र-जीवी वर्ग इतना अधिक निर्बल और पेटू हो गया कि वह धन और सत्ताके लोभमें सत्य बेचनेको तैयार हो गया और शस्त्रजीवी राजा महाराजाओंकी खुशामद करनेमें बड़प्पन समझने लगा। शस्त्रजीवी वर्ग भी कर्तव्य-पालनके स्थानमें दान-दक्षिणा देकर ही उस खुशामदी वर्गद्वारा अपनी ख्यातिकी रक्षाके लिए प्रयत्नशील रहने लगा। इस तरह इन दोनोंकी बुद्धि और सत्ताकी चक्कीमें आश्रित जन पीसे जाने लगे और अंतमें समस्त समाज निर्बल हो गया।

हम आज भी प्रायः देखते हैं कि उपनिषदों और गीताका पाठ करनेवाले भी अन्तमें हिसाब लगाते हैं कि दक्षिणामें क्या मिला? भागवतका साप्ताहिक पारायण करनेवाले ब्राह्मणकी दृष्टि सिर्फ दक्षिणाकी ओर रहती है। अभ्यासके बलसे श्लोकोंका उच्चारण होता रहता है, किन्तु आँख किसने दक्षिणा रखी और किसने नहीं, यही देखनेके लिए तत्पर रहती है। दुर्गासप्तशतीका पाठ प्रायः दक्षिणा देनेवालेके लिए किया जाता है। गायत्रीके जाप भी दक्षिणा देनेवालेके लिए होते हैं। एक यजमानसे दक्षिणा और 'सीधा' लेनेके लिए शास्त्र-जीवियोंमें जो मारामारी होती है उसकी तुलना एक रोटीके टुकड़ेके लिए लड़नेवाले दो कुत्तोंसे दी जा सकती है। जमीनके एक छोटेसे टुकड़ेके लिए भी अब दो शस्त्रजीवी हाईकोर्टमें जाकर लड़ते देखे जाते हैं। और तो और इन शास्त्रजीवियोंमें जो स्वार्थ और संकुचितताका दोष प्रविष्ट हुआ उसका

असर बौद्ध और जैनके त्यागी माने जानेवाले भिक्षुकोंपर भी हुआ। केवल इन दोनोंमें ही आपसी फूट और विरोध नहीं बढ़ा, इनके उपभेदोंमें भी वह प्रविष्ट हुआ। दिगम्बर भिक्षु श्वेताम्बर भिक्षुको और श्वेताम्बर भिक्षु दिगम्बर-भिक्षुको नीची नजरसे देखने लगा। उदारताके स्थानमें दोनोंमें संकुचितता बढ़ने और पुष्ट होने लगी। केवल श्वेताम्बर सम्प्रदायके भिक्षुओंमें भी शास्त्रके नामपर आपसमें खूब विरोध और भेद उत्पन्न हुआ। आध्यात्मिक माने जानेवाले तथा आध्यात्मिक रूपसे पूजित शास्त्रोंका भी उपयोग, एक या दूसरे प्रकारसे धनकी उत्पत्तिमें, विरोधके साथ कटुताकी वृद्धिमें और अपनी अपनी निजी दूकानें चलानेमें होने लगा। इस प्रकार शास्त्रने शस्त्रका स्थान ले लिया और वह भी शुद्ध शस्त्रका नहीं विषाक्त शस्त्रका। यही कारण है कि आज यदि कहीं कलह और विवादके बीज अधिक दिखाई देते हों, या अधिक व्यापकरूपसे कलह और विवाद फैलनेकी शक्यता दीखती हो, तो वह तथाकथित त्यागी होनेपर भी शास्त्रजीवी वर्गमें ही है और इसका असर इधर उधर समस्त समाजमें व्याप्त है।

अब क्या करें ?

ये सब तो भूतकालकी बातें हुई। किन्तु प्रश्न होता है कि अब वर्तमान और भविष्य कालके लिए क्या किया जाना चाहिए? क्या शास्त्रों और शस्त्रोंद्वारा फैला हुआ विष इन दोनोंके नाशसे दूर हो सकता है या अन्य कोई रास्ता है? इन दोनोंके नाशसे तो विष नष्ट हो नहीं सकता। यूरोपमें शस्त्र कम करने और नष्ट करनेकी बात चल रही है किन्तु वृत्तिके सुधरे बिना केवल शस्त्रोंके नाशसे शान्ति नहीं हो सकती। एक कहेगा कि यदि सर्वत्र वेदका झंडा फहराने लगे तो क्लेश और विवाद जो पंथोंके निमित्तसे होते हैं, वे न हों। दूसरा कुरानके विषयमें भी यही कहेगा किन्तु हमें इस भ्रममें नहीं रहना चाहिए। क्योंकि एक ही वेदके अनुयायियों और एक ही कुरानके माननेवालोंमें भी मारामारी चलती रहती है। जब एक झंडेके नीचे दूसरे अधिक इकट्ठे होंगे, तब अबकी अपेक्षा मारपीट और बढ़ेगी। तब ऐसा कौन-सा उपाय है जिससे वैरका विष नष्ट हो जाय? उपाय एक ही है और वह है उदारता और ज्ञानशक्तिकी वृद्धिका। यदि हममें उदारता और ज्ञानशक्ति बढ़ जाय, तो हम चाहे जिस

शास्त्रको मानते रहें, कलहका कारण स्वतः दूर हो जायगा। आज पंथ या समाजमें जिसकी माँग है वह है शक्ति और ऐक्य। यह तत्त्व उदारता और ज्ञान-वृद्धिके बिना संभव नहीं। भिन्न भिन्न शास्त्रोंका अनुसरण करनेवाले भिन्न भिन्न वर्ग और पंथ सिर्फ उदारता और ज्ञानवृद्धिके बलसे ही हिलमिलकर रह सकते हैं। ऐसे बहुत-से पुरुष हैं जो किसी एक शास्त्र या एक पंथके अनुयायी नहीं हैं, फिर भी एकदिल होकर समाज और देशका कार्य करते हैं और ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं जो एक ही संप्रदायके शास्त्र मानने पर भी, परस्पर हिलमिल-कर कार्य करनेकी बात तो दूर रही, एक दूसरेका नाम भी सुननेके लिए तैयार नहीं। जब तक मानस मलीन हो, परस्पर आदर या तटस्थताका अभाव हो, या तनिक भी ईर्षा हो तब तक भगवान्‌की साक्षीसे एक शास्त्रको मानने या अनुसरण करनेके व्रतका स्वीकार करनेपर भी, कभी ऐक्य सिद्ध नहीं होगा, शक्ति स्थापित नहीं होगी। यह वस्तु यदि किसीके ध्यानमें नहीं आती है तो कहना चाहिए कि उस व्यक्तिमें इतिहास और मानसशास्त्र समझनेकी शक्ति नहीं है।

हमारा समाज और देश क्लेशके भँवरमें फँसा है। वह हमसे अधिक नहीं तो इतनी अपेक्षा तो रखता ही है कि अब अधिक क्लेशका पोषण न हो। यदि हम उदारता और ज्ञानवृद्धिका पोषण करें, तो समाज और देशकी माँगकी पूर्ति की जा सकती है। जैन तत्त्वज्ञानमें अनेकान्त और आचारमें अहिंसाका जो प्रतिपादन किया गया है उसका आशय इतना ही है कि हमें बतौर जैनके आपसमें और दूसरे समाजोंके साथ भी उदारता और प्रेमका व्यवहार करना चाहिए। जहाँ भेद और विरोध हो वहीं उदारता और प्रेमकी आवश्यकता होती है और वहीं वे हमारे अन्तःकरणमें हैं या नहीं, और हैं तो कितने प्रमाणमें हैं इसकी परीक्षा होती है। इसलिए यदि हम जैनत्वको समझते हों तो यह समझना सरल है कि उदारता और प्रेमवृत्तिके द्वारा ही धर्मरक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं। शास्त्रकी उत्पत्ति और उसके उपयोगका उद्देश यही है। यदि इस उद्देशकी सिद्धि शास्त्रसे नहीं होती तो वह रक्षण करनेके बदले जहरीले शस्त्रकी तरह भक्षणका कार्य करेगा और शास्त्र अपना गौरव नष्ट करके शस्त्र साबित होगा।

उदारता दो तरहकी है—एक तो विरोधी या भिन्न ध्येयवालेके प्रति तटस्थ-वृत्तिके अभ्यासकी और दूसरी आदर्शको महान् बनानेकी। जब आदर्श बिलकुल संकुचित होता है, व्यक्तिमें या पंथमें मर्यादित होता है, तब मनुष्यका मन, जो स्वभावतः विशाल तत्त्वोंका ही बना हुआ है उस संकुचित आदर्शमें घबड़ाहटका अनुभव करता है और विषचक्रसे बाहर निकलनेके लिए लालायित हो जाता है। उस मनके समक्ष यदि विशाल आदर्श रखा जाय तो उसे अभीष्ट क्षेत्र मिल जाता है और इस प्रकार क्लेश और कलहके लिए उसकी शक्ति शेष नहीं रह जाती। अतएव धर्मप्रेमी होनेकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह अपने आदर्शको विशाल बनावे और उसके लिए मनको तैयार करे। और ज्ञानवृद्धिका मतलब भी समझ लेना चाहिए। मनुष्य-जातिमें ज्ञानकी भूख स्वभावतः होती है। उस भूखको भिन्न भिन्न पंथोंके, धर्मोंके और दूसरी अनेक ज्ञानविज्ञानकी शाखाओंके शास्त्रोंके सहानुभूतिपूर्वक अभ्यासके द्वारा ही शान्त करनी चाहिए। सहानुभूति होती है तभी दूसरी बाजूको ठीक तौरसे समझा जा सकता है।

[पर्युषण-व्याख्यानमाला, बम्बई १९३२। अनुवादक, प्रो० दलसुख मालवणिया]

सम्प्रदाय और कांग्रेस

जिस समय बंग-भंगका आन्दोलन चल रहा था, मैंने एक संत-वृत्ति विद्याप्रिय जैन साधुसे पूछा " महाराज, आप कांग्रेसकी प्रवृत्तिमें भाग क्यों नहीं लेते; यह तो राष्ट्रीय स्वतन्त्रताके वास्ते लड़नेवाली संस्था है और राष्ट्रीय स्वतंत्रतामें जैनोंकी स्वतंत्रता भी शामिल है।" उन्होंने सच्चे दिलसे, जैसा वे मानते और समझते थे, वैसा ही जवाब दिया, " महानुभाव, कांग्रेस देशकी संस्था है, इसमें देश-कथा और राज-कथा ही होती है, बल्कि राज्य-विरोध तो इसका ध्येय ही है। तब हम जैसे त्यागियोंके लिए इस संस्थामें भाग लेना या दिलचस्पी रखना कैसे धर्म कहा जा सकता है ? " एक दूसरे मौकेपर उपनिषदों और गीताका निरंतर अध्ययन करनेवाले संन्यासीसे भी मैंने यही सवाल पूछा। उन्होंने भी गम्भीरतासे जवाब दिया, " कहाँ तो अद्वैत-ब्रह्मकी शांति और कहाँ भेद-भावसे भरी हुई खिचड़ी जैसी संक्षोभकारी कांग्रेस ! हमारे जैसे अद्वैत मार्गमें विचरनेवाले और घरबार छोड़कर सन्यास लेनेवालेके लिए इस भेद और द्वैतके चक्करमें पड़ना कैसे उचित कहा जा सकता है ! "

महाभारतके वीर-रस प्रधान आख्यान कहनेवाले एक कथाकार व्यासने भी कुछ ऐसे ही प्रश्नके जवाबमें फौरन सुनाया, " देखा तुम्हारी कांग्रेसको ! इसमें तो ज्यादातर अँग्रेजी पढ़े हुए और कुछ न कर सकनेवाले लोग ही जमा होते हैं और अँग्रेजीमें भाषण देकर तितर बितर हो जाते हैं। इसमें महाभारतके सूत्रधार कृष्णका कर्मयोग कहाँ हैं ? " अगर उस वक्त मैंने किसी सच्चे मुसलमान मौलवीसे भी यही प्रश्न किया होता तो उनका जवाब भी कुछ इसी तरहका होता, " कांग्रेसमें जाकर क्या करना है ? क्या इसमें इस्लामके फरमानोंका

पालन होता है ? यह तो जाति-भेदका पोषण करनेवाले और सगे भाइयोंको अलग माननेवाले लोगोंका शंभु-मेला-सा है। " कट्टर आर्यसमाजीको भी यदि इस प्रश्नका जवाब देना होता तो वह भी कहता, " अछूतोद्धार और स्त्रीको पूर्ण सम्मान देनेका वेदसम्मत आन्दोलन तो कांग्रेसमें कुछ भी नहीं दिखाई देता। " इसी तरह किसी बाइबिलभक्त पादरी साहबसे अगर यही प्रश्न किया जाता तो हिन्दुस्तानी होते हुए भी वे यही जवाब देते कि " कांग्रेस स्वर्गीय पिताके राज्यमें ले जानेवाले प्रेम-पन्थका दरवाजा थोड़े ही खोल देती है ! " इस तरह एक समय था जब किसी भी सम्प्रदायके सच्चे अनुयायीके लिए कांग्रेस प्रवेश-योग्य नहीं थी, इसलिए कि उसको अपनी अपनी मान्यताके मूल सिद्धान्तोंका कांग्रेसकी प्रवृत्तिमें न अमल होता दिखाई पड़ता था, और न कल्पना ही होती थी।

समय बदला। लाला लाजपतरायने एक बार वक्तव्य दिया कि युवकोंको अहिंसाकी शिक्षा देना उनको उलटे रास्ते ले जाना है। अहिंसासे ही देशमें निर्बलता आ गई है। इस निर्बलताको अहिंसाकी शिक्षासे और भी उत्तेजना मिलेगी। लोकमान्य तिलकने भी कुछ ऐसे ही विचार प्रकट किये कि राजनीतिके क्षेत्रमें सत्यका पालन मर्यादित ही हो सकता है; इसमें तो चाणक्य-नीतिकी ही विजय होती है। यह समय अहिंसा और सत्यमें पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी आपत्तिके प्रसंगपर या दूसरे आपवादित प्रसंगोंपर अहिंसा और सत्यके अनुसरणका एकान्तिक आग्रह न रखनेवाले धार्मिक वर्गके लिए तो अनुकूल ही था। जो बात उनके मनमें थी, वही उनको मिल गई। किन्तु लालाजी या लो० तिलकके ये उद्गार जैनोंके अनुकूल नहीं थे। अब विचारशील जैन गृहस्थों और त्यागियोंके सामने दो बातें आईं, एक तो लालाजीके ' अहिंसासे निर्बलता आती है ' इस आक्षेपका समर्थ रीतिसे जवाब देना और दूसरी बात यह सोचना कि जिस कांग्रेसके महारथी नेता हिंसा और चाणक्य-नीतिका पोषण करते हैं, उसमें अहिंसाको परम धर्म माननेवाले जैन किस तरह भाग लें ? यह दूसरी बात जैन त्यागियोंकी प्राचीन मनोवृत्तिके बिल्कुल अनुकूल थी, बल्कि इससे तो उनको यह साबित करनेका नया साधन मिल गया कि कांग्रेसमें सच्चे जैन और विशेषकर त्यागी जैन भाग नहीं ले सकते। किन्तु पहले आक्षेपका जवाब क्या हो ? जवाब तो

देशकी विभिन्न जैन संस्थाओं द्वारा बहुत-से दिये गये, किन्तु वे लालाजीके समान समर्थ व्यक्तित्ववाले देशभक्तके सामने मच्छरोंकी गुनगुनाहट जैसे ही रहे। कई जैन पत्रोंमें भी कुछ समय तक ऊहापोह होता रहा, और फिर शान्त हो गया। तिलकके सामने बोलनेकी भी किसी जैन गृहस्थ या त्यागीकी हिम्मत नहीं हुई। सब यही समझते और मानते रहे कि उनकी बात सही है। राज-काज भी क्या बिना चाणक्य नीतिके चल सकता है? किन्तु इसका सुन्दर जवाब जैनोंके पास इतना ही सभव था कि ऐसी संस्थामें हम अगर भाग ही न लें, तो पापसे बचे रहेंगे।

अचानक हिन्दुस्तानके कर्म-क्षेत्रके व्यास-पीठपर एक गुजरातका तपस्वी आया, और उसने जीवनमें उतारे हुए सिद्धान्तके बलपर लालाजीको जवाब दिया कि अहिंसासे निर्बलता नहीं आती है, अहिंसामें अपरिमित बल समाया हुआ है। उसने यह भी स्पष्ट किया कि अगर हिंसा वीरताकी ही पोषक होती या हो सकती, तो जन्मसे हिंसाप्रिय रहनेवाली जातियाँ भी भीरु नहीं दिखाई देतीं। यह जवाब अगर सिर्फ शास्त्रके आधारपर या कल्पनाके बलपर ही दिया गया होता, तो इसकी धज्जियाँ उड़ा दी गई होतीं और लालाजी जैसोंके सामने कुछ भी न चलती। तिलकको भी उस तपस्वीने जवाब दिया कि "राजनीतिका इतिहास दाव-पेचों और असत्यका इतिहास तो है, किन्तु वह इतिहास यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसके बहुतसे पृष्ठ अभी लिखे जानेको हैं।" तिलकको यह दलील तो मान्य नहीं हुई, किन्तु उनके मनपर यह छाप अवश्य पड़ गई कि दलील करनेवाला व्यक्ति सिर्फ बोलनेवाला नहीं है। वह तो जो कहता है, सो करके दिखानेवाला है और सच्चा है। इसलिए तिलक एकाएक उसके कथनकी उपेक्षा नहीं कर सके और अगर करते भी तो वह सत्यप्राण कहाँ किसीकी परवाह करनेवाला था!

अहिंसा धर्मके समर्थ रक्षककी इस क्षमतापर जैनोंके घर मिठाई बाँटी गई; सब राजी हुए। साधु और गद्दीधारी आचार्य भी कहने लगे कि देखो लाला-जीको कैसा जवाब दिया है! महावीरकी अहिंसाको वास्तवमें गाँधीजीने ही समझा है। सत्यकी अपेक्षा अहिंसाको प्रधानता देनेवाले जैनोंके लिए अहिंसाका बचाव ही मुख्य संतोषका विषय था। उन्हें इस बातसे बहुत वास्ता

नहीं था कि राज-काजमें चाणक्य-नीतिका अनुसरण किया जाय या आत्यन्तिक सत्य नीतिका। किन्तु गाँधीजीकी शक्ति प्रकट होनेके बाद जैनोंमें सामान्यतः स्वधर्म-विजयकी जितनी प्रसन्नता प्रकट हुई, उतनी ही वैदिक और मुसलमान समाजके धार्मिक लोगोंमें तीव्र रोष-वृत्ति जाग्रत हुई। वेद-भक्त आर्यसमाजियोंमें ही नहीं, महाभारत, उपनिषत् और गीताके भक्तोंमें भी यह भाव उत्पन्न हो गया कि गाँधी तो जैन मालूम पड़ता है। यदि यह वैदिक या ब्राह्मण धर्मका मर्म लो० तिलकके समान जानता होता, तो अहिंसा और सत्यकी इतनी आत्यन्तिक और एकान्तिक हिमायत न करता। कुरान-भक्त मुसलमानोंका चिढ़ना तो स्वाभाविक ही था। चाहे जो हो, पर यह निश्चय है कि जबसे कांग्रेसके कार्य-प्रदेशमें गाँधीजीका हस्त-प्रसार हुआ, तबसे कांग्रेसके द्वार जैनोंके वास्ते खुल गये। इस बातके साथ-साथ यह भी कह देना चाहिए कि अगर हिन्दुस्तानमें जैनों जितने या उनसे कम प्रभावशाली बौद्ध गृहस्थ या भिक्षु होते तो उनके वास्ते भी कांग्रेसके द्वार धर्म-दृष्टिसे खुल गये होते।

मेरी समझमें ऊपरका संक्षिप्त विवरण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति समझनेके लिए काफी है। साम्प्रदायिक भावनासे मन इतना संकीर्ण और निष्क्रिय जैसा हो जाता है कि उसे विशाल कार्य-प्रदेशमें आने तथा सक्रिय सहयोग देनेकी सूझती ही नहीं। इसलिए जब तिलक और लालाजीकी भावना राजकीय क्षेत्रमें मुख्य थी, तब भी महाभारत, गीता और चाणक्य-नीतिके भक्त कट्टर हिन्दुओं और कट्टर सन्यासियोंने कांग्रेसको अपना कार्य-क्षेत्र नहीं माना। वे किसी न किसी बहाने अपनी धार्मिकता कांग्रेससे बाहर रहनेमें ही समझते थे। इसी तरह जब गाँधीजीकी सत्य और अहिंसाकी तात्त्विक दृष्टि राजकीय क्षेत्रमें दाखिल हुई, तब भी अहिंसाके अनन्य उपासक और प्रचारक कट्टर जैन गृहस्थ और जैन साधु कांग्रेसके दरवाजेसे दूर रहे और उससे बाहर रहनेमें ही अपने धर्मकी रक्षा करनेका संतोष पोषण करते रहे।

किन्तु दैव शिक्षाके द्वारा नई सृष्टि तैयार कर रहा है। प्रत्येक सम्प्रदायके युवकोंने थोड़े या ज्यादा परिमाणमें शिक्षा-क्षेत्रमें भी परिवर्तन शुरू कर दिया है। युवकोंका विचार-बिन्दु तेजीसे बदलता जा रहा है। शिक्षाने कट्टर साम्प्रदायिक पिताके पुत्रमें भी पिताकी अपेक्षा विशेष विशाल दृष्टि-बिन्दु निर्माण

किया है। इसलिए हरएक सम्प्रदायकी नई पीढ़ीके लोगोंको चाहे वे अपने धर्मशास्त्रके मूल सिद्धान्त बहुत गम्भीरतासे जानते हों या न जानते हों, यह स्पष्ट मालूम हो गया कि अपने बुजुर्ग और धर्माचार्य जिन धर्म-सिद्धान्तोंकी महत्ता गाते हैं उन सिद्धान्तोंको वे अपने घेरोंमें सजीव या कार्यशील नहीं करते या नहीं कर सकते। क्योंकि अपने बाड़ेके बाहर कांग्रेस जैसे व्यापक क्षेत्रमें भी वे अपनी सिद्धान्तकी सक्रियता और शक्यता नहीं मानते। इसलिए नई पीढ़ीने देख लिया कि उसके वास्ते ये सम्प्रदाय, व्यवहार और धर्म दोनों दृष्टिसे बंधनस्वरूप हैं। इस खयालसे हरएक सम्प्रदायकी शिक्षित नई पीढ़ीने राष्ट्रीयताकी तरफ झुककर और साम्प्रादायिक भेदभाव छोड़कर कांग्रेसको अपना कार्य-क्षेत्र बना लिया है।

अब तो सम्प्रदायके कट्टर पंडितों, धर्माचार्यों और कांग्रेसानुगामी नई पीढ़ीके बीच विचार-द्वन्द्व शुरू हो गया। जब कट्टर मुल्ला या मौलवी तरुण मुसलमानसे कहता है कि "तुम कांग्रेसमें जाते हो, किन्तु वहाँ तो इस्लामके विरुद्ध बहुत-सी बातें होती हैं, तुम्हारा फर्ज सबसे पहले अपने दीन इस्लामको रोशन करना और अपने भाइयोंको अधिक सबल बनाना है।" तब इस्लाम तरुण जवाब देता है कि "राष्ट्रीय विशाल क्षेत्रमें तो उल्टा मुहम्मद साहबके भ्रातृभावके सिद्धान्तको विशेष व्यापक रूपसे सजीव बनाना संभव है। सिर्फ इस्लामहीके बाड़ेमें तो यह सिद्धान्त शिया, सुन्नी, वगैरह नाना तरहके भेदोंमें पड़कर खण्डित हो गया है और समग्र देशोंके अपने पड़ोसी भाइयोंको 'पर' मानता आया है।" इसपर मुल्ला या मौलवी इन युवकोंको नास्तिक समझकर दुतकार देता है। सनातनी पण्डित और सनातनी सन्यासी भी इसी भाँति अपनी नई पीढ़ीसे कहते हैं कि "अगर तुमको कुछ करना ही है तो क्या हिन्दू जातिका क्षेत्र छोटा है? कांग्रेसमें जाकर तो तुम धर्म, कर्म और शास्त्रकी हत्या ही करोगे।" नई पीढ़ी उनसे कहती है कि आप जिस धर्म, कर्म और शास्त्रोंके नाशकी बात कहते हो उसको अब नई रीतिसे जीवित करनेकी जरूरत है।

यदि प्राचीन रीतिसे ही उनका जीवित रह सकना शक्य होता तो इतने पंडितों और संन्यासियोंके होते हुए हिन्दू धर्मका तेज नष्ट नहीं हुआ होता

जब कट्टरपंथी जैन गृहस्थ और त्यागी धर्मगुरु तरुण पीढ़ीसे कहते हैं कि "तुम गाँधी गाँधी पुकारकर कांग्रेसकी तरफ क्यों दौड़ते हो ? अगर तुमको कुछ करना ही है तो अपनी जाति और समाजके लिए क्यों नहीं कुछ करते ?" तरुण कोरा जवाब देते हैं कि "अगर समाज और जातिमें ही काम करना शक्य होता और तुम्हारी इच्छा होती तो क्या तुम खुद ही इसमें कोई काम नहीं करते ? जब तुम्हारी जातीय और साम्प्रदायिक भावनाने तुम्हारे छोटेसे समाजमें ही सैकड़ों भेदोपभेद पैदा कर क्रिया-कांडके कल्पित जालोंकी एक बाढ़ खड़ी कर दी है, जिससे तुम्हारे खुदके लिए भी कुछ करना शक्य नहीं रहा, तब हमको भी इस बाड़ेमें खींचकर क्यों खिलवाड़ करना चाहते हो ?" इस प्रकार प्राचीन साम्प्रदायिक और नए राष्ट्रीय मानसके बीच संघर्ष चलता रहा, जो अब भी चालू है।

विचार-संघर्ष और ऊहापोहसे जिस प्रकार राष्ट्रीय महासभाका ध्येय और कार्यक्रम बहुत स्पष्ट और व्यापक बना है, उसी प्रकार नई पीढ़ीका मानस भी अधिकाधिक विचारशील और असंदिग्ध बन गया है। आजका तरुण ईसाई भी यह स्पष्ट रूपसे समझता है कि गरीबों और दुखियोंकी भलाई करनेका ईसाका प्रेम-संदेश यदि जीवनमें सच्ची रीतिसे उतारना अभीष्ट हो, तो उसके लिए हिन्दुस्तानमें रहकर राष्ट्रीय महासभा जैसा दूसरा विशाल और असंकुचित क्षेत्र नहीं मिल सकता। आर्य समाजमें भी नई पीढ़ीके लोगोंका यह निश्चय है कि स्वामी दयानन्दद्वारा प्रतिपादित सारा कार्यक्रम उनके दृष्टिबिन्दुसे और भी अधिक विशाल क्षेत्रमें अमलमें लानेका कार्य कांग्रेस कर रही है। इस्लाममें भी नई पीढ़ीके लोग अपने पैगम्बर साहबके भ्रातृभावके सिद्धान्तको कांग्रेसके पंडालमें ही मूर्तिमान होता देख रहे हैं। कृष्णके भक्तोंकी नई पीढ़ी भी उनके कर्मयोगकी शक्ति कांग्रेसमें ही पाती है। नई जैन पीढ़ी भी महावीरकी अहिंसा और अनेकांत दृष्टिकी व्यावहारिक तथा तात्त्विक उपयोगिता कांग्रेसके कार्यक्रमके बाहर कहीं नहीं देखती। इसी कारण आज जैन समाजमें एक प्रकारका क्षोभ पैदा हो गया है, जिसके बीज वर्षों पहले बोये जा चुके थे। आज विचारशील युवकोंके सामने यह प्रश्न है कि उनको अपने विचार और कार्य-नीतिके अनुकूल आखिरी फैसला कर लेना चाहिए। जिसकी

समझमें आवे, वह इसका पालन करे, जिसकी समझमें न आवे, वह प्राचीन परिपाटीका अनुसरण करे। नई पीढ़ीके लिए स्पष्ट शब्दोंमें इस तरहके निश्चित सिद्धान्त और कार्यक्रमके होनेकी अनिवार्य जरूरत है।

मुझे स्पष्ट दिखाई देता है, और मैं यह मानता हूँ कि राष्ट्रीय महासभाके ध्येय, विचारसरणि और कार्य-प्रदेशमें अहिंसा तथा अनेकान्तदृष्टि, जो जैन तत्त्वके प्राण हैं, अधिक तात्त्विक रीतिसे और अधिक उपयोगी तरीकेसे कार्य रूपमें आ रहे हैं। यद्यपि कांग्रेसके पंडालके आसनोंपर पीले या सफेद वस्त्रधारी या नग्नमूर्ति जैन साधु बैठे नहीं दिखाई देते; वहाँ उनके मुँहसे निकलती हुई अहिंसाकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या किन्तु अहिंसाकी रक्षाके लिए प्रशस्त हिंसा करनेके उपदेशकी वाग्धारा नहीं सुनाई देती; यह भी सत्य है कि वहाँ भगवानकी मूर्तियाँ, उनकी पूजाके लिए फूलोंके ढेर, सुगंध-द्रव्य, और आरतीके समयकी घटाध्वनि नहीं होती; वहाँके व्याख्यानोंमें 'तहत्ति तहत्ति' कहने वाले भक्त और 'गहूली' गानेवाली बहनें भी नहीं मिलती; कांग्रेसकी रसोईमें उपधान तप वगैरहके आगे पीछेकी तैयारीके विविध मिष्टान्न भी नजर नहीं आते; फिर भी जिनमें विचार-दृष्टि है, उनको स्पष्ट समझमें आ जाता है कि कांग्रेसकी प्रत्येक विचारणा और प्रत्येक कार्यक्रमके पीछे व्यावहारिक अहिंसा और व्यावहारिक अनेकान्त दृष्टि काम कर रही है।

खादी उत्पन्न करनी करानी और उसीका व्यवहार करना, यह कांग्रेसके कार्यक्रममें है। क्या कोई जैन साधु बता सकता है कि इसकी अपेक्षा अहिंसाका तत्त्व किसी दूसरी रीतिसे कपड़ा तैयार करनेमें है? सिर्फ छोटी छोटी जातियोंको ही नहीं, छोटे छोटे सम्प्रदायोंको ही नहीं, परन्तु परस्पर एक दूसरेसे एकदम विरोधी भावनावाली बड़ी बड़ी जातियों और बड़े बड़े पंथोंको भी उनके एकान्तिक दृष्टिबिन्दुसे खींच कर सर्व-हित-समन्वयरूप अनेकान्त दृष्टिमें संगठित करनेका कार्य क्या कांग्रेसके सिवाय दूसरी कोई संस्था या कोई जैन 'पोषाल' करती है या कर सकती है? और जब यह बात है तो धार्मिक कहे जानेवाले जैन साम्प्रदायिक गृहस्थों और जैन साधुओंकी दृष्टिसे भी उनके खुदके ही अहिंसा और अनेकान्त दृष्टिके सिद्धान्तको आंशिक रूपमें भी सजीव कर बतानेके लिए नई पीढ़ीको कांग्रेसका मार्ग ही स्वीकार करना चाहिए, यही फलित होता है।

यह बात चारों तरफ फैलाई जाती है कि जैन शास्त्रोंमें अनेक उदात्त सिद्धान्त हैं। उदाहरणके लिए प्रत्येक साधु और आचार्य कह सकता है कि महावीरने तो बिना जाँत-पाँतके भेदके, पतितों और दलितोंको भी उन्नत करनेकी बात कही है, स्त्रियोंको भी समान समझनेका उपदेश दिया है; किन्तु आप जब इन उपदेशकोंसे पूछेंगे कि आप खुद इन सिद्धान्तोंके माफिक व्यवहार क्यों नहीं करते, तो वे एक ही जवाब देंगे कि क्या करें, लोकरूढ़ि दूसरी तरफ हो गई है, इसलिए सिद्धान्तके अनुसार व्यवहार करना कठिन है। वक्त आनेपर यह रूढ़ि बदलेगी, और तब सिद्धान्त अमलमें आवेंगे। इस तरह ये उपदेशक रूढ़ि बदलनेके बाद काम करनेको कहते हैं। सो ये रूढ़ियाँ बदलकर या तोड़कर उनके लिए कार्यक्षेत्र निर्माण करनेका ही तो कार्य कांग्रेस कर रही है। इसलिए कांग्रेसके सिवाय दूसरा कोई सांप्रदायिक कार्यक्रम ऐसा नहीं है जो नई पीढ़ीके विचारकोंको संतोष प्रदान कर सके।

हाँ, सम्प्रदायमें ही सन्तोष मान लेने लायक अनेक बातें हैं। जो उनको पसन्द करें, वे उसीमें रहें। यदि थोड़ी अधिक कीमत देकर मोटी खुरदरी खादी पहनकर भी अहिंसा वृत्तिका पोषण न करना हो, और नलके ऊपर चौबीसों घण्टे छन्ना कपड़ा बाँधकर या हिंसकोंके हाथसे अनेक जीवोंको छुड़वाकर अहिंसा पालनेका संतोष करना हो, तो सम्प्रदायिक क्षेत्र बहुत सुन्दर है। लोग उस व्यक्तिको सहज ही अहिंसाप्रिय और धार्मिक मान लेंगे, और उसको कुछ ज्यादा करना कराना भी न पड़ेगा। दलितोद्धारके लिए प्रत्यक्ष कुछ भी कार्य किये बिना या उसके लिए धन व्यय किये बिना भी सम्प्रदायमें बड़े धार्मिक कहलानेकी विधि नोकारशी, पूजापाठ, और संघ निकालनेकी खर्चीली प्रथाएँ मौजूद हैं, जिनमें दिलचस्पी लेनेसे धर्म-पालन समझा जाय, संप्रदायका पोषण समझा जाय और इसके अलावा तात्त्विक रूपसे कुछ करना भी न पड़े। जहाँ देखो वहाँ सम्प्रदायमें एक ही वस्तु नजर आवेगी, और वह यह कि कोई न कोई निर्जीव क्रियाकांड, कोई न कोई धार्मिक व्यवहारकी रूढ़ि पूरी कर उसीमें धर्म करनेका संतोष मान लेना और फिर उसीके आधारपर आजीविकाका पोषण करना।

आजका युवक जीवन चाहता है; उसको स्वरूपकी बनिस्बत आत्माकी ज्यादा फिक्र है; शुष्क वादोंकी अपेक्षा जीवित सिद्धान्त ज्यादा प्रिय लगते हैं; पारलौकिक मोक्षकी निष्क्रिय बातोंकी अपेक्षा ऐहिक मोक्षकी सक्रिय बातें ज्यादा आकर्षित करती हैं; संकुचित सीमामें चलने या दौड़नेमें उसे कोई दिलचस्पी नहीं। उसको धर्म करना हो तो धर्म और कर्म करना करना हो तो कर्म, परन्तु जो करना हो खुलमखुला करना अच्छा लगता है; धर्मकी प्रतिष्ठाका लोभ लेकर दभके जालमें पड़ना उसे अभीष्ट नहीं। उसका मन किसी वेष, किसी क्रिया-कांड या किसी विशेष प्रकारके व्यवहार मात्रमें बँधे रहनेको तैयार नहीं; इसीलिए आजका युवक-मानस अपना अस्तित्व और विकास केवल साम्प्रदायिक भावनामें पोषित कर सके, ऐसी बात नहीं रही है। अतएव जैन हो या जैनेतर, प्रत्येक युवक राष्ट्रीय महासभाके विशाल प्रांगणकी तरफ हँसते हुए चेहरे और फूलती हुई छातीसे एक दूसरेके साथ कन्धा मिलाकर जा रहा है।

यदि इस समय सारे सम्प्रदाय चेत जायँ तो नये रूपमें उनके सम्प्रदाय जी सकते हैं और अपनी नई पीढ़ीके लोगोंका आदर अपनी तरफ खींचकर रख सकते हैं। जिस तरह आजका संकीर्ण जैन सम्प्रदाय क्षुब्ध हो उठा है, उसी तरह यदि वह नवयुवकोंकी तरफ-सच्चे तौरपर नवयुवकोंको आकर्षित करनेवाली राष्ट्रीय महासभाकी तरफ-उपेक्षा या तिरस्कारकी दृष्टिसे देखेगा तो उसकी दोनों तरफ मौत है।

नई-शिक्षाप्राप्त एक तरुणी एक गोपाल-मन्दिरमें कुतूहलवश चली गई। गोस्वामी दामोदर लालजीके दर्शनोंके हेतु बहुत-सी भावुक ललनाएँ जा रही थीं, वह भी उनके साथ हो ली। गोस्वामीजी भक्तिनोंको अलग अलग संबोधन करके कहने लगे कि "मा कृष्ण भावय आत्मानं च राधिकाम्" अर्थात् मुझे कृष्ण समझो और अपनेको राधिका। और सब भोली भक्तिनें तो महाराज श्रीके वचनोंको कृष्ण-वचन समझकर इसी तरह मानती आ रहीं थीं, किन्तु उस नवशिक्षिता युवतीमें तर्कबुद्धि जाग्रत हो गई थी। वह चुप नहीं रह सकी; नम्रतापूर्वक किन्तु निडरतामें बोली कि "आपको कृष्ण माननेमें मुझे जरा भी आपत्ति नहीं, किन्तु मैं यह देखना चाहती हूँ कि कृष्णने जिस तरह कंसके हाथीको पछाड़ दिया था, उसी तरह आप किसी हाथी नहीं, सांड़ नहीं, एक

छोटे बछड़ेको ही पछाड़ दीजिए। कृष्णने तो कंसके मुष्टिक और चाणूर मल्लोंको परास्त किया था, आप ज्यादा नहीं तो गुजरातके एक साधारणसे पहलवान युवकको ही परास्त कर दीजिए। कृष्णाने कंसको पछाड़ दिया था; आप अपने वैष्णव धर्मके विरोधी किसी यवनको ही पछाड़ दीजिए।" यह जबर्दस्त तर्क था। महाराजने बड़बड़ाते हुए कहा कि इस तरुणीमें कलियुगकी बुद्धि आ गई है। मेरी धारणा है कि इस तरहकी कलियुगी बुद्धि रखनेवाला आज प्रत्येक संप्रदायका प्रत्येक युवक अपने संप्रदायके शास्त्रोंको सांप्रदायिक दृष्टिसे देखनेवाले और उसका प्रवचन करनेवाले सांप्रदायिक धर्म-गुरुओंको ऐसा ही जवाब देगा। मुसलमान युवक होगा तो मौलवीसे कहेगा कि "तुम हिन्दुओंको काफिर कहते हो, परन्तु तुम खुद काफिर क्यों नहीं हो? जो गुलाम होते हैं, वे ही काफिर हैं। तुम भी तो गुलाम हो। अगर गुलामीमें रखनेवालोंको काफिर गिनते हो तो राज्यकर्त्ताओंको काफिर मानो; फिर उनकी सोड़में क्यों घुसते हो?" युवक अगर हिन्दू होगा तो व्यासजीसे कहेगा कि "यदि महाभारतकी वीरकथा और गीताका कर्मयोग सच्चा है तो आज जब वीरत्व और कर्मयोगकी खास जरूरत है तब तुम प्रजाकीय रणांगणसे क्यों भागते हो?" युवक अगर जैन होगा तो 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' का उपदेश देनेवाले जैन गुरुसे कहेगा कि "अगर तुम वीर हो तो सार्वजनिक कल्याणकारी प्रसंगों और उत्तेजनाके प्रसंगोंपर क्षमा पालन करनेका पदार्थ-पाठ क्यों नहीं देते? सात व्यसनोंके त्यागका सतत उपदेश करनेवाले तुम जहाँ सब कुछ त्याग कर दिया है, वहीं बैठ कर इस प्रकार त्यागकी बात क्यों करते हो? देशमें जहाँ लाखों शराबी बर्बाद होते हैं, वहाँ जाकर तुम्हारा उपदेश क्यों नहीं होता? जहाँ अनाचारजीवी स्त्रियाँ बसती हैं, जहाँ कसाईघर हैं और मांस-विक्रय होता है, वहाँ जाकर कुछ प्रकाश क्यों नहीं फैलाते?" इस प्रकार आजका कलियुगी युवक किसी भी गुरुके उपदेशकी परीक्षा किये बिना या तर्क किये बिना माननेवाला नहीं है। वह उसीके उपदेशको मानेगा जो अपने उपदेशको जीवनमें उतार कर दिखा सके। हम देखते हैं कि आज उपदेश और जीवनके बीचके भेदकी दिवाल तोड़नेका प्रयत्न राष्ट्रीय महासभाने किया है और कर रही है। इसलिए सभी सम्प्रदायोंके लिए यही एक कार्य-क्षेत्र है।

जैन समाजमें तीन वर्ग हैं। एक सबसे संकुचित है। उसका मानस ऐसा है कि यदि किसी वस्तु, कर्तव्य और प्रवृत्तिके साथ अपना और अपने जैन धर्मका नाम न हो तो उस वस्तु, उस कर्तव्य और उस प्रवृत्तिकी, चाहे वह कितनी भी योग्य क्यों न हो, तिरस्कार नहीं, तो कमसे कम उपेक्षा तो जरूर करेगा। इसके मुखिया साधु और गृहस्थ दोनों हैं। इनमें पाये जानेवाले कट्टर क्रोधी और जिद्दी लोगोंके विषयमें कुछ कहनेकी अपेक्षा मौन रहना ज्यादा अच्छा है। दूसरा वर्ग उदार नामसे प्रसिद्ध है। इस वर्गके लोग प्रकट रूपसे अपने नामका या जैनधर्मका बहुत आग्रह या दिखावा नहीं करते। बल्कि शिक्षाके क्षेत्रमें भी गृहस्थोंके लिए कुछ करते हैं। देश परदेशमें, सार्वजनिक धर्म-चर्चा या धर्म-विनिमयकी बातमें दिलचस्पी रखकर जैन धर्मका महत्त्व बढ़ानेकी चेष्टा करते हैं। यह वर्ग कट्टर वर्गकी अपेक्षा अधिक विचारवान् होता हैं। किन्तु हमे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस वर्गकी पहले वर्गकी अपेक्षा कुछ सुधरी हुई मनोदशा है। पहला वर्ग तो क्रोधी और निडर होकर जैसा मानता है, कह देता है, परन्तु यह दूसरा वर्ग भीरुताके कारण बोलता तो नहीं है, फिर भी दोनोंकी मनोदशाओंमें बहुत फर्क नहीं है। यदि पहले वर्गमें रोष और अहंकार है, तो दूसरे वर्गमें भीरुता और कृत्रिमता है। वास्तविक धर्मकी प्रतिष्ठा और जैन धर्मको सजीव बनानेकी प्रवृत्तिसे दोनों ही समान रूपसे दूर हैं। उदाहरण स्वरूप, राष्ट्रीय जीवनकी प्रवृत्तिको ही ले लीजिए। पहला वर्ग खुल्लमखुल्ला कहेगा कि राष्ट्रीय प्रवृत्तिमें जैन धर्मको स्थान कहाँ है ? ऐसा कहकर वह अपने भक्तोंको उस तरफ जानेसे रोकेगा। दूसरा वर्ग खुल्लमखुल्ला ऐसा नहीं कहेगा किन्तु साथ ही अपने किसी भक्तको राष्ट्रीय जीवनकी तरफ जाता देखकर प्रसन्न नहीं होगा। खुदके भाग लेनेकी तो बात दूरकी है, यदि कोई उनका भक्त राष्ट्रीय प्रवृत्तिकी तरफ झुका होगा या झुकता होगा, तो उसके उत्साहको वे " जो गुड़से मरे उसे विषसे न मारिए " की नीतिसे ठण्डा अवश्य कर देंगे। उदाहरण लीजिए। यूरोप अमेरिकामें विश्वबंधुत्वकी परिषदें होती हैं, तो वहाँ जैनधर्म जबर्दस्ती अपना स्थान बनाने पहुँच जाता है, परन्तु बिना परिश्रमके ही विश्वबंधुत्वकी प्रत्यक्ष प्रवृत्तिमें भाग लेनेके देशमें ही प्राप्त सुलभ अवसरका वह उपयोग नहीं करता। राष्ट्रीय महासभाके समान विश्व-बंधुत्वका सुलभ और

घरका कार्यक्षेत्र छोड़कर लंदन और अमेरिकाकी परिषदोंमें भाग लेनेके लिए माथापच्ची करता है। मालूम नहीं, स्वदेशकी प्रत्यक्ष विश्वबंधुत्वसाधक प्रवृत्तियोंमें अपने तन मन और धनका सहयोग देना छोड़कर ये परदेशमें हजारों मील दूरकी परिषदोंमें दस पाँच मिनट बोलनेके लिए जबर्दस्ती अपमान-पूर्वक क्यों ऊँचे नीचे होते हैं। इन सबका जवाब ढूँढ़ेंगे तो आपको दूसरे वर्गका मानस समझमें आ जावेगा। बात यह है कि दूसरे वर्गको कुछ करना तो अवश्य है, परन्तु वही करना है जो प्रतिष्ठा बढ़ावे और फिर वह प्रतिष्ठा ऐसी हो कि अनुयायी लोगोंके मनमें बसी हुई हो। ऐसी न हो कि जिससे अनुयायियोंको कोई छेड़छाड़ करनेका मौका मिले। इसीलिए यह उदार वर्ग जैनधर्ममें प्रतिष्ठाप्राप्त अहिंसा और अनेकान्तके गीत गाता है। ये गीत होते भी ऐसे हैं कि इनमें प्रत्यक्ष कुछ भी नहीं करना पड़ता। पहला वर्ग तो इन गीतोंके लिए उपाश्रयोंका स्थान ही पसन्द करता था, जब कि दूसरा वर्ग उपाश्रयके सिवाय दूसरे ऐसे स्थान भी पसन्द करता है जहाँ गीत तो गाये जा सकें, पर कुछ करनेकी आवश्यकता न हो। तत्त्वतः दूसरा उदार वर्ग अधिक भ्रामक है, कारण उसको बहुत लोग उदार समझते हैं। गायकवाड़नरेश जैसे दूरदर्शी राजपुरुषोंके लिए विश्व-बंधुत्वकी भावनाको मूर्तिमान करनेवाली राष्ट्रीय महासभाकी प्रवृत्तिमें भाग न लेनेका कोई कारण रहा हो, यह समझमें आ सकता है किन्तु त्याग और सहिष्णुताका चोला पहनकर बैठे हुए और तपस्वी माने जानेवाले जैन साधुओंके विषयमें यह समझना मुश्किल है। वे अगर विश्वबन्धुत्वको वास्तवमें जीवित करना चाहते हैं तो उसके प्रयोगका सामने पड़ा हुआ प्रत्यक्ष क्षेत्र छोड़कर केवल विश्वबन्धुत्वकी शाब्दिक खिलवाड़ करनेवाली परिषदोंकी मृगतृष्णाके पीछे क्यों दौड़ते हैं?

अब तीसरे वर्गको लीजिए। यह वर्ग पहले कहे हुए दोनों वर्गोंसे बिलकुल भिन्न है। क्योंकि इसमें पहले वर्ग जैसी संकुचित दृष्टि या कट्टरता नहीं है कि जिसको लेकर चाहे जिस प्रवृत्तिके साथ केवल जैन नाम जोड़कर ही प्रसन्न हो जाय, अथवा सिर्फ क्रियाकांडोंमें मूर्छित होकर समाज और देशकी प्रत्यक्ष सुधारने योग्य स्थितिके सामने आँख बन्द करके बैठ रहे। यह तीसरा वर्ग उदार हृदयका है, लेकिन दूसरे वर्गकी उदारता और इसकी उदारतामें बड़ा

अन्तर है। दूसरा वर्ग रूढ़ियों और भयके बन्धन छोड़े बिना ही उदारता दिखलाता है जिससे उसकी उदारता कामके अवसरपर केवल दिखावा सिद्ध होती है, जब कि तीसरे वर्गकी उदारता शुद्ध कर्त्तव्य और स्वच्छ दृष्टिमेंसे उत्पन्न होती है। इसलिए उसको सिर्फ जैन नामका मोह नहीं होता, साथ ही उसके प्रति घृणा भी नहीं होती। इसी प्रकार वह उदारता या सुधारके केवल शाब्दिक खिलवाड़में नहीं फँसता। वह पहले अपनी शक्तिका माप करता है और पीछे कुछ करनेकी सोचता है। उसको जब स्वच्छ दृष्टिसे कुछ कर्त्तव्य सूझता है तब वह बिना किसीकी खुशी या नाराजीका ख्याल किये उस कर्त्तव्यकी ओर दौड़ पड़ता है। वह केवल भूतकालसे प्रसन्न नहीं होता। दूसरे जो प्रयत्न करते हैं, सिर्फ उन्हींकी तरफ देखते हुए बैठे रहना पसन्द नहीं करता। उसको जाति, संप्रदाय, या क्रियाकाडके प्रतिबन्ध पसन्द नहीं होते। वह इन प्रतिबन्धोंके भीतर भी रहता है और इनसे बाहर भी विचरता है। उसका सिद्धान्त यही रहता है कि धर्मका नाम मिले या न मिले, किसी किस्मका सर्व-हितकारी कल्याण-कार्य करना चाहिए।

यह जो तीसरा वर्ग है, वह छोटा है, लेकिन उसकी विचार-भूमिका और कार्य-क्षेत्र बहुत विशाल है। इसमें सिर्फ भविष्यकी आशाएँ ही नहीं होतीं पर अतीतकी शुभ विरासत और वर्तमान कालके कीमती और प्रेरणादायी बल तकका समावेश होता है। इसमें थोड़ी, आचरणमें आ सके उतनी, अहिंसाकी बात भी आती है। जीवनमें उतारा जा सके और जो उतारना चाहिए, उतना अनेकान्तका आग्रह भी रहता है। जिस प्रकार दूसरे देशोंके और भारतवर्षके अनेक सप्रदायोंने ऊपर बतलाये हुए एक तीसरे युवक वर्गको जन्म दिया है, उसी तरह जैन परम्पराने भी इस तीसरे वर्गको जन्म दिया है। समुद्रमेंसे बादल बनकर फिर नदी रूपमें होकर अनेक तरहकी लोक-सेवा करते हुए जिस प्रकार अंतमें वह समुद्रमें ही लय हो जाता है, उसी प्रकार महासभाके आँगनमेंसे भावना प्राप्त कर तैयार हुआ और तैयार होता हुआ यह तीसरे प्रकारका जैन वर्ग लोक-सेवा द्वारा आखिरमें महासभामें ही विश्रान्ति लेगा।

हमको समझ लेना चाहिए कि आखिरमें तो जल्दी या देरीसे सभी संप्रदा-योंको अपने अपने चौकोमें रहते हुए या चौकोंसे बाहर जाकर भी वास्तविक

उदारताके साथ महासभामें मिल जाना अनिवार्य्य होगा। महासभा राजकीय संस्था होनेसे धार्मिक नहीं, या सबका शंभु-मेला होनेके कारण अपनी नहीं, दूसरोंकी है—यह भावना, यह वृत्ति अब दूर होने लग गई है। लोग समझते जाते हैं कि ऐसी भावना केवल भ्रमवश थी।

पर्युषण पर्वके दिनोंमें हम सब मिलें और अपने भ्रम दूर करें, तभी यह ज्ञान और धर्मका पर्व मनाया समझा जायगा। आप सब निर्भय होकर अपनी स्वतंत्र दृष्टिसे विचार करने लगें, यही मेरी अभिलाषा है। और उस समय चाहे जिस मतमें रहें, चाहे जिस मार्गसे चलें, मुझे विश्वास है, आपको राष्ट्रीय महासभामें ही हरेक संप्रदायकी जीवन-रक्षा मालूम पड़ेगी; उसके बाहर कदापि नहीं।

पर्युषण-व्याख्यानमाला
बम्बई, १९३८ } —अनुवादक **भंवरमल सिंघी**

विकासका मुख्य साधन

विकास दो प्रकारका है, शारीरिक और मानसिक। शारीरिक विकास केवल मनुष्योंमें ही नहीं पशु-पक्षियों तकमें देखा जाता है। खान-पान-स्थान आदिके पूरे सुभीते मिलें और चिन्ता, भय न रहे, तो पशु पक्षी भी खूब बलवान्, पुष्ट और गठीले हो जाते हैं। मनुष्यों और पशु-पक्षियोंके शारीरिक विकासका एक अन्तर ध्यान देने योग्य है, कि मनुष्यका शारीरिक विकास केवल खान-पान और रहन-सहन आदिके पूरे सुभीते और निश्चिन्ततामें ही सिद्ध नहीं हो सकता जब कि पशु-पक्षियोका हो जाता है। मनुष्यके शारीरिक विकासके पीछे जब पूरा और समुचित मनोव्यापार-बुद्धियोग हो, तभी वह पूरा और समुचित रूपसे सिद्ध हो सकता है, और किसी तरह नहीं। इस तरह उसके शारीरिक-विकासका असाधारण और प्रधान साधन बुद्धियोग-मनोव्यापार-संयत प्रवृत्ति है।

मानसिक-विकास तो जहाँ तक उसका पूर्णरूप सम्भव है मनुष्यमात्रमें है। उसमें शरीर-योग-देह-व्यापार अवश्य निमित्त है, देह-योगके बिना वह सम्भव ही नहीं, फिर भी कितना ही देह-योग क्यों न हो, कितनी ही शारीरिक पुष्टि क्यों न हो, कितना ही शरीर-बल क्यों न हो, यदि मनोयोग-बुद्धि-व्यापार या समुचित रीतिसे समुचित दिशामें मनकी गति-विधि न हो, तो पूरा मानसिक विकास कभी सम्भव नहीं।

अर्थात् मनुष्यका पूर्ण और समुचित शारीरिक और मानसिक विकास केवल व्यवस्थित और जागरित बुद्धि-योगकी अपेक्षा रखता है।

हम अपने देशमें देखते हैं कि जो लोग खान-पानसे और आर्थिक दृष्टिसे ज्यादा निश्चिन्त हैं, जिन्हें विरासतमें पैतृक सम्पत्ति जमींदारी या राजसत्ता

प्राप्त है, वे ही अधिकतर मानसिक विकासमें मंद होते हैं। खास-खास धनवानोंकी सन्तानों, राजपुत्रों और जमींदारोंको देखिए। बाहरी चमक-दमक और दिखावटी फुर्ती होनेपर भी उनमें मनका, विचारशक्तिका, प्रतिभाका कम ही विकास होता है। बाह्य साधनोंकी उन्हें कमी नहीं, पढ़ने लिखनेके साधन भी पूरे प्राप्त हैं, शिक्षक-अध्यापक भी यथेष्ट मिलते हैं, फिर भी उनका मानसिक विकास एक तरहसे रुके हुए तालाबके पानीकी तरह गतिहीन होता है। दूसरी ओर जिसे विरासतमें न तो कोई स्थूल सम्पत्ति मिलती है और न कोई दूसरे मनोयोगके सुभीते सरलतासे मिलते हैं, उस वर्गमेंसे असाधारण मनोविकासवाले व्यक्ति पैदा होते हैं। इस अन्तरका कारण क्या है? होना तो यह चाहिए था कि जिन्हें साधन अधिक और अधिक सरलतासे प्राप्त हों वे ही अधिक और जल्दी विकास प्राप्त करें। पर देखा जाता है उल्टा। तब हमें खोजना चाहिए कि विकासकी असली जड़ क्या है? मुख्य उपाय क्या है कि जिसके न होनेसे और सब न होनेके बराबर हो जाता है।

जवाब बिलकुल सरल है और उसे प्रत्येक विचारक व्यक्ति अपने और अपने आस-पासवालोंके जीवनमेंसे पा सकता है। वह देखेगा कि जवाबदेही या उत्तरदायित्व ही विकासका प्रधान बीज है। हमें मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे देखना चाहिए कि जवाबदेहीमें ऐसी क्या शक्ति है जिससे वह अन्य सब विकासके साधनोंकी अपेक्षा प्रधान साधन बन जाती है। मनका विकास उसके सत्व-अंशकी योग्य और पूर्ण जागृतिपर ही निर्भर है। जब राजस तामस अंश सत्वगुणसे प्रबल हो जाता है तब मनकी योग्य विचारशक्ति या शुद्ध विचारशक्ति आवृत या कुंठित हो जाती है। मनके राजस तथा तामस अंश बलवान् होनेको व्यवहारमें प्रमाद कहते हैं। कौन नहीं जानता कि प्रमादसे वैयक्तिक और सामष्टिक सारी खराबियाँ होती हैं। जब जवाबदेही नहीं रहती तब मनकी गति कुंठित हो जाती है और प्रमादका तत्त्व बढ़ने लगता है जिसे योग-शास्त्रमें मनकी क्षिप्त और मूढ अवस्था कहा है। जैसे शरीर-पर शक्तिसे अधिक बोझ लादनेपर उसकी स्फूर्ति, उसका स्नायुबल, कार्यसाधक नहीं रहता वैसे ही रजोगुणजनित क्षिप्त अवस्था और तमोगुणजनित मूढ अवस्थाका बोझ पड़नेसे मनकी स्वाभाविक सत्वगुणजनित विचार-शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। इस तरह मनकी निष्क्रियताका मुख्य कारण राजस और तामस गुणका उद्रेक है। जब

हम किसी जवाबदेहीको नहीं लेते या लेकर नहीं निबाहते, तब मनके सात्त्विक अंशकी जागृति होनेके बदले तामस और राजस अंशकी प्रबलता होने लगती है। मनका सूक्ष्म सच्चा विकास रुककर केवल स्थूल विकास रह जाता है और वह भी सत्य दिशाकी ओर नहीं होता। इसीसे बेजवाबदारी मनुष्य-जातिके लिए सबसे अधिक खतरेकी वस्तु है। वह मनुष्यको मनुष्यत्वके यथार्थ मार्गसे गिरा देती है। इसीसे जवाबदेहीकी विकासके प्रति असाधारण प्रधानताका भी पता चल जाता है।

जवाबदेही अनेक प्रकारकी होती है—कभी कभी वह मोहमेंसे आती है। किसी युवक या युवतीको लीजिए। जिस व्यक्तिपर उसका मोह होगा उसके प्रति वह अपनेको जवाबदेह समझेगा, उसीके प्रति कर्तव्य-पालनकी चेष्टा करेगा, दूसरोंके प्रति वह उपेक्षा भी कर सकता है। कभी कभी जवाबदेही स्नेह या प्रेममेंसे आती है। माता अपने बच्चेके प्रति उसी स्नेहके वश कर्तव्य पालन करती है पर दूसरोंके बच्चोंके प्रति अपना कर्तव्य भूल जाती है। कभी जवाबदेही भयमेंसे आती है। अगर किसीको भय हो कि इस जंगलमे रातको या दिनको शेर आता है, तो वह जागरिक रहकर अनेक प्रकारसे बचाव करेगा, पर भय न रहनेसे फिर बेफिक्र होकर अपने और दूसरोके प्रति कर्तव्य भूल जायगा। इस तरह लोभ-वृत्ति, परिग्रहाकांक्षा, क्रोधकी भावना, बदला चुकानेकी वृत्ति, मान-मत्सर आदि अनेक राजस-तामस अंशोसे जवाबदेही थोड़ी या बहुत, एक या दूसरे रूपमें, पैदा होकर मानुषिक जीवनका सामाजिक और आर्थिक चक्र चलता रहता है। पर ध्यान रखना चाहिए कि इस जगह विकासके, विशिष्ट विकासके या पूर्ण विकासके असाधारण और प्रधान साधन रूपसे जिस जवाबदेहीकी ओर सकेत किया गया है वह उन सब मर्यादित और संकुचित जवाबदेहियोंसे भिन्न तथा परे है। वह किसी क्षणिक संकुचित भावके ऊपर अवलम्बित नहीं है, वह सबके प्रति, सदाके लिए, सब स्थलोंमें एक-सी होती है चाहे वह निजके प्रति हो, चाहे कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और मानुषिक व्यवहार मात्रमें काम लाई जाती हो। वह एक ऐसे भावमेंसे पैदा होती है जो न तो क्षणिक है, न सकुचित और न मलिन। वह भाव अपनी जीवन-शक्तिका यथार्थ अनुभव करनेका है। जब इस भावमेंसे जवाबदेही प्रकट होती

है तब वह कभी रुकती नहीं। सोते जागते सतत वेगवती नदीके प्रवाहकी तरह अपने पथपर काम करती रहती है। तब क्षिप्त या मूढ़ भाग मनमें फटकने ही नहीं पाता। तब मनमें निष्क्रियता या कुटिलताका संचार सम्भव ही नहीं। जवाबदेहीकी यही संजीवनी शक्ति है, जिसकी बदौलत वह अन्य सब साधनोंपर आधिपत्य करती है और पामरसे पामर, गरीबसे गरीब, दुर्बलसे दुर्बल और तुच्छसे तुच्छ समझे जानेवाले कुल या परिवारमें पैदा हुए व्यक्तिको सन्त, महन्त, महात्मा, अवतार तक बना देती है।

गरज यह कि मानुषिक विकासका आधार एकमात्र जवाबदेही है और वह किसी एक भावसे संचालित नहीं होती। अस्थिर संकुचित या क्षुद्र भावोंमेंसे भी जवाबदेही प्रवृत्त होती है। मोह, स्नेह, भय, लोभ आदि भाव पहले प्रकारके हैं और जीवन-शक्तिका यथार्थानुभव दूसरे प्रकारका भाव है।

अब हमे देखना होगा कि उक्त दो प्रकारके भावोंमें परस्पर क्या अन्तर है और पहले प्रकारके भावोंकी अपेक्षा दूसरे प्रकारके भावोंमें अगर श्रेष्ठता है तो वह किस सबबसे है ? अगर यह विचार स्पष्ट हो जाय तो फिर उक्त दोनों प्रकारके भावोंपर आश्रित रहनेवाली जवाबदेहियोंका भी अन्तर तथा श्रेष्ठता-कनिष्ठता ध्यानमें आ जायगी।

मोहमें रसानुभूति है, सुख-संवेदन भी है। पर वह इतना परिमित और इतना अस्थिर होता है कि उसके आदि, मध्य और अन्तमें ही नहीं उसके प्रत्येक अशमें शंका, दुःख और चिन्ताका भाव भरा रहता है जिसके कारण घड़ीके लोलककी तरह वह मनुष्यके चित्तको अस्थिर बनाये रखता है। मान लीजिए कि कोई युवक अपने प्रेम-पात्रके प्रति स्थूल मोहवश बहुत ही दत्तचित्त रहता है, उसके प्रति कर्तव्य-पालनमें कोई त्रुटि नहीं करता, उससे उसे रसानुभव और सुख-संवेदन भी होता है। फिर भी बारीकीसे परीक्षण किया जाय, तो मालूम होगा कि वह स्थूल मोह अगर सौन्दर्य या भोग-लालसासे पैदा हुआ है, तो न जाने वह किस क्षण नष्ट हो जायगा, घट जायगा या अन्य रूपमें परिणत हो जायगा। जिस क्षण युवक या युवतीको पहले प्रेम-पात्रकी अपेक्षा दूसरा पात्र अधिक सुन्दर, अधिक समृद्ध, अधिक बलवान् या अधिक अनुकूल मिल जायगा, उसी क्षण उसका चित्त प्रथम

पात्रकी ओरसे हटकर दूसरी ओर झुक पड़ेगा और इस झुकावके साथ ही प्रथम पात्रके प्रति कर्तव्य-पालनके चक्रकी, जो पहलेसे चल रहा था, गति और दिशा बदल जायगी। दूसरे पात्रके प्रति भी वह चक्र योग्य रूपसे न चल सकेगा और मोहका रसानुभव जो कर्तव्य-पालनसे सन्तुष्ट हो रहा था कर्तव्य-पालन करने या न करनेपर भी अतृप्त ही रहेगा। माता मोहवश अंगजात बालकके प्रति अपना सब कुछ न्यौछावर करके रसानुभव करती है, पर उसके पीछे अगर सिर्फ मोहका भाव है तो रसानुभव बिलकुल संकुचित और अस्थिर होता है। मान लीजिए कि वह बालक मर गया और उसके बदलेमें उसकी अपेक्षा भी अधिक सुन्दर और पुष्ट दूसरा बालक परवरिशके लिए मिल गया, जो बिलकुल मातृहीन है। परन्तु इस निराधार और सुन्दर बालकको पाकर भी वह माता उसके प्रति अपने कर्तव्य-पालनमें वह रसानुभव नहीं कर सकेगी जो अपने अंगजात बालकके प्रति करती थी। बालक पहलेसे भी अच्छा मिला है, माताको बालककी स्पृहा है और अर्पण करनेकी वृत्ति भी है। बालक भी मातृहीन होनेसे बालकापेक्षिणी माताकी प्रेम-वृत्तिका अधिकारी है। फिर भी उस माताका चित्त उसकी ओर मुक्त धारासे नहीं बहता। इसका सबब एक ही है और वह यह कि उस माताकी न्यौछावर या अर्पणवृत्तिका प्रेरक भाव केवल मोह था, जो स्नेह होकर भी शुद्ध और व्यापक न था, इस कारण उसके हृदयमें उस भावके होनेपर भी उसमेंसे कर्त्तव्य-पालनके फव्वारे नहीं छूटते, भीतर ही भीतर उसके हृदयको दबाकर सुखीके बजाय दुखी करते हैं, जैसे खाया हुआ पर हजम न हुआ सुन्दर अन्न। वह न तो खून बनकर शरीरको सुख पहुचाता है और न बाहर निकलकर शरीरको हलका ही करता है। भीतर ही भीतर सड़कर शरीर और चित्तको अस्वस्थ बनाता है। यही स्थिति उस माताके कर्त्तव्य-पालनमें अपरिणत स्नेह भावकी होती है। हमने कभी भयवश रक्षणके वास्ते झोपड़ा बनाया, उसे सँभाला भी। दूसरोंसे बचनेके निमित्त अखाड़ेमें बल सम्पादित किया, कवायद और निशानेबाजीसे सैनिक शक्ति प्राप्त की, आक्रमणके समय (चाहे वह निजके ऊपर हो, कुटुम्ब, समाज या राष्ट्रके ऊपर हो) सैनिकके तौरपर कर्त्तव्य-पालन भी किया, पर अगर वह भय न रहा, खासकर अपने निजके ऊपर या हमने जिसे अपना

समझा है उसके ऊपर, या जिसको हम अपना नहीं समझते, जिस राष्ट्रको हम निज राष्ट्र नहीं समझते उसपर हमारी अपेक्षा भी अधिक और प्रचंड भय आ पड़ा, तो हमारी भय-त्राण-शक्ति हमें कर्त्तव्य-पालनमें कभी प्रेरित नहीं करेगी, चाहे भयसे बचने बचानेकी हममें कितनी ही शक्ति क्यों न हो। वह शक्ति संकुचित भावोंमेंसे प्रकट हुई है तो जरूरत होनेपर भी वह काम न आवेगी और जहाँ जरूरत न होगी या कम जरूरत होगी वहाँ खर्च होगी। अभी अभी हमने देखा है कि यूरोपके और दूसरे राष्ट्रोंने भयसे बचने और बचानेकी निस्सीम शक्ति रखते हुए भी भयत्रस्त एबीसीनियाकी हजार प्रार्थना करनेपर भी कुछ भी मदद न की। इस तरह भयजनित कर्त्तव्य-पालन अधूरा होता हैं और बहुधा विपरीत भी होता है। मोह-कोटिमें गिने जानेवाले सभी भावोंकी एक ही जैसी अवस्था है, वे भाव बिलकुल अधूरे, अस्थिर और मलिन होते हैं।

जीवन-शक्तिका यथार्थ अनुभव ही दूसरे प्रकारका भाव है जो न तो उदय होनेपर चलित या नष्ट होता है, न मर्यादित या संकुचित होता है और न मलिन होता है। प्रश्न होता है कि जीवन-शक्तिके यथार्थ अनुभवमें ऐसा कौन-सा तत्त्व है जिससे वह सदा स्थिर व्यापक और शुद्ध ही बना रहता है? इसका उत्तर पानेके लिए हमें जीवन-शक्तिके स्वरूपपर थोड़ा-सा विचार करना होगा।

हम अपने आप सोचें और देखें कि जीवन-शक्ति क्या वस्तु है। कोई भी समझदार श्वासोच्छ्वास या प्राणको जीवनकी मूलाधार शक्ति नहीं मान सकता, क्योंकि कभी कभी ध्यानकी विशिष्ट अवस्थामें प्राण संचारके चालू न रहनेपर भी जीवन बना रहता है। इससे मानना पड़ता है कि प्राणसंचाररूप जीवनकी प्रेरक या आधारभूत शक्ति कोई और ही है। अभी तकके सभी आध्यात्मिक सूक्ष्म अनुभवियोंने उस आधारभूत शक्तिको चेतना कहा है। चेतना एक ऐसी स्थिर और प्रकाशमान शक्ति है जो दैहिक, मानसिक और ऐंद्रिक आदि सभी कार्योंपर ज्ञानका, परिज्ञानका प्रकाश अनवरत डालती रहती है। इन्द्रियाँ कुछ भी प्रवृत्ति क्यों न करें, मन कहीं भी गति क्यों न करे, देह किसी भी व्यापारका क्यों न आचरण करे, पर उस सबका सतत भान किसी

एक शक्तिको थोड़ा बहुत होता ही रहता है। हम प्रत्येक अवस्थामें अपनी दैहिक, ऐन्द्रिक और मानसिक क्रियासे जो थोड़े बहुत परिचित रहा करते हैं, सो किस कारणसे? जिस कारणसे हमें अपनी क्रियाओंका संवेदन होता है वही चेतना शक्ति है और हम इससे अधिक या कम कुछ भी नहीं हैं। और कुछ हो या न हो, पर हम चेतनाशून्य कभी नहीं होते। चेतनाके साथ ही साथ एक दूसरी शक्ति और ओतप्रोत है जिसे हम संकल्प शक्ति कहते हैं। चेतना जो कुछ समझती सोचती है उसको क्रियाकारी बनानेका या उसे मूर्तरूप देनेका चेतनाके साथ अन्य कोई बल न होता तो उसकी सारी समझ बेकार होती और हम जहाँके तहाँ बने रहते। हम अनुभव करते हैं कि समझ, जानकारी या दर्शनके अनुसार यदि एक बार संकल्प हुआ तो चेतना पूर्णतया कार्याभिमुख हो जाती है। जैसे कूदनेवाला सकल्प करता है तो सारा बल सचित होकर उसे कुदा डालता है। संकल्प शक्तिका कार्य है बलको बिखरनेसे रोकना। सकल्पसे सचित बल सचित भाफके बल जैसा होता है। सकल्पकी मदद मिली कि चेतना गतिशील हुई और फिर अपना साध्य सिद्ध करके ही सतुष्ट हुई। इस गतिशीलताको चेतनाका वीर्य समझना चाहिए। इस तरह जीवन-शक्तिके प्रधान तीन अंश हैं—चेतना, सकल्प और वीर्य या बल। इस त्रिअंशी शक्तिको ही जीवन-शक्ति समझिए, जिसका अनुभव हमें प्रत्येक छोटे बड़े सर्जन-कार्यमें होता है। अगर समझ न हो, संकल्प न हो और पुरुषार्थ-वीर्यगति-न हो, तो कोई भी सर्जन नहीं हो सकता। ध्यानमें रहे कि जगतमें ऐसा कोई छोटा बड़ा जीवनधारी नहीं है जो किसी न किसी प्रकार सर्जन न करता हो। इससे प्राणीमात्रमें उक्त त्रिअंशी जीवन-शक्तिका पता चल जाता है। यों तो जैसे हम अपने आपमें प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वैसे ही अन्य प्राणियोंके सर्जन-कार्यसे भी उनमें मौजूद उस शक्तिका अनुमान कर सकते हैं। फिर भी उसका अनुभव, और सो भी यथार्थ अनुभव, एक अलग वस्तु है।

यदि कोई सामने खड़ी दीवालसे इन्कार करे, तो हम उसे मानेंगे नहीं। हम तो उसका अस्तित्व ही अनुभव करेंगे। इस तरह अपनेमें और दूसरोंमें मौजूद उस त्रिअंशी शक्तिके अस्तित्वका, उसके सामर्थ्यका, अनुभव करना जीवन-शक्तिका यथार्थ अनुभव है।

जब ऐसा अनुभव प्रकट होता है तब अपने आपके प्रति और दूसरोंके प्रति जीवन-दृष्टि बदल जाती है। फिर तो ऐसा भाव पैदा होता है कि सर्वत्र त्रिअंशी जीवन-शक्ति (सच्चिदानन्द) या तो अखंड या एक है या सर्वत्र समान है। किसीको संस्कारानुसार अभेदानुभव हो या किसीको साम्यानुभव, पर परिणाममें कुछ भी फर्क नहीं होता। अभेद-दृष्टि धारण करनेवाला दूसरोंके प्रति वही जवाबदेही धारण करेगा जो अपने प्रति। वास्तवमें उसकी जवाबदेही या कर्तव्य-दृष्टि अपने परायेके भेदसे भिन्न नहीं होती, इसी तरह साम्य दृष्टि धारण करनेवाला भी अपने परायेके भेदसे कर्तव्य-दृष्टि या जवाबदेहीमें तारतम्य नहीं कर सकता।

मोहकी कोटिमे आनेवाले भावोंसे प्रेरित उत्तरदायित्व या कर्तव्य-दृष्टि एक-सी अखण्ड या निरावरण नहीं होती जब कि जीवन शक्तिके यथार्थ अनुभवसे प्रेरित उत्तरदायित्व या कर्तव्य-दृष्टि सदा एक-सी और निरावरण होती है क्यों कि वह भाव न तो राजस अंशसे आता है और न तामस अंशसे अभिभूत हो सकता है। वह भाव साहजिक है, सात्विक है।

मानवजातिको सबसे बड़ी और कीमती जो कुदरती देन मिली है वह है उस साहजिक भावको धारण करने या पैदा करनेका सामर्थ्य या योग्यता जो विकासका—असाधारण विकासका—मुख्य साधन है। मानव-जातिके इतिहासमे बुद्ध महावीर आदि अनेक सन्त महन्त हो गये हैं, जिन्होंने हजारों विघ्न-बाधाओंके होते हुए भी मानवताके उद्धारकी जवाबदेहीसे कभी मुँह न मोड़ा। अपने शिष्यके प्रलोभनपर सॉक्रेटीस मृत्युमुखमें जानेसे बच सकता था पर उसने शारीरिक जीवनकी अपेक्षा आध्यात्मिक सत्यके जीवनको पसन्द किया और मृत्यु उसे डरा न सकी। जीसिसने अपना नया प्रेम-सन्देश देनेकी जवाबदेहीको अदा करनेमें शूलीको सिंहासन माना। इस तरहके पुराने उदाहरणोंकी सचाईमें सन्देहको दूर करनेके लिए ही मानो गाँधीजीने अभी अभी जो चमत्कार दिखाया है वह सर्वविदित है। उनको हिन्दुत्व-आर्यत्वके नामपर प्रतिष्ठाप्राप्त ब्राह्मणों और श्रमणोंकी सैकड़ों कुरूढ़ि पिशाचियाँ चलित न कर सकीं। न तो हिंदू-मुसलमानोंकी दण्डादण्डी या शस्त्राशस्त्रीने उन्हें कर्तव्य-चलित किया और न उन्हें मृत्यु ही डरा सकी। वे ऐसे ही मनुष्य थे जैसे हम।

फिर क्या कारण है कि उनकी कर्तव्य-दृष्टि या जवाबदेही ऐसी स्थिर, व्यापक और शुद्ध थी, और हमारी इसके विपरीत। जवाब सीधा है कि ऐसे पुरुषोंमें उत्तरदायित्व या कर्तव्य-दृष्टिका प्रेरक भाव जीवन-शक्तिके यथार्थ अनुभवमेंसे आता है, जो हममें नहीं है।

ऐसे पुरुषोंको जीवन-शक्तिका जो यथार्थ अनुभव हुआ है उसीको जुदे जुदे दार्शनिकोंने जुदी जुदी परिभाषामें वर्णन किया है। उसे कोई आत्म-साक्षात्कार कहता है, कोई ब्रह्म-साक्षात्कार और कोई ईश्वर-दर्शन, पर इससे वस्तुमें अन्तर नहीं पड़ता। हमने ऊपरके वर्णनमें यह बतलानेकी चेष्टा की है कि मोहजनित भावोंकी अपेक्षा जीवन-शक्तिके यथार्थ अनुभवका भाव कितना और क्यों श्रेष्ठ है और उससे प्रेरित कर्तव्य-दृष्टि या उत्तरदायित्व कितना श्रेष्ठ है। जो वसुधाको कुटुम्ब समझता है, वह उसी श्रेष्ठ भावके कारण। ऐसा भाव केवल शब्दोंसे आ नहीं सकता। वह भीतरसे उगता है, और वही मानवीय पूर्ण विकासका मुख्य साधन है। उसीके लाभके निमित्त अध्यात्म-शास्त्र है, योग मार्ग है, और उसीकी साधनामें मानव-जीवनकी कृतार्थता है।

[संपूर्णानन्द-अभिनन्दन ग्रन्थ–१९५०]

जीवन-दृष्टिमें मौलिक परिवर्त्तन

इतिहासके आरंभमें वर्त्तमान जीवन-पर ही अधिक भार दिया जाता था। पारलौकिक जीवनकी बात हम सुख-सुविधामें और फुर्सतके समय ही करते थे। वेदोंके कथनानुसार 'चरैवैति चरैवैति चराति चरोभगः' (अर्थात् चलो, चलो, चलनेवालेका ही भाग्य है) को ही हमने जीवनका मूलमंत्र माना है।

पर आज हमारी जीवन-दृष्टि बिल्कुल बदल गई है। आज हम इस जीवनकी उपेक्षा कर परलोकका जीवन सुधारनेकी ही विशेष चिन्ता करते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि इस जीवनमें परिश्रम और पुरुषार्थ करनेकी हमारी आदत बिल्कुल छूट गई है। पुरुषार्थकी कमीसे हमारा जीवन बिल्कुल कृत्रिम और खोखला होता जा रहा है। जिस प्रकार जंगलमें चरनेवाली गाय-बकरीकी अपेक्षा घरपर बँधी रहनेवाली गाय-बकरीका दूध कम लाभदायक होता है; उसी प्रकार घरमें कैद रहनेवाली स्त्रियोंकी सन्तान भी शक्तिशाली नहीं हो सकती। पहले क्षत्रियोंका बल-विक्रम प्रसिद्ध था, पर अब विलासिता और अकर्मण्यतामें पले राजा-रईसोंके बच्चे बहुत ही अशक्त और पुरुषार्थहीन होते हैं। आगेके क्षत्रियोंकी तरह न तो वे लम्बी पैदलयात्रा या घुड़सवारी कर सकते हैं और न और कोई श्रम ही। इसी प्रकार वैश्योंमें भी पुरुषार्थकी हानि हुई है। पहले वे अरब, फारस, मिस्र, बाली, सुमात्रा, जावा आदि दूर-दूरके स्थानोंमें जाकर व्यापार-वाणिज्य करते थे। पर अब उनमें वह पुरुषार्थ नहीं है, अब तो उनमेंसे अधिकांशकी तोंदें आराम-तलबी और आलस्यके कारण बढ़ी हुई नजर आती हैं।

आज तो हम जिसे देखते हैं वही पुरुषार्थ और कर्म करनेके बजाय धर्म-कर्म और पूजा-पाठके नामपर ज्ञानकी खोजमें व्यस्त दीखता है। परमेश्वरकी

भक्ति तो उसके गुणोंका स्मरण, उसके रूपकी पूजा और उसके प्रति श्रद्धामें है। पूजाका मूलमंत्र है 'सर्वभूतहिते रतः' (सब भूतोंमें परमात्मा है)— अर्थात् हम सब लोगोंके साथ अच्छा बर्ताव करें, सबके कल्याणकी बात सोचें। और सच्ची भक्ति तो सबके सुखमें नहीं, दुःखमें साझीदार होनेमें है। ज्ञान है आत्म-ज्ञान; जड़से भिन्न, चेतनका बोध ही तो सच्चा ज्ञान है। इसलिए चेतनके प्रति ही हमारी अधिक श्रद्धा होनी चाहिए, जड़के प्रति कम। पर इस बातकी कसौटी क्या है कि हमारी श्रद्धा जड़मे ज्यादा है या चेतनमें? उदाहरणके रूपमें मान लीजिए कि एक बच्चेने किसी धर्म-पुस्तकपर पाँव रख दिया। इस अपराधपर हम उसके तमाचा मार देते हैं। क्योंकि हमारी निगाहमें जड़ पुस्तकसे चेतन लड़का हेच है।

यदि सही मानोंमें हम ज्ञान-मार्गका अनुसरण करें, तो सद्गुणोंका विकास होना चाहिए। पर होता है उल्टा। हम ज्ञान-मार्गके नामपर वैराग्य लेकर लँगोटी धारण कर लेते हैं, शिष्य बनाते हैं और अपनी इहलौकिक जिम्मेदारियोंसे छुट्टी ले लेते हैं। दरअसल वैराग्यका अर्थ है जिसपर राग हो, उससे विरत होना। पर हम वैराग्य लेते हैं उन जिम्मेदारियोंसे, जो आवश्यक हैं और उन कामोंसे, जो करने चाहिए। हम वैराग्यके नामपर अपंग पशुओंकी तरह जीवनके कर्म-मार्गसे हट कर दूसरोंसे सेवा करानेके लिए उनके सिरपर सवार होते हैं। वास्तवमें होना तो यह चाहिए कि पारलौकिक ज्ञानसे इहलोकके जीवनको उच्च बनाया जाय। पर उसके नामपर यहाँके जीवनकी जो जिम्मेदारियाँ हैं, उनसे मुक्ति पानेकी चेष्टा की जाती है।

लोगोंने ज्ञान-मार्गके नामपर जिस स्वार्थान्धता और विलासिताको चरितार्थ किया है, उसका परिणाम स्पष्ट हो रहा है। इसकी ओटमें जो कविताएँ रची गईं, वे अधिकांशमें शृङ्गार-प्रधान हैं। तुकारामके भजनों और बाउलोंके गीतोंमें जिस वैराग्यकी छाप है, साफ-सीधे अर्थमें उनमें बल या कर्मकी कहीं गन्ध भी नहीं। उनमे है यथार्थवाद और जीवनके स्थूल सत्यसे पलायन। यही बात मन्दिरों और मठोंमें होनेवाले कीर्त्तनोंके संबधमें भी कही जा सकती है। इतिहासमे मठों और मंदिरोंके ध्वंसकी जितनी घटनाएँ हैं, उनमें एक बात तो बहुत ही स्पष्ट है कि

दैवी शक्तिकी दुहाई देनेवाले पुजारियों या साधुओंने उनकी रक्षाके लिए कभी अपने प्राण नहीं दिये। बख्तियार खिलजीने दिल्लीसे सिर्फ १६ घुड़सवार लेकर बिहार-युक्त-प्रांत आदि जीते और बंगालमें जाकर लक्ष्मणसेनको पराजित किया। जब उसने सुना कि परलोक सुधारनेवालोंके दानसे मंदिरोंमें बड़ा धन जमा है, मूर्तियों तकमें रत्न भरे हैं तो उसने उन्हें लूटा और मूर्तियोंको तोड़ा।

ज्ञान-मार्गके ठेकेदारोंने जिस तरहकी संकीर्णता फैलाई, उससे उन्हींका नहीं, न-जाने कितनोंका जीवन दुःखमय बना। उड़ीसाका कालापहाड़ ब्राह्मण था, पर उसका एक मुसलमान लड़कीसे प्रेम हो गया। भला ब्राह्मण उसे कसे स्वीकार कर सकते थे? उन्होंने उसे जातिच्युत कर दिया। उसने लाख मिन्नते-खुशामदें की, माफ़ी माँगी; पर कोई सुनवाई नहीं हुई। अन्तमें उसने कहा कि यदि मैं पापी होऊँ, तो जगन्नाथकी मूर्त्ति मुझे दण्ड देगी। पर मूर्त्ति क्या दण्ड देती? आखिर वह मुसलमान हो गया। फिर उसने केवल जगन्नाथकी मूर्त्ति ही नहीं, अन्य सैकड़ों मूर्त्तियाँ तोड़ीं और मंदिरोंको लूटा। ज्ञान-मार्ग और परलोक सुधारनेके मिथ्या आयोजनोंकी संकीर्णताके कारण ऐसे न-जाने कितने अनर्थ हुए हैं और ढोंग-पाखण्डोंको प्रश्रय मिला है। पहले शाकद्वीपी ब्राह्मण ही तिलक-चन्दन लगा सकता था। फल यह हुआ तिलक-चन्दन लगानेवाले सभी लोग शाकद्वीपी ब्राह्मण गिने जाने लगे। प्रतिष्ठाके लिए यह दिखावा इतना बढ़ा कि तीसरी-चौथी शताब्दीमें आए हुए विदेशी पादरी भी दक्षिणमें तिलक-जनेऊ रखने लगे।

ज्ञान-मार्गकी रचनात्मक देन भी है। उससे सद्गुणोंका विकास हुआ है। परन्तु परलोकके ज्ञानके नामसे जो सद्गुणोंका विकास हुआ है, उसके उपयोगका क्षेत्र अब बदल देना चाहिए। उसका उपयोग हमें इसी जीवनमें करना होगा। राकफेलरका उदाहरण हमारे सामने है। उसने बहुत-सा दान दिया, बहुत-सी संस्थाएँ खोलीं। इसलिए नहीं कि उसका परलोक सुधरे, बल्कि इसलिए कि बहुतोंका इहलोक सुधरे। सद्गुणोंका यदि इस जीवनमें विकास हो जाय, तो वह परलोक तक भी साथ जायगा। सद्गुणोंका जो विकास है, उसको वर्त्तमान जीवनमें लागू करना ही सच्चा धर्म और ज्ञान है। पहले खान-पानकी इतनी सुविधा थी कि आदमीको अधिक पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। यदि उस समय आजकल जैसी खान-पानकी

असुविधा होती, तो वह शायद और अधिक पुरुषार्थ करता। पर आज तो यह पुरुषार्थकी कमी ही जानताकी मृत्यु है।

पहले जो लोग परलोक-ज्ञानकी साधनामें विशेष समय और शक्ति लगाते थे, उनके पास समय और जीवनकी सुविधाओंकी कमी नहीं थी। जितने लोग यहाँ थे, उनके लिए काफी फल और अन्न प्राप्त थे। दुधारू पशुओंकी भी कमी न थी, क्योंकि पशुपालन बहुत सस्ता था। चालीस हजार गौओंका एक गोकुल कहलाता था। उन दिनों ऐसे गोकुल रखनेवालोंकी संख्या कम न थी। मालवा, मेवाड़, मारवाड़ आदिकी गायोंके जो वर्णन मिलते हैं, उनमें गायोंके उदसकी तुलना सारनाथमें रखे 'घटोघ्नि' से की गई है। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि तब गौएँ कितना दूध देती थीं। कामधेनु कोई दैवी गाय न थी, बल्कि यह संज्ञा उस गायकी थी, जो चाहे जब दुहनेपर दूध देती थी और ऐसी गौओंकी कमी न थी। ज्ञान-मार्गके जो प्रचारक (ऋषि) जंगलोंमें रहते थे, उनके लिए कन्द-मूल, फल और दूधकी कमी न थी। त्यागका आदर्श उनके लिए था। उपवासकी उनमें शक्ति होती थी, क्योंकि आगे-पीछे उनको पर्याप्त पोषण मिलता था। पर आज लोग शहरोंमें रहते हैं, पशु-धनका ह्रास हो रहा है और आदमी अशक्त एवं अकर्मण्य हो रहा है। बंगालके १९४३ के अकालमें भिखारियोंमेंसे अधिकांश स्त्रियाँ और बच्चे ही थे, जिन्हें उनके सशक्त पुरुष छोड़ कर चले गये थे। केवल अशक्त बच रहे थे; जो भीख माँग कर पेट भरते थे।

मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि हमें अपनी जीवन-दृष्टिमें मौलिक परिवर्त्तन करना चाहिए। जीवनमें सद्गुणोंका विकास इहलोकको सुधारनेके लिए करना चाहिए। आज एक ओर हम आलसी अकर्मण्य और पुरुषार्थहीन होते जा रहे हैं और दूसरी ओर पोषणकी कमी तथा दुर्बल सन्तानकी वृद्धि हो रही है। गाय रख कर घर-भरको अच्छा पोषण देनेके बजाय लोग मोटर रखना अधिक शानकी बात समझते हैं। यह खामखयाली छोड़नी चाहिए और पुरुषार्थ-वृत्ति पैदा करनी चाहिए। सद्गुणोंकी कसौटी वर्त्तमान जीवन ही है। उसमें सद्गुणोंको अपनाने, और उनका विकास करनेसे, इहलोक और परलोक दोनों सुधर सकते हैं।

[नया समाज, सितम्बर १९४८]

शास्त्र-मर्यादा

शास्त्र क्या है ?

जो शिक्षा दे अर्थात् किसी विषयका परिचय तथा अनुभव प्रदान करे, उसे शास्त्र कहते हैं। परिचय और अनुभव जितने परिमाणमें गहरा और विशाल होगा उतने ही परिमाणमें वह शास्त्र अधिक महत्त्वका होगा। इस प्रकार महत्त्वका आधार तो गहराई और विशालता है, फिर भी शास्त्रकी प्रतिष्ठाका आधार उसकी यथार्थता है। किसी शास्त्रमें परिचय विशेष हो, गहनता हो, अनुभव भी विशाल हो, फिर भी उसमें यदि दृष्टि-दोष या दूसरी भ्रान्ति हो, तो उसकी अपेक्षा उसी विषयका थोड़ा भी यथार्थ परिचय देनेवाला और सत्य अनुभव प्रकट करनेवाला दूसरा शास्त्र विशेष महत्त्वका होगा और उसीकी सच्ची प्रतिष्ठा होती। 'शास्त्रमें' 'शास्' और 'त्र' ये दो शब्द हैं। 'शास्' शब्द परिचय और अनुभवकी पूर्तिका और 'त्र' त्राणशक्तिका भाव सूचित करता है। जो कुमार्गमें जाते हुए मानवको रोक कर रक्षा करती है और उसकी शक्तिको सच्चे मार्गमें लगा देती है, वह शास्त्रकी त्राणशक्ति है। ऐसी त्राणशक्ति परिचय या अनुभवकी विशालता अथवा गभीरतापर अवलम्बित नहीं, किन्तु केवल सत्यपर अवलम्बित है। इससे समुच्चय रूपसे विचार करनेपर यही फलित होता है कि जो किसी भी विषयके सच्चे अनुभवकी पूर्ति करता है, वही 'शास्त्र' कहा जाना चाहिए।

ऐसा शास्त्र कौन ?

उपर्युक्त व्याख्यानुसार तो किसीको शास्त्र कहना ही कठिन है। क्योंकि आज तककी दुनियामें ऐसा कोई शास्त्र नहीं बना जिसमें वर्णित परिचय और अनुभव किसी भी प्रकारके परिवर्तनके पाने योग्य न हो, या जिसके विरुद्ध

किसीको कभी कुछ कहनेका प्रसंग ही न आया हो। तब प्रश्न होता है कि ऊपरकी व्याख्यानुसार जिसे शास्त्र कह सकें, ऐसा कोई शास्त्र है भी या नहीं ? उत्तर सरल भी है और कठिन भी। यदि उत्तरके पीछे रहे हुए विचारमें बंधन, भय या लालच न हो, तो सरल है, और यदि वे हों तो कठिन है। मनुष्यका स्वभाव जिज्ञासु भी है और श्रद्धालु भी। जिज्ञासा मनुष्यको विशालतामें ले जाती है और श्रद्धा दृढता प्रदान करती है। जिज्ञासा और श्रद्धाके साथ यदि दूसरी कोई आसुरी वृत्ति मिल जाय, तो वह मनुष्यको मर्यादित क्षेत्रमें बाँध रखकर उसीमें सत्य, नहीं-नहीं, पूर्ण सत्य, देखनेको बाधित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य किसी एक ही वाक्यको, या किसी एक ही ग्रंथको अथवा किसी एक ही परम्पराके ग्रन्थसमूहको अंतिम शास्त्र मान बैठता है और उसीमें पूर्ण सत्य मान लेता है। ऐसा होनेसे मनुष्य मनुष्यमें, समूह समूहमें और सम्प्रदाय सम्प्रदायमें शास्त्रकी सत्यता-असत्यताके विषयमें अथवा शास्त्रकी श्रेष्ठताके तरतम भावके विषयमें झगड़ा शुरू हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं माने हुए शास्त्रके अतिरिक्त दूसरे शास्त्रोंको मिथ्या या अपूर्ण सत्य प्रकट करनेवाले कहने लग जाता है और ऐसा करके वह अपने प्रतिस्पर्द्धीको अपने शास्त्रके विषयमें वैसा ही कहनेके लिए जाने अनजाने निमन्त्रण देता है। इस तूफानी वातावरणमें और संकीर्ण मनोवृत्तिमें यह विचारना बाकी रह जाता है कि तब क्या सभी शास्त्र मिथ्या या सभी शास्त्र सत्य या सभी कुछ नहीं हैं ?

यह तो हुई उत्तर देनेकी कठिनाईकी बात। परंतु जब हम भय, लालच और संकुचितताके बन्धनकारक वातावरणमेंसे छूटकर विचारते हैं, तब उक्त प्रश्नका निटवारा सुगम हो जाता है और वह इस तरह कि सत्य एक और अखंड होते हुए भी उसका आविर्भाव (उसका भान) कालक्रमसे और प्रकारभेदसे होता है। सत्यका भान यदि कालक्रम बिना और प्रकारभेद बिना हो सकता, तो आजसे बहुत पहले कभीका यह सत्यशोधका काम पूर्ण हो जाता और इस दिशामें किसीको कुछ कहना या करना शायद ही रहा होता। सत्यका आविर्भाव करनेवाले जो जो महापुरुष पृथ्वी-तलपर हुए हैं उनको उनके पहलेके सत्यशोधकोंकी शोधकी विरासत मिली थी। ऐसा कोई भी महापुरुष क्या तुम बता सकोगे

जिसको अपनी सत्यकी शोधमें और सत्यके आविर्भावमें अपने पूर्ववर्ती और समसमयवर्ती दूसरे शोधकोंकी शोधकी थोड़ी बहुत विरासत न मिली हो और केवल उसने ही एकाएक अपूर्वरूपसे वह सत्य प्रकट किया हो ? हम जरा भी विचार करेंगे तो मालूम पड़ेगा कि कोई भी सत्यशोधक अथवा शास्त्र-प्रणेता अपनेको मिली हुई विरासतकी भूमिकापर ही खड़ा होकर अपनी दृष्टिके अनुसार या अपनी परिस्थितिके अनुसार सत्यका आविर्भाव करनेमें प्रवृत्त होता है और वैसा करके सत्यके आविर्भावको विकसित करता है। यह विचारसरणी यदि त्याज्य न हो, तो कहना चाहिए कि प्रत्येक शास्त्र, उस विषयमें जिन्होंने शोध की, जो शोध कर रहे हैं या जो शोध करनेवाले हैं, उन व्यक्तियोंकी क्रमिक तथा प्रकारभेदवाली प्रतीतियोंका संयोजन है। प्रतीतियाँ जिन सयोगोंमें क्रमसे उत्पन्न हुई हों उन्हें संयोगोंके अनुसार उसी क्रमसे संकलित कर लिया जाय तो उस विषयका पूर्ण अखण्ड-शास्त्र बन जाय और इन सभी त्रैकालिक प्रतीतियों या आविर्भावोंमेंसे अलग अलग खण्ड ले लिये जायँ, तो वह अखण्ड शास्त्र भले ही न कहलाए फिर भी उसे शास्त्र कहना हो तो इसी अर्थमें कहना चाहिए कि वह प्रतीतिका एक खण्ड भी एक अखण्ड शास्त्रका अंश है। परन्तु ऐसे किसी अंशको यदि सम्पूर्णताका नाम दिया जाय, तो वह मिथ्या है। यदि इस बातमें कुछ आपत्ति न हो (मैं तो कोई आपत्ति नहीं देखता) तो हमें शुद्ध हृदयसे स्वीकार करना चाहिए कि केवल वेद, केवल उपनिषत्, जैनागम, बौद्ध पिटक, अवेस्ता, बाइबिल, पुराण, कुरान, या तत्तत् स्मृतियाँ, ये अपने अपने विषयसम्बन्धमें अकेले ही सम्पूर्ण और अन्तिम शास्त्र नहीं हैं। ये सब आध्यात्मिक, भौतिक अथवा सामाजिक विषयसम्बन्धी एक अखण्ड त्रैकालिक शास्त्रके क्रमिक तथा प्रकारभेदवाले सत्यके आविर्भावके सूचक हैं अथवा उस अखड सत्यके देशकाल तथा प्रकृतिभेदानुसार भिन्न भिन्न पक्षोंको प्रस्तुत करनेवाले खण्ड-शास्त्र हैं। यह बात किसी भी विषयके ऐतिहासिक और तुलनात्मक अभ्यासीके लिए समझ लेना बिलकुल सरल है। यदि यह बात हमारे हृदयमें उतर जाय और उतारनेकी ज़रूरत तो है ही, तो हम अपनी बातको पकड़े रहते हुए भी दूसरोंके प्रति अन्याय करनेसे बच जाएँगे और ऐसा करके दूसरेको भी अन्यायमें उतारनेकी परिस्थतिसे बचा लेंगे। अपने माने हुए सत्यके प्रति वफ़ादार रहनेके लिए यह

ज़रूरी है कि उसकी जितनी क़ीमत हो उससे अधिक आँक करके अंधश्रद्धा विकसित न की जाय और कमती आँककर नास्तिकता न प्रकट की जाय। ऐसा किया जाय तो यह मालूम हुए बिना न रहेगा कि अमुक विषयसंबंधी मंथन क्यों तो शास्त्र है, क्यों अशास्त्र है और क्यों कुछ नहीं।

देश, काल और संयोगसे परिमित सत्यके आविर्भावकी दृष्टिसे ये सब ही शास्त्र हैं, सत्यके सम्पूर्ण और निरपेक्ष आविर्भावकी दृष्टिसे अशास्त्र हैं और शास्त्रयोगके पार पहुँचे हुए समर्थ योगीकी दृष्टिसे शास्त्र या अशास्त्र कुछ भी नहीं। स्वाभिमत साम्प्रदायिक शास्त्रके विषयमें पुष्ट मिथ्या अभिमानको गलानेके लिए इतनी ही समझ काफ़ी है। यदि यह मिथ्या अभिमान गल जाय, तो मोहका बन्धन दूर होते ही सभी महान् पुरुषोंके खण्ड-सत्योंमें अखण्ड सत्यका दर्शन हो जाय और सभी विचारसरणियोंकी नदियाँ अपने अपने ढगसे एक ही महासत्यके समुद्रमें मिलती हैं, ऐसी स्पष्ट प्रतीति हो जाय। यह प्रतीति कराना ही शास्त्र-रचनाका प्रधान उद्देश्य है।

सर्जक और रक्षक

शास्त्रके सर्जक अन्य होते हैं, उनकी रक्षा अन्य करते हैं और अन्य कुछ मनुष्योंके द्वारा उनकी संभालके अतिरिक्त उनमें वृद्धि की जाती है। रक्षकों, संशोधकों और परिशिष्टकारों (पूर्तिकारों) की अपेक्षा सर्जक (रचयिता) हमेशा कम होते हैं। सर्जकोंमें भी सब समान कोटिके होते हैं, यह समझना मनुष्यप्रकृतिका अज्ञान है। रक्षकोंके मुख्य दो भाग होते हैं। एक भाग सर्जककी कृतिके प्रति आजन्म वफ़ादार रहकर उसका आशय समझनेकी, उसे स्पष्ट करनेकी और उसका प्रचार करनेकी कोशिश करता है। वह इतना अधिक भक्तिसम्पन्न होता है कि उसे अपने पूज्य स्रष्टाके अनुभवमें कुछ भी सुधार या परिवर्तन करना योग्य नहीं लगता। इससे वह अपने पूज्य स्रष्टाके वाक्योंको अक्षरशः पकड़े रहकर उनमेंसे ही सब कुछ फलित करनेका प्रयत्न करता है और संसारकी तरफ़ देखनेकी दूसरी आँख बन्द कर लेता है। दूसरा भाग भक्तिसम्पन्न होनेके अतिरिक्त दृष्टिसम्पन्न भी होता है। इससे वह अपने पूज्य स्रष्टाकी कृतिका अनुसरण करते हुए भी उसे अक्षरशः नहीं पकड़े रहता, उलटा वह उसमें जो जो त्रुटियाँ देखता है

अथवा परिपूर्तिकी आवश्यकता समझता है उसे अपनी शक्त्यनुसार दूर करके या पूर्ण करके प्रचार करता है। इस प्रकारसे रक्षकोंके पहले भागके द्वारा शास्त्रका प्रमार्जन तथा पूर्ति तो नहीं होती फिर भी एकदेशीय गहराई उनमें आती है और रक्षकोंके द्वितीयभाग-द्वारा शास्त्रका प्रमार्जन तथा पूर्ति होनेके कारण वे विशालताको प्राप्त होते हैं। किसी भी स्रष्टाके शास्त्र-साहित्यके इतिहासका अध्ययन किया जायगा तो ऊपरकी बातपर विश्वास हुए बिना नहीं रहेगा। उदाहरणके तौर पर आर्य ऋषियोंके अमुक वेदभागको मूल रचना मानकर प्रस्तुत वस्तु समझानी हो, तो ऐसा कहा जा सकता है कि मंत्रवेदका ब्राह्मण भाग और जैमिनीयकी मीमांसा ये प्रथम प्रकारके रक्षक हैं और उपनिषद्, जैन आगम, बौद्ध पिटक, गीता, स्मृति और अन्य ऐसे ही ग्रन्थ द्वितीय प्रकारके रक्षक हैं; क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों और पूर्वमीमांसाको मन्त्रवेदमें चली आनेवाली भावनाओंकी व्यवस्था करनी है—उसके प्रामाण्यको अधिक मज़बूत कर उसपर श्रद्धाको दृढ करना है। किसी भी तरह मन्त्रवेदका प्रामाण्य दृढ़ रहे, यही एक चिन्ता ब्राह्मणकारों और मीमांसकोंकी है। उन कट्टर रक्षकोंको मंत्रवेदमें वृद्धि करने योग्य कुछ भी नज़र नहीं आता, उलटा वृद्धि करनेका विचार ही उन्हें घबरा देता है। जब कि उपनिषत्कार, आगमकार, पिटककार वगैरह मंत्रवेदमेंसे मिली हुई विरासतको प्रमार्जन करने योग्य, वृद्धि करने योग्य और विकास करने योग्य समझते हैं। ऐसी स्थितिमें एक ही विरासतको प्राप्त करनेवाले भिन्न भिन्न समयोंके और समान समयके प्रकृतिभेदवाले मनुष्योंमें पक्षापक्षी और क़िलेबन्दी खड़ी हो जाती है।

नवीन और प्राचीनमें द्वन्द्व

उक्त क़िलेबन्दीमेंसे सम्प्रदायका जन्म होता है और एक दूसरेके बीच विचार-संघर्ष गहरा हो जाता है। देखनेमें यह संघर्ष अनर्थकारी लगता है, परन्तु इसके परिणामस्वरूप ही सत्यका आविर्भाव आगे बढ़ता है। पुष्ट विचारक या समर्थ स्रष्टा इसी संघर्षमेंसे जन्म लेता है और वह चले आते हुए शास्त्रीय सत्योंमें और शास्त्रीय भावनाओंमें नया क़दम बढ़ाता है। यह नया क़दम पहले तो लोगोंको चौंका देता है और उनका बहुभाग रूढ और श्रद्धास्पद शब्दों तथा भावनाओंके हथियारद्वारा इस नये विचारक या सर्जकका

मस्तक फोड़नेको तैयार हो जाता है। एक तरफ़ विरोधियोंकी सेना और दूसरी तरफ़ अकेला नया आगन्तुक। विरोधी कहते हैं कि 'तू जो कहना चाहता है, जो विचार दर्शाता है, वे इन प्राचीन ईश्वरीय शास्त्रोंमें कहाँ हैं? उलटे इनके शब्द तो तेरे नये विचारके विरुद्ध ही जाते हैं। इन श्रद्धालुओं किन्तु आँखवाले विरोधियोंको वह आगन्तुक या विचारक उन्हींके ही संकुचित शब्दोंमेंसे अपनी विचारणा और भावना फलित कर बतलाता है। इस प्रकार इस नये विचारक और स्रष्टाद्वारा एक समयके प्राचीन शब्द अर्थदृष्टिसे विकसित होते हैं और नये विचारों तथा भावनाओंका नया स्तर रचते हैं और फिर यह नया स्तर समय बीतनेपर पुराना होकर जब कि बहुत उपयोगी नहीं रहता अथवा उलटा बाधक हो जाता है तब फिर नये ही स्रष्टा तथा विचारक पहलेके स्तरपर ऐसी किसी समयकी नई किन्तु अब पुरानी हुई विचारणाओं तथा भावनाओंपर नये स्तरकी रचना करते हैं। इस प्रकार प्राचीन कालसे अनेक बार एक ही शब्दकी खोलमें अनेक विचारणाओ और भावनाओंके स्तर हमारे शास्त्रमार्गमें देखे जा सकते हैं। नवीन स्तरके प्रवाहको प्राचीन स्तरकी जगह लेनेके लिए यदि स्वतन्त्र शब्दोंका निर्माण करना पड़ा होता और अनुयायियोंका क्षेत्र भी अलग मिला होता, तो उस प्राचीन और नवीनके मध्यमें द्वद्वका—विरोधका—अवकाश ही न रहता। परन्तु प्रकृतिका आभार मानना चाहिए कि उसने शब्दोंका और अनुयायियोका क्षेत्र बिलकुल ही जुदा नहीं रक्खा, जिसमे पुराने लोगोंकी स्थिरता और नये आगन्तुककी दृढताके बीच विरोध उत्पन्न होता है और कालक्रमसे यह विरोध विकासका ही रूप पकड़ता है। जैन या बौद्ध मूल शास्त्रोंको लेकर विचार कीजिए या वेद शास्त्रको मान कर चलिए, यही वस्तु हमको दिखलाई पड़ेगी। मंत्र-वेदके ब्रह्म, इन्द्र, वरुण, ऋत, तप, सत्, असत्, यज वग़ैरह शब्द तथा उनके पीछेकी भावना और उपासना और उपनिषदोंमें दीखनेवाली इन्हीं शब्दोमे आरोपित भावना तथा उपासनापर विचार करो। इतना ही नहीं किन्तु भगवान् महावीर और बुद्धके उपदेशमें स्पष्टरूपसे व्याप्त ब्राह्मण, तप, कर्म, वर्ण वगैरह शब्दोंके पीछेकी भावना और इन्हीं शब्दोंके पीछे रही हुई वेदकालीन भावनाओको लेकर दोनोंकी तुलना करो; फिर गीतामें स्पष्ट रूपसे दीखती हुई यज्ञ, कर्म, संन्यास, प्रवृत्ति, निवृत्ति, योग, भोग वग़ैरह

शब्दोंके पीछे रही हुई भावनाओंको वेदकालीन और उपनिषत्कालीन इन्हीं शब्दोंपर आरोपित भावनाओंके साथ तुलना करो, तो पिछले पाँच हज़ार वर्षोंमें आर्य लोगोंके मानसमें कितना परिवर्तन हुआ है यह स्पष्ट मालूम हो जायगा। यह परिवर्तन कुछ एकाएक नहीं हुआ, या विना बाधा और विना विरोधके विकासक्रममें इसे स्थान नहीं मिला बल्कि इस परिवर्तनके होनेमें जैसे समय लगा है वैसे इन स्तरोंको स्थान प्राप्त करनेमें भी बहुत टक्कर सहनी पड़ी है। नये विचारक और सर्जक अपनी भावनाके हथोड़ेसे प्राचीन शब्दोंकी एरण (निहाई) पर रूढ़ लोगोंके मानसको नया रूप देते हैं। हथोड़ा और एरणके बीचमें मानसकी धातु देशकालानुसार परिवर्तित भावनाओंके और विचारणाओंके नये नये रूप धारण करती है; और नवीन-प्राचीनकी काल-चक्कीके पाट नया नया पीसते जाते हैं और मनुष्यजातिको जीवित रखते हैं।

वर्तमान युग

इस युगमें बहुत-सी भावनाएँ और विचारणाएँ नये ही रूपमें हमारे सामने आती हैं। राजकीय या सामाजिक क्षेत्रमें ही नहीं किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र तकमें त्वरासे नवीन भावनाएँ प्रकाशमें आ रही हैं। एक ओर भावनाओंको विचारकी कसौटीपर चढ़ाये विना स्वीकार करनेवाला मन्दबुद्धि वर्ग होता है, और दूसरी ओर इन भावनाओंको विना विचारे फेंक देने या खोटी कहनेवाला जरठबुद्धि वर्ग भी कोई छोटा या नगण्य नहीं होता। इन संयोगोंमें क्या होना चाहिए और क्या हुआ है, यह समझानेके लिए ऊपर चार बातोंकी चर्चा की गई हैं। सर्जक और रक्षक मनुष्य जातिके नैसर्गिक फल हैं। इनके अस्तित्वको प्रकृति भी नहीं मिटा सकती। नवीन-प्राचीनका द्वंद्व सत्यके आविर्भावका और उसे टिका रखनेका अनिवार्य अंग है। अतः इससे भी सत्यप्रिय घबड़ाता नहीं। शास्त्र क्या और कौन, इन दो विशेष बातोंकी दृष्टिके विकासके लिए, अथवा नवीन और प्राचीनकी टक्करके दधि-मंथनमेंसे अपने आप ऊपर आ जानेवाले मक्खनको पहचाननेकी शक्ति विकसित करनेके लिए यह चर्चा की गई है। ये चार खास बातें तो वर्तमान युगकी विचारणाओं और भावनाओंको समझनेके लिए केवल प्रस्तावना हैं। अब संक्षेपसे जैन समाजको लेकर सोचिए कि उसके सामने आज कौन कौन राजकीय, सामाजिक और आध्यात्मिक

समस्याएँ खड़ी हैं—और उनका समाधान शक्य है या नहीं ? और शक्य है तो किस प्रकार ?

१ जो केवल कुलपरम्परासे जैन है उसके लिए नहीं किन्तु जिसमें थोड़ा बहुत जैनत्व भी है उसके लिए सीधा प्रश्न यह है कि वह राष्ट्रीय क्षेत्र और राजनीतिमें भाग ले या नहीं और ले तो किस रीतिसे ? क्योंकि उस मनुष्यके मनमें होता है कि राष्ट्र और राजनीति तो स्वार्थ तथा संकुचित भावनाका फल है और सच्चा जैनत्व इससे परेकी वस्तु है । अर्थात् जो गुणसे जैन हो वह राष्ट्रीय कार्य और राजकीय आन्दोलनमें पड़े या नहीं ?

२ विवाहसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रथाओं और उद्योग-धंधोंके पीछे रही हुई मान्यताओ तथा स्त्री-पुरुषजातिके बीचके सम्बन्धोंके विषयमें आज कल जो विचार बलपूर्वक उदित हो रहे हैं और चारों तरफ फैल रहे हैं उनको जैन शास्त्रका आधार है या नहीं, अथवा सच्चे जैनत्वके साथ इन नये विचारोंका मेल है या नहीं, या प्राचीन विचारोंके साथ ही सच्चे जैनत्वका सम्बन्ध है ? यदि नये विचारोंको शास्त्रका आधार न हो और उन विचारोंके बिना जीना समाजके लिए अशक्य दिखलाई देता हो, तो क्या करना चाहिए ? क्या इन विचारोंको प्राचीन शास्त्ररूपी बूढ़ी गायके स्तनोंमेंसे ही जैसे तैसे दुहना होगा या इन विचारोंका नया शास्त्र रचकर जैनशास्त्रका विकास करना होगा ? अथवा इन विचारोंको स्वीकार करनेकी अपेक्षा जैनसमाजके अस्तित्वके नाशको निमत्रण देना होगा ?

३ मोक्षके पन्थपर प्रस्थित गुरुसंस्था सम्यक्प्रकार गुरु अर्थात् मार्गदर्शक होनेके बदले यदि गुरु—बोझ—रूप होती हो, और सुभूमचक्रवर्त्तीकी पालकीकी तरह उसे उठानेवाले श्रावकरूप देवोंके भी डूबनेकी दशाको पहुँच गई हो, तो क्या देवोंको पालकी फेंककर खिसक जाना चाहिए या पालकीके साथ डूब जाना चाहिए ? अथवा पालकी और अपनेको ले चले ऐसा कोई मार्ग खोज लेना चाहिए ? यदि ऐसा मार्ग न सूझे तो फिर क्या करना चाहिए ? और यदि सूझ जाय तो वह प्राचीन जैन शास्त्रमें है या नहीं और आज तक किसीके द्वारा अवलम्बित हुआ है या नहीं, यह देखना चाहिए ?

४ कौन कौन धंधे जैनत्वके साथ ठीक बैठते हैं और कौन कौन जैनत्वके घातक हैं ? क्या खेतीबाड़ी, लुहारी, सुतारी (बढ़ईगीरी) और चमड़ेसम्बंधी काम, अनाजका व्यापार, जहाज़रानी, सिपहगीरी, यन्त्रोंका काम वगैरह जैनत्वके बाधक हैं और जवाहिरात, बजाजी, दलाली, सट्टा, मिलमालिकी, व्याज-बट्टा आदि जैनत्वके बाधक नहीं हैं या कम बाधक हैं ?

ऊपर दिये हुए चार प्रश्न तो इस तरहके और अनेक प्रश्नोंकी बानगी भर हैं। इसलिए इनका जो उत्तर होगा वह यदि तर्क और विचारशुद्ध हुआ, तो दूसरे प्रश्नोंपर भी सुगमतासे लागू हो सकेगा। ये प्रश्न आज ही खड़े नहीं हुए हैं। कम-ज्यादा प्रमाणमें और एक अथवा दूसरे रूपमें हमारे जैन-शास्त्रोंके इतिहासमें ये अवश्य मिल सकते हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ ऐसे प्रश्न उत्पन्न होनेका और उनका समाधान न मिलनेका मुख्य कारण जैनत्व और उसके विकास-क्रमके इतिहासका हमारा अज्ञान है।

जीवनमें सच्चे जैनत्वका कुछ भी तेज न हो, केवल परम्परागत वेश, भाषा और तिलक चन्दनका जैनत्व ही जाने अनजाने जीवनपर लद गया हो और अधिकांशमें वस्तुस्थिति समझने जितनी बुद्धिशक्ति भी न हो, तो उक्त प्रश्नोंका समाधान नहीं होता। और यदि जीवनमें थोड़ा बहुत सच्चा जैनत्व तो उद्भूत हुआ हो, पर विरासतमे मिले प्रस्तुत क्षेत्रके अतिरिक्त दूसरे विशाल और नये नये क्षेत्रोंमें खड़ी होनेवाली समस्याओंको सुलझाने तथा वास्तविक जैनत्वकी चाबीसे उलझनोंके तालोको खोलनेकी प्रज्ञा न हो, तो भी इन प्रश्नोंका समाधान नहीं होता। इससे आवश्यकता इस बातकी है कि सच्चा जैनत्व क्या है, इसे समझ कर जीवनमें उतारने और सभी क्षेत्रोंमें खड़ी होनेवाली कठिनाइयोंको हल करनेके लिए जैनत्वका किस किस रीतिसे उपयोग किया जाय, इसका ज्ञान बढ़ाया जाय।

समभाव और सत्यदृष्टि

अब हमें देखना चाहिए कि सच्चा जैनत्व क्या है और उसके ज्ञान तथा प्रयोगद्वारा ऊपरके प्रश्नोंका अविरोधी समाधान किस रीतिसे हो सकता है। सच्चा जैनत्व है **समभाव** और **सत्यदृष्टि**, जिनका जैनशास्त्र क्रमशः **अहिंसा** तथा **अनेकान्तदृष्टिके** नामसे परिचय देते हैं। अहिंसा और अनेकान्तदृष्टि ये

दोनों आध्यात्मिक जीवनके दो पंख, अथवा दो प्राणप्रद फेफड़े हैं। एक आचारको उज्ज्वल करता है और दूसरा दृष्टिको शुद्ध और विशाल बनाता है। इसी बातको दूसरी रीतिसे कहना हो तो कहिए कि जीवनकी तृष्णाका अभाव और एकदेशीय दृष्टिका अभाव ही सच्चा जैनत्व है। सच्चा जैनत्व और जैन-समाज इन दोके बीच जमीन आसमानका अन्तर है। जिन्होने सच्चा जैनत्व पूर्णरूपसे अथवा थोड़े-बहुत प्रमाणमें साधा है, उन लोगोंका समाज या तो बँधता ही नहीं और यदि बँधता है तो उसका मार्ग ऐसा निराला होता है कि उसमें झंझटें खड़ी ही नहीं होतीं और होती हैं तो उनका शीघ्र ही निराकरण हो जाता है।

जैनत्वको साधनेवाले और सच्चे जैनत्वकी उम्मीदवारी करनेवाले जो इने गिने लोग प्रत्येक कालमें होते रहते हैं वे तो जैन हैं। और ऐसे जैनोंके शिष्य या पुत्र जिनमें सच्चे जैनत्वकी उम्मीदवारी तो होती नहीं किन्तु सच्चे जैनत्वके साधकों और उम्मीदवारोंके रीतिरिवाज या स्थूलमर्यादाएँ ही होती हैं वे सब जैनसमाजके अंग हैं। गुण-जैनोंका व्यवहार आन्तरिक विकासके अनुसार होता है, उनके व्यवहार और आन्तरिक विकासके बीच विसंवाद नहीं होता; जब कि सामाजिक जैनोंका इससे उलटा होता है। उनका बाह्य व्यवहार तो गुण-जैनोंकी व्यवहार-विरासतके अनुसार होता है परन्तु आन्तरिक विकासका अंश नहीं होता—वे तो जगतके दूसरे मनुष्योंके समान ही भोगतृष्णावाले तथा संकीर्णदृष्टिवाले होते हैं। एक तरफ आन्तरिक जीवनका विकास ज़रा भी न हो और दूसरी तरफ़ वैसी विकासवाली व्यक्तियोंमें पाये जानेवाले आचरणोंकी नक़ल हो, तब यह नक़ल विसंवादका रूप धारण करती है तथा पद-पदपर कठिनाइयाँ खड़ी करती है। गुण-जैनत्वकी साधनाके लिए भगवान महावीर या उनके सच्चे शिष्योंने वनवास स्वीकार किया, नग्नत्व धारण किया, गुफायें पसंद कीं, घर तथा परिवारका त्याग किया, धन-सम्पत्तिकी तरफ़ बेपर्वाही दिखलाई। ये सब बातें आन्तरिक विकासमेंसे उत्पन्न होनेके कारण ज़रा भी विरुद्ध नहीं मालूम होतीं। परन्तु गले तक भोगतृष्णामें डूबे हुए, सच्चे जैनत्वकी साधनाके लिए ज़रा भी सहनशी-लता न रखनेवाले और उदारदृष्टि-रहित मनुष्य जब घर-बार छोड़कर जंगलकी

ओर दौड़ पड़ते हैं, गुफावास स्वीकार करते हैं, मा-बाप या आश्रितोंकी जवाबदारी फेंक देते हैं, तब उनका जीवन विसंवादी हो जाता है और बदलते हुए नये संयोगोंके साथ नया जीवन घड़नेकी अशक्तिके कारण उनके जीवनमें विरोध मालूम पड़ता है।

राष्ट्रीय क्षेत्र और राज-काजमें जैनोंके भाग लेने न लेनेके सम्बन्धमें जानना चाहिए कि जैनत्व त्यागी और गृहस्थ ऐसे दो वर्गोंमें विभाजित है। गृहस्थ-जैनत्व यदि राजकर्ताओं, राज्यके मन्त्रियों, सेनाधिपतियों वगैरह अधिकारियोंमें, स्वयं भगवान महावीरके समयमें ही प्रकट हुआ था और उसके बाद २३०० वर्षों तक राजाओं तथा राज्यके मुख्य कर्मचारियोंमें जैनत्वके प्रकट करनेका अथवा चले आते हुए जैनत्वको स्थिर रखनेका प्रयत्न जैनाचार्योंने किया था, तो फिर आज राष्ट्रीयता और जैनत्वके बीच विरोध किस लिए दिखाई देता है? क्या वे पुराने जमानेके राजा, राजकर्मचारी और उनकी राजनीति सब कुछ मनुष्यातीत या लोकोत्तर भूमिकी था? क्या उसमे कूटनीति, प्रपंच, या वासनाओंको ज़रा भी स्थान नहीं था या उस वक्तकी भावना और परिस्थितिके अनुसार राष्ट्रीय अस्मिता जैसी कोई वस्तु थी ही नहीं? क्या उस वक्तके राज्यकर्ता केवल वीतराग दृष्टिसे और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनासे राज्य करते थे? यदि इन सब प्रश्नोंका उत्तर यह हो कि जैसे साधारण गृहस्थ जैनत्व धारण करनेके साथ अपने साधारण गृहव्यवहार चला सकता है, वैसे ही प्रतिष्ठित तथा वैभवशाली गृहस्थ भी जैनत्वके साथ अपनी प्रतिष्ठाको सँभाल सकता है और इसी न्यायसे राजा तथा राजकर्मचारी भी अपने कार्यक्षेत्रमें रहते हुए सच्चे जैनत्वकी रक्षा कर सकते हैं, तो आजकी राजनीतिकी समस्याका उत्तर भी यही है। अर्थात् राष्ट्रीयता और राजनीतिके साथ सच्चे जैनत्वका, यदि वह हृदयमे प्रकट हुआ हो तो, कुछ भी विरोध नहीं। निःसन्देह यहाँ त्यागीवर्गकी बात विचारनी रह जाती है। त्यागीवर्गका राष्ट्रीय क्षेत्र और राजनीतिके साथ सम्बंध घटित नहीं हो सकता, यह कल्पना उत्पन्न होनेका कारण यह मान्यता है कि राष्ट्रीय प्रवृत्तिमें शुद्धि जैसा तत्त्व ही नहीं होता और राजनीति भी समभाव-वाली नहीं हो सकती। परन्तु अनुभव बतलाता है कि यथार्थ वस्तुस्थिति ऐसी नहीं। यदि प्रवृत्ति करनेवाला स्वयं शुद्ध है तो वह प्रत्येक जगह शुद्धि ला सकता और

सुरक्षित रख सकता है और यदि वह स्वयं शुद्ध न हो तो त्यागीवर्गमें रहते हुए भी सदा मलिनता और भ्रमणामें पड़ा रहता है। क्या हम त्यागी माने जाने वाले जैनोंको छल प्रपंच और अशुद्धिमें लिपटा हुआ नहीं देखते? यदि राष्ट्रीय वृत्तिकी ओरसे तटस्थ त्यागीवर्गमें एकाध सच्चा जैन मिलनेका संभव हो, तो आधुनिक राष्ट्रीय प्रवृत्ति और राजकीय क्षेत्रमें कूदने वाले वर्गमें उससे भी अधिक श्रेष्ठ गुण-जैनत्वको धारण करनेवाले अनेक लोग क्या नहीं मिलते जो जन्मसे भी जैन हैं? फिर त्यागी माने जानेवाले जैनवर्गमें राष्ट्रीयता और राजकीय क्षेत्रमें समयोचित भाग लेनेके उदाहरण साधुसघके इतिहासमें क्या कम हैं? फर्क है तो इतना ही कि उस समय राष्ट्रीय वृत्तिमें साम्प्रदायिक और नैतिक भावनायें साथ साथ काम करती थीं; जब कि आज साम्प्रदायिक भावना जरा भी कार्यसाधक या उपयोगी नहीं हो सकती। इससे यदि नैतिक भावना और अर्पणवृत्ति हृदयमें हो, जिसका शुद्ध जैनत्वके साथ सपूर्ण मेल है, तो गृहस्थ या त्यागी किसी भी जैनको, जैनत्वमें जरा भी बाधा न आए बल्कि अधिक पोषण मिले इस रीतिसे, काम करनेका राष्ट्रीय तथा राजकीय क्षेत्रमें पूर्ण अवकाश है। घर और व्यापारके क्षेत्रकी अपेक्षा राष्ट्र और राजकीय क्षेत्र बड़ा है, यह बात ठीक; परन्तु विश्वके साथ अपना मेल होनेका दावा करनेवाले जैनधर्मके लिए तो राष्ट्र और राजकीय क्षेत्र भी घर-जैसा ही छोटा-सा क्षेत्र है। बल्कि आज तो इस क्षेत्रमें ऐसे कार्य शामिल हो गये हैं जिनका अधिकसे अधिक मेल जैनत्व, समभाव और सत्यदृष्टिके ही साथ है। मुख्य बात यह है कि किसी कार्य अथवा क्षेत्रके साथ जैनत्वका तादात्म्य संबध नहीं। कार्य और क्षेत्र चाहे जो हो यदि जैनत्वकी दृष्टि रखकर उसमें प्रवृत्ति होगी तो वह सब शुद्ध ही होगा।

दूसरा प्रश्न विवाह-प्रथा और जात-पाँतका है। इस विषयमें जानना चाहिए कि जैनत्वका प्रस्थान एकान्त त्यागवृत्तिमेंसे हुआ है। भगवान महावीरको जो कुछ अपनी साधनाके फलस्वरूप जान पड़ा था वह तो ऐकान्तिक त्याग था; परन्तु सभी त्यागके इच्छुक एकाएक उस भूमिकापर नहीं पहुँच सकते। भगवान् इस लोकमानससे अनभिज्ञ न थे, इसीलिए वे उम्मीदवारके कम या अधिक त्यागमें सम्मत होकर 'मा पडिबंधं कुणह'—'विलम्ब मत कर' कह कर सम्मत होते गये। और शेष भोगवृत्ति तथा सामाजिक मर्यादाओंका नियमन

करनेवाले शास्त्र तो उस वक्त भी थे, आज भी हैं और आगे भी रचे जायँगे। 'स्मृति' जैसे लौकिक शास्त्र लोग आज तक रचते आए हैं और आगे भी रचेंगे। देश-कालानुसार लोग अपनी भोग-मर्यादाके लिए नये नियम, नये व्यवहार, गढ़ेंगे, पुरानोंमें परिवर्तन करेंगे और बहुतोंको फेंक भी देंगे। इन लौकिक स्मृतियोंकी ओर भगवानने ध्यान नहीं दिया। उनका ध्रुव सिद्धान्त त्यागका है। लौकिक नियमोंका चक्र उसके आस-पास उत्पादन-व्ययकी तरह, ध्रुव सिद्धान्तमें बाधा न पड़े, इस प्रकार चला करे, इतना ही देखना रह जाता है। इसी कारण जब जैनधर्मको कुलधर्म माननेवाला जैनसमाज व्यवस्थित हुआ और फैलता गया तब उसने लौकिक नियमानुसार भोग और सामाजिक मर्यादाका प्रतिपादन करनेवाले अनेक शास्त्र रचे। जिस न्यायने भगवानके बाद हजार वर्षोंतक समाजको जिन्दा रक्खा, वही न्याय समाजको जिन्दा रखनेके लिए हाथ ऊँचा करके कहता है कि 'तू सावधान हो, अपने आसपासकी उपस्थित परिस्थितिको देख और फिर समयानुसारिणी स्मृतियाँ रच। तू इतना ही ध्यानमें रख कि त्याग ही सच्चा लक्ष्य है, परंतु साथमें यह भी न भूल जाना कि त्यागके विना त्यागका ढोंग करेगा तो जरूर नष्ट होगा। और अपनी भोगमर्यादाके अनुकूल हो, ऐसी रीतिसे सामाजिक जीवनकी घटना कर; केवल स्त्रीत्व या पुरुषत्वके कारण एककी भोगवृत्ति अधिक है और दूसरेकी कम है अथवा एकको अपनी वृत्तियाँ तृप्त करनेका चाहे जिस रीतिसे हक है और दूसरेका उसकी भोगवृत्तिके शिकार बननेका ही जन्मसिद्ध कर्तव्य है, ऐसा कभी न मान।

समाजधर्म यह भी कहता है कि सामाजिक स्मृतियाँ सदा एक जैसी नहीं होतीं। त्यागके अनन्य पक्षपाती गुरुओंने भी जैनसमाजको बचानेके लिए अथवा उस वक्तकी परिस्थितिके वश होकर आश्चर्यजनक भोगमर्यादा-वाले विधान बनाये हैं। वर्तमानकी नई जैन स्मृतियोंमें चौसठ हजार या छयानवे हज़ार तो क्या, एक साथ दो स्त्रियाँ रखनेवालेकी भी प्रतिष्ठा समाप्त कर दी जायगी तब ही जैनसमाज अन्य धर्मसमाजोंमें सम्मानपूर्वक मुँह दिखा सकेगा। आजकलकी नई स्मृतिके प्रकरणमें एक साथ पाँच पति रखनेवाली द्रौपदीके सतीत्वकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, परन्तु प्रामाणिकरूपसे पुनर्विवाह करनेवाली

स्त्रीके सतीत्वकी प्रतिष्ठाको दर्ज किये बिना भी छुटकारा नहीं। नई स्मृतिमें चालीस वर्षसे अधिककी उम्रवाले व्यक्तिका कुमारी कन्याके साथ विवाह बलात्कार या व्यभिचार ही समझा जायगा। एक स्त्रीकी मौजूदगीमें दूसरी स्त्री ब्याहनेवाले आजकालकी जैन-स्मृतिमें स्त्री-घातक गिने जायँगे; क्योंकि आज नैतिक भावनाका जो बल चारों तरफ फैल रहा है उसकी अवगणना करके जैनसमाज सबके बीच मानपूर्वक नहीं रह सकता। जात-पाँतके बन्धन कठोर किये जायँ या ढीले, यह भी व्यवहारकी अनुकूलताका प्रश्न है। इसलिए उसके विधान भी नये सिरेसे ही बनाने पड़ेंगे। इस विषयमें प्राचीन शास्त्रोंका आधार खोजना हो तो वह जैनसाहित्यमेंसे मिल सकता है; परन्तु खोजकी मेहनत करनेकी अपेक्षा ध्रुव जैनत्व—**समभाव और सत्यदृष्टि**—कायम रखकर उसके आधारपर व्यवहारके अनुकूल जीवन अर्पण करनेवाली लौकिक स्मृतियाँ रच लेना ही अधिक श्रेयस्कर है।

गुरुसंस्थाके विषयमें कहना यह है कि आज तक वह बहुत बार फेंक दी गई है, फिर भी खड़ी है। पार्श्वनाथके पश्चात् विकृत होनेवाली परम्पराको महावीरने फेंक दिया, परन्तु इससे गुरुसस्थाका अन्त नहीं हुआ। चैत्यवासी गये तो समाजने दूसरी संस्था माँग ली। जतियोंके दिन पूरे होते ही संवेगी साधु खड़े हो गये। गुरुसस्थाको फेंक देनेका अर्थ सच्चे ज्ञान और सच्चे त्यागको फेंक देना नहीं है। सच्चे त्यागको तो प्रलय भी नष्ट नहीं कर सकता। इसका अर्थ इतना ही है कि आजकल गुरुओंके कारण जो अज्ञान पुष्ट होता है, जिस विक्षेपसे समाज शोषित होता है, उस अज्ञान तथा विक्षेपसे बचनेके लिए समाजको गुरुसंस्थाके साथ असहकार करना चाहिए। असहकारके अग्नि-तापसे सच्चे गुरु तो कुन्दन जैसे होकर आगे निकल आवेंगे। जो मैले होंगे वे या तो शुद्ध होकर आगे आवेंगे या जलकर भस्म हो जायगे; परन्तु आजकल समाजको जिस प्रकारके ज्ञान और त्यागवाले गुरुओंकी जरूरत है, (सेवा लेनेवाले नहीं किन्तु सेवा देनेवाले मार्गदर्शकोंकी ज़रूरत है,) उस प्रकारके ज्ञान और त्यागवाले गुरु उत्पन्न करनेके लिए उनकी विकृत गुरुत्ववाली संस्थाके साथ आज नहीं तो कल असहकार किये बिना छुटकारा नहीं। हाँ, गुरुसंस्थामें यदि

कोई एकाध माईका लाल, सच्चा गुरु, जीवित होगा तो इस कठोर प्रयोगके पहले ही गुरुसंस्थाको बरबादीसे बचा लेगा। जो व्यक्ति आन्तरराष्ट्रीय शान्ति-परिषद-जैसी परिषदोंमें उपस्थित होकर जगतका समाधान हो सके ऐसी रीतिसे अहिंसाका तत्त्व समझा सकेगा, अथवा अपने अहिंसा-बलपर वैसी परिषदोंके हिमायतियोंको अपने उपाश्रयमें आकर्षित कर सकेगा, वही अब सच्चा जैनगुरु बन सकेगा। इस समयका जगत पहलेकी अल्पतासे मुक्त होकर विशालतामें जाता है, वह जात-पाँत, सम्प्रदाय, परम्परा, वेष या भाषाकी पर्वाह किये बिना केवल शुद्ध ज्ञान और शुद्ध त्यागकी प्रतीक्षामें खड़ा है। इससे यदि वर्तमान गुरुसंस्था शक्तिवर्धक होनेके बदले शक्ति-बाधक होती हो, तो उसकी और जैन समाजकी भलाईके लिए सर्व प्रथम प्रत्येक समझदार मनुष्यको उसके साथ असहकार करना चाहिए। यदि ऐसा करनेकी आज्ञा जैन शास्त्रोंमेंसे ही प्राप्त करनी हो तो वह सुलभ है। गुलामीकी वृत्ति न नवीन रचती है और न प्राचीनको सुधारती या फेंकती है। इस वृत्तिके साथ भय और लालचकी सेना होती है। जिसे सद्गुणोंकी प्रतिष्ठा करनी होती है, उसे गुलामी वृत्तिका बुरका फेंक कर प्रेम और नम्रता कायम रख कर, विचार करना चाहिए।

धंधेके विषयमें जैनशास्त्रोंकी मर्यादा बहुत ही संक्षिप्त है और वह यह कि जिस चीजका धंधा धर्म-विरुद्ध या नीति-विरुद्ध हो, उस चीजका उपभोग भी धर्म और नीति-विरुद्ध है। जैसे मांस और मद्य जैनपरम्पराके लिए वर्ज्य बतलाये गये हैं तो उनका व्यापार भी उतना ही निषिद्ध है। जिस वस्तुका व्यापार समाज नहीं करता है उसे उसका उपभोग भी छोड़ देना चाहिए। इसी कारण अन्न, वस्त्र और विविध वाहनोंकी मर्यादित भोग-तृष्णा रखनेवाले भगवान्के मुख्य उपासक अन्न, वस्त्र वगैरह सभी चीजें उत्पन्न करते थे और उनका व्यापार करते थे। जो मनुष्य दूसरेकी कन्याके साथ विवाह कर अपना घर तो बसावे पर अपनी कन्याके विवाहमें धर्म-नाश देखे, वह या तो मुर्ख होना चाहिए और या धूर्त। समाजमें प्रतिष्ठित तो वह नहीं होना चाहिए। यदि कोई मनुष्य कोयला, लकड़ी, चमड़ा और यंत्रोंका प्रकट रूपसे उपयोग करता है पर वैसे व्यापारका त्याग करता है तो इसका यही अर्थ है कि वह दूसरोंसे वैसे

व्यापार कराता है। करनेमें अधिक दोष है और करानेमें तथा सम्मति देनेमें कम, ऐसा ऐकान्तिक कथन तो जैन शास्त्रोंमें नहीं है । अनेक बार करनेकी अपेक्षा कराने तथा सम्मति देनेमें अधिक दोष होनेकी संभावना रहती है। जो बौद्ध मांसका धंधा करनेमें पाप मान कर केवल मांसके भोजनको निष्पाप मानते हैं, उन बौद्धोंसे जैनशास्त्र कहता है कि "तुम भले ही धंधा न करो परन्तु तुम्हारे द्वारा उपयोगमें आते हुए मासको तय्यार करनेवाले लोगों-के पापमें तुम भागीदार हो," क्या वही निष्पक्ष शास्त्र केवल कुलधर्म होनेके कारण जैनोंसे कहते हुए हिचकेगे ? नहीं, वे तो खुल्लमखुल्ला कहेंगे कि या तो भोग्य चीज़ोंका त्याग करो और त्याग न करो तो जैसे उनके उत्पन्न और उनके व्यापार करनेमें पाप समझते हो वैसे दूसरों द्वारा तय्यार हुई और दूसरोंके द्वारा सुलभ की गई चीज़ोंके भोगमें भी उतना ही पाप समझो। जैनशास्त्र तुमको अपनी मर्यादा बतलाएगा कि दोष या पापका सम्बन्ध भोगवृत्तिके साथ है, केवल चीज़ोंके सम्बन्धके साथ नहीं। जिस ज़मानेमें 'मज़दूरी ही रोटी है,' का सूत्र जगद्व्यापी हो रहा है उस ज़मानेमें समाजके लिए अनिवार्य आवश्यक अन्न, वस्त्र, रस, मकान, आदि खुद उत्पन्न करने और उनका धंधा करनेमें दोष माननेवाले या तो अविचारी हैं या धर्ममूढ़ ।

[पर्युषणव्याख्यानमाला, १९३०]

—

वर्तमान साधु और नवीन मानस

यूरोपमें गैलिलियो वग़ैरह वैज्ञानिकोंने जब विचारका नया द्वार खोला और ब्रूनो जैसे पादरी पुत्रोंने धर्म-चिन्तनमें स्वतन्त्रता दिखलाई, तब उनका विरोध करनेवाले वहाँके पोप और धर्मगुरु थे। बाइबिलकी पुरानी बातें जब विचारोंकी नवीनता और स्वतन्त्रता न सह सकीं तब जड़ता और विचारोंके बीचमें द्वन्द्व शुरू हुआ। अन्तमें जड़ताने अपना अस्तित्व सलामत रखनेके लिए एक ही मार्गका अवलम्बन किया। अर्थात् जब धर्मगुरुओं और पोपोंने अपने धर्मकी मर्यादा केवल बाइबिलके गिरि-प्रवचनमें और यथा-शक्य सेवा-क्षेत्रमें सीमित देखी और विज्ञान और शिक्षाके नवीन बलको मार्गदर्शन करानेमें अपनेको असमर्थ पाया, तब उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र सकुचित करके नये जमानेकी बढ़ती हुई विचार-धाराका मार्ग रोकनेकी आत्म-घातक प्रवृत्तिसे हटकर अपने और नवीन विकासके अस्तित्वको बचा लिया।

यूरोपमें जो बात युगों पहले शुरू हुई थी और अन्तमें अपने स्वाभाविक मार्गको पहुँच गई थी, भारतमें भी आज हम उसका आरम्भ देख रहे हैं, खास करके जैन समाजमें। यहाँके और समाजोंको अलग रखकर केवल वैदिक या ब्राह्मण समाजको लेकर जरा विचार कीजिए। वैदिक समाज करोड़ोंकी संख्यामें है। उसमें गुरु-पदोंपर गृहस्थ ब्राह्मणोंके अलावा त्यागी सन्यासी भी हैं—और वे लाखों हैं। जब नवीन शिक्षाका आरभ हुआ, तब उनमें भी हलचल मच गई। पर उस हलचलसे भी ज्यादा तेजीसे नवीन शिक्षा फैलने लगी। उसने अपना मार्ग नये ढँगपर शुरू किया। जो ब्राह्मण-पंडित शास्त्रके बल और परम्पराके प्रभावसे चारों वर्णोंके लिए गुरुतुल्य मान्य थे, जिनकी वाणी न्यायका काम करती थी और वर्ण और आश्रमोंकी पुरानी रूढ़ियोंके बाहर पैर

रखनेमें पापका भय दिखलाती और प्रायश्चित्त देती थी, उन्हीं धुरन्धर पंडितोंकी सन्तानोंने नवीन शिक्षा लेकर अपने बड़ोंका सामना किया और जहाँ कोई मार्ग न मिला वहाँ ब्रह्मसमाज, देवसमाज, आर्यसमाजादि नये धर्मोंकी स्थापना कर ली। एक तरफ शिक्षित गृहस्थोंमेंसे प्रजाके नवीन मानसको मार्ग दिखा सकनेवाला समर्थ वर्ग तैयार होने लगा और दूसरी तरफ साधु-संन्यासियोंमेंसे भी ऐसा वर्ग निकलने लगा जो पाश्चात्य शिक्षाको समझता था और उसको अपना लेनेमें ही प्रजाका सुन्दर भविष्य देखता था। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थने नवीन-शिक्षाप्राप्त हिन्दुओंके मानसको पहचान लिया और उसे योग्य दिशामें सहानुभूतिपूर्वक ले जानेका प्रामाणिक और बुद्धि-सिद्ध प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि आज पुरानी रूढ़ियोंके कट्टरसे कट्टर समर्थक लाखों सनातनी पण्डितोंके रहते हुए भी विशाल वैदिक समाजकी इस नवीन पीढ़ीके लिए शिक्षणमें या विचार-स्वातन्त्र्यमें कोई बंधन नहीं रह गया। यही कारण है कि जहाँ एक ओर दस हजार वर्ष पुराने वैदिक कालके पक्षपाती प्रखर पंडित मौजूद हैं वहीं विद्याकी प्रत्येक शाखामें सर्वथा नवीन ढंगसे पारंगत और खुल्लमखुल्ला पुराने समयके बंधनोंके विरोधी हजारों लाखों विद्वान् नजर आने लगे हैं। कोई भी सनातनी पंडित या शंकराचार्य, जगदीशचन्द्र बोस या सी० वी० रमणको इसीलिए नीचे गिरानेका प्रयत्न नहीं करता कि उन्होंने जो उनके पूर्वजोंने नहीं किया था वह किया है। कालिदास और माघके वंशज किसी संस्कृत-कविने टागोरके कवित्वके विरोधमें इसलिए रोष नहीं दिखाया कि उन्होंने वाल्मीकि और व्यासके सनातन मार्गसे भिन्न बिल्कुल नई दिशामें प्रस्थान किया है। गीताके भाष्यकार आचार्योंके पट्टधरोंने गाँधीजीको इसीलिए त्याज्य नहीं गिना कि उन्होंने पूर्वाचार्योंद्वारा फलित न की हुई अहिंसा गीतामेंसे फलित की है। अर्थात् हिन्दू समाजमें करोड़ों अति सकुचित, शंकाशील और डरपोकोंके होते हुए भी सारी दुनियाका ध्यान आकर्षित करनेवाले असाधारण लोग जन्मते आये हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि इस समाजमें नये मानसको पहचाननेवालों, उसका नेतृत्व करनेवालों और उसके साथ तन्मय होनेवालोंका कभी अभाव नहीं रहा।

अब जरा जैन समाजकी ओर देखिए। उसमें कोई पचास वर्षसे, नवीन शिक्षाका संचार धीरे धीरे हुआ है। वह जैसे जैसे बढ़ता गया, वैसे वैसे

प्रत्याघाती बल भी सामने आने लगा और जैन समाजके नये मानसके साथ पुराने मानसका संघर्ष होने लगा। परन्तु जिसे हम जैन समाजका पुराना मानस कहते हैं सचमुचमें तो उसे साधुओंका मानस समझना चाहिए। यह सच है कि कट्टर और दुराग्रही स्त्री-पुरुष जैन गृहस्थोंमें भी थे और अब भी हैं। परन्तु उनके संचालनकी बागडोर सदा साधुओंके हाथमें रही है। इसका यह अर्थ नहीं कि तमाम गृहस्थोंने किसी एक समयमें अपना नेतृत्व साधुवर्गको सौंप दिया है किन्तु पुरानी परम्पराके अनुसार एक ऐसी मान्यता चली आई है कि शिक्षा और त्यागमें तो साधु ही आगे हो सकते हैं। गृहस्थ यदि पढ़ते हैं, तो केवल अपना व्यापार चलानेके लिए। सब विषयोंका और सभी प्रकारका ज्ञान तो साधुओंमें ही हो सकता है। और त्याग तो साधुओंका जीवन ही रहा। इस परम्परागत श्रद्धाके कारण जाने या अनजाने गृहस्थ-धर्म साधुओंके कथनानुसार ही चलता आया है। व्यापार-धन्धेके अलावा विचारणीय प्रदेशमें सदासे केवल साधु ही सच्ची सलाह देते आये हैं—इसीलिए जब भी कोई नई परिस्थिति खड़ी होती है, और पुरानी लकीरके फकीर क्षुब्ध होते या घबड़ाते हैं, तब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीतिसे साधुओंका मानस ही उस क्षोभका प्रेरक नहीं तो पोषक अवश्य होता है। यदि ऐसे क्षोभके समय कोई समर्थ विचारक साधु लकीरके फकीर श्रावकोंको योग्य सलाह दे, तो निश्चय ही वह क्षोभ तुरन्त मिट जाय। अज्ञता, संकीर्णता, प्रतिष्ठा-भय या अन्य कारणोंसे साधु लोग नवीन शिक्षा, नवीन परिस्थिति और उसके बलका अन्दाज नहीं लगा सकते। परिणामस्वरूप वे नवीन परिस्थितिका विरोध न भी करें, तो भी जब उदासीन रहते हैं तब लकीरपंथी श्रद्धालु जन मान लेते हैं कि जब महाराज साहब ऐसी बातोंमें चुप हैं तब यह नवीन प्रकाश या नवीन परिस्थिति समाजके लिए इष्ट नहीं होगी और इसलिए वे लोग बिना कुछ सोचे समझे खुद अपनी ही संतानोंका सामना करने लगते हैं। और यदि कहीं कोई प्रभावशाली साधु हाथ डाल देते हैं, तब तो जलतेमें घी पड़ जाता है।

साधुसमाजकी जडता

पर यह बात खास तौरसे श्वेताम्बर मूर्तिपूजकोंमें ही दिखाई देती है। दिगम्बर समाजमें तो उनके सद्भाग्यसे साधु लोग रहे ही नहीं थे। अवश्य ही अभी

अभी कुछ नग्न साधु नये हुए हैं जो पुरानी चालके हैं। अत्यन्त संकुचित मनके पण्डित, ब्रह्मचारी और वर्णी भी हैं। ये सब दिगम्बर समाजकी नई प्रजाकी नवीन शिक्षा, नये विचार और विचार-स्वातन्त्र्यमें बहुत बाधा डालते हैं। एक तरहसे ये अपने समाजमें मन्दगतिसे भी प्रवेश करते हुए प्रकाशको दबानेके लिए यथाशक्य सब कुछ करते हैं। इसी कारण उक्त समाजमें भी जड़ता और विचारशीलताके बीच महाभारत चालू है। फिर भी श्वेतांबर मूर्तिपूजकोंमें साधुओंका जितना प्रभाव है, जितना अनधिकार हस्तक्षेप है और जितना गृहस्थ और साधुओंके बीच तादात्म्य है, उतना दिगम्बर समाजके पंडितों और साधुओंमें नहीं है। इस कारण श्वेताम्बर समाजका क्षोभ दिगम्बर समाजके क्षोभकी अपेक्षा अधिक ध्यान खींचता है। स्थानकवासी समाजमें इस तरहके क्षोभके प्रसंग नहीं उपस्थित होते। कारण उस समाजमे श्रावकोंपर साधुओंका प्रभाव व्यवहार-क्षेत्रमें नाम मात्रको भी नहीं। गृहस्थजन साधुओंको मान देते, बन्दना करते और पोषते है, बस इतना ही। किन्तु साधुजन यदि गृहस्थोंकी प्रवृत्तिमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ डालते हुए जान पड़ें, तो उन्हें साधुके नाते जीना ही मुश्किल हो जाय। श्वेतांबर साधुओंने गृहस्थ-जीवनके विकासके लिए जो कुछ किया है, उसका शायद शतांश भी स्थानकवासी साधुओंने नहीं किया। पर यह भी सच है कि उन्होंने श्वेतांबर साधुओंकी भाँति गृहस्थके जीवन-विकासमे बाधायें खड़ी नहीं कीं। यों तो स्थानकवासी समाजमें भी पुराने और नये मानसके बीच संघर्ष है लेकिन उस संघर्षका मूल सूत्र साधुओंके हाथमें नहीं है। इसीलिए वह न तो ज्यादा समय तक चलता है और न उग्ररूप धारण करता है। उसका समाधान आप ही आप बाप-बेटों, और भाई भाईमें ही हो जाता है। किन्तु श्वेताम्बर समाजके साधु इस प्रकारका समाधान अशक्य कर देते हैं।

धार्मिक झगड़े

अब हम जरा पिछली शताब्दियोंकी ओर बढ़ें और देखें कि, वर्तमानमें जैसा संघर्ष साधुओं और नवीन प्रजाके बीच दिखाई देता है वैसा किसी तरहका संघर्ष साधुओं और गृहस्थोंके बीच, खासकर शिक्षा और संस्कारके विषयमें, उत्पन्न हुआ या नहीं? इतिहास कहता है कि नहीं। भगवान्

महावीरके बादके इतिहासमें कलह और संघर्ष होनेके यों तो कई प्रमाण मिलते हैं लेकिन वह संघर्ष जब धार्मिक था तब दोनों ओरके विरोधी सूत्रधार केवल साधु ही थे और वे पूर्ण अहिंसक होनेके कारण प्रत्यक्ष रूपसे हिंसा-युद्ध नहीं कर सकते थे, इस लिए लगाम अपने हाथमें रख कर अपने अपने गच्छकी छावनियोंमें श्रावक सिपाहियोंके द्वारा ही लड़ते थे और इतने कौशलसे लड़ते थे कि लड़नेकी भूख भी मिट जाती थी और अहिंसाका पालन भी होता था। इस प्रकार पुराने इतिहासमें श्रावकों-श्रावकोंके बीचकी धार्मिक लड़ाई भी वास्तवमें तो साधु-साधुओंकी ही लड़ाई थी। लेकिन उसमें एक भी दृष्टान्त ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें आजकलकी भाँति प्रत्यक्ष रीतिसे साधुओं और श्रावकोंके बीच लड़ाई हुई हो।

साधुओंका दृष्टिबिंदु

प्राचीन समयमे शिक्षा साधु और श्रावकोंके बीच आजकी तरह भिन्न नहीं थी। गृहस्थ लोग व्यापार-धन्धेके बारेमें चाहे जितनी कुशलता प्राप्त कर लें पर धार्मिक शिक्षाके सिलसिलेमे वे साधुओंका ही अनुकरण करते थे। साधुओंका दृष्टिबिंदु ही गृहस्थोंका दृष्टिबिन्दु था। साधुओंके शास्त्र ही गृहस्थोंके अन्तिम प्रमाण थे। साधुओंद्वारा प्रदर्शित शिक्षाका विषय ही गृहस्थोंके अभ्यासका विषय और साधुओंकी दी हुई पुस्तकें ही गृहस्थोकी पाठ्य पुस्तके और लायब्रेरी थी। तात्पर्य यह कि शिक्षण और संस्कारके प्रत्येक विषयमें गृहस्थोंको साधुओंका ही अनुसरण करना पड़ता था। इसलिए उनका धर्म भारतकी पतिव्रता नारीकी तरह साधुओंके पग-पगपर जाने-आनेका था। पतिका तेज ही पत्नीका तेज, यही पतिव्रताकी व्याख्या है। इसी कारण उसे स्वतन्त्र पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जैन गृहस्थोंकी शिक्षा और संस्कारिताके विषयमें यही स्थिति रही है। सिद्धसेन और समन्तभद्र तार्किक तो थे लेकिन साधुपदको पहुँचनेके बाद। यह सच है कि हरिभद्र और हेमचन्द्रने नव नव साहित्यसे भंडार भर दिये लेकिन वह साधुओंकी शालामें दाखिल होनेके बाद। यशोविजयजीने जैन-साहित्यको नया जीवन दिया लेकिन वह भी साधु अभ्यासीके स्वरूपमें। हम उस पुराने युगमें किसी भी गृहस्थको जैन साधु जितना समर्थ और प्रसिद्ध विद्वान् नहीं देख पाते, इसका कारण क्या है? असाधारण पाण्डित्य

और विद्वत्तावाले शंकराचार्य और दूसरे संन्यासियोंके समयमें उनके ही समक्ष उनसे भी बड़े बड़े गृहस्थ पंडितोंका इतिहास वैदिक समाजमें प्रसिद्ध है। परन्तु प्रसिद्ध साधुओं या आचार्योंकी जोडका एक भी गृहस्थ श्रावक जैन इतिहासने उत्पन्न नहीं किया। क्या गृहस्थ ब्राह्मणमें जितनी बुद्धि होती है उतनी श्रावकमें नहीं हो सकती? या जब तक श्रावक गृहस्थ है तब तक उसमें इस प्रकारकी बुद्धिकी सम्भावना ही नहीं और जब वह साधुवेश धारण करता है तभी उसमें एकाएक ऐसी बुद्धि उबल आती है? नहीं, कारण यह है कि गृहस्थ श्रावक शिक्षा और संस्कारके क्षेत्रमें साधुओंके समान दर्जेमें दाखिल ही नहीं हुए। उन्होंने अपना सारा ही समय पातिव्रत्य धर्मका पालन करके भक्तिकी लाज रखनेमें लगाया है और साधुओंकी प्रतिष्ठाका सतत समर्थन किया है। इसीलिए एक ही सामान्य दर्जेमें शिक्षा पानेवाले साधु गच्छ-भेद, क्रियाकाण्ड-भेद या पदवी-मोहके कारण जब आपसमें लड़ते थे तब गृहस्थ श्रावक एक या दूसरे पक्षका वफादारीसे समर्थन करते थे। लेकिन प्रत्यक्ष रीतिसे किसी भी गृहस्थका किसी साधुके सामने लड़ना, मतभेद रखना या विरोध करना होता ही नहीं था। इसी कारण हमारा पुराना इतिहास गृहस्थों और त्यागियोंके शिक्षा-संस्कार विषयक आन्तर-विग्रहसे नहीं रगा गया। वह कोरा पृष्ठ तो अब यूरोपकी शिक्षासे चित्रित होना शुरू हुआ है।

आन्तरविग्रह

साधुओं और नवीन शिक्षाप्राप्त गृहस्थोंके मानसके बीच इतना बड़ा विग्रहकारी भेद क्यों है? इस अन्तर्विग्रहका मूल कारण क्या है? मानस शिक्षासे और शिक्षाके अनुसार ही बनता है। 'जैसा अन्न वैसा मन' इस कहावतसे ज्यादा व्यापक और सूक्ष्म सिद्धान्त यह है कि 'जैसी शिक्षा वैसा मन।' बीसवीं शताब्दीमें भी शिक्षणसे—केवल पर्याप्त शिक्षणसे ही हजारों वर्ष पहलेके मानसका पुनर्गठन हो सकता है। उस पुराने जंगली मानसको केवल शिक्षणकी सहायतासे थोड़े ही समयमें आधुनिक बनाया जा सकता है। साधु जिस शिक्षणको पाते हैं वह एक प्रकारका है और उनके भक्त श्रावकोंकी सन्तति जिस शिक्षाको पाती है वह बिल्कुल निराले ढँगकी। एक दूसरेके बिल्कुल विपरीत बहनेवाले शिक्षणके इन दो प्रवाहोंने जैन समाजमें, दो प्रकारके

अभूतपूर्व मानसोंको उत्पन्न किया है और वे ही एक दूसरेपर विजय पानेके लिए समाजके अखाड़ेमें उतर पड़े हैं। यदि हम इन परस्परविरोधी दोनों मानसोंका गठन करनेवाले शिक्षण, उसके विषय और उसकी प्रणालीके बारेमें कुछ जान लें, तो निश्चय हो जायगा कि अभी जो मानसिक भूकम्प आया है वह स्वाभाविक और अनिवार्य है। साधु लोग सीखते हैं। सारी जिन्दगी शिक्षा लेनेवाले साधुओंकी कमी नहीं है। उनके शिक्षक उन्हीं जैसे मनोवृत्तिके साधु होते हैं और ज्यादातर तो ऐसे पण्डित होते हैं जो कि बीसवीं सदीमें जन्म लेकर भी बारहवीं या सोलहवीं सदीसे आगे शायद ही बढ़े हों।

साधुओंकी शिक्षाप्रणाली

साधुओंकी शिक्षाका मुख्य विषय जो सबसे पहले उन्हें पढ़ाया जाता है, क्रिया-काण्डविषयक सूत्र हैं। इन सूत्रोंके सीखते और सिखाते समय एक ही दृष्टि सामने होती है कि वे स्वयं भगवान् महावीरके रचे हुए हैं, या पीछेके होनेपर भी ऐसे अचल हैं कि उनमें उत्पाद-व्ययका जैनसिद्धान्त भी गौण हो जाता है। इस क्रिया-काण्डी शिक्षापर सर्वश्रेष्ठताकी छाप इस तरह श्रद्धाके हथोड़े मारमारकर बिठाई जाती है कि सीखनेवाला दूसरे सभी क्रिया-काण्डोंको तुच्छ और भ्रामक मानने लगता है। इतना ही नहीं, वह अपने छोटेसे गच्छके सिवा दूसरे सहोदर और पड़ोसी गच्छोंके विधि-विधानोंको भी अशास्त्रीय गिनने लगता है।

साधुओंके शिक्षणका दूसरा विषय धर्म और तत्त्वज्ञान है। धर्मके नामसे वे जो कुछ सीखते हैं उसमें उनकी एक ही दृष्टि आदिसे अन्त तक ऐसी दृढतासे पोषी जाती है कि उन्हें सिखाया जानेवाला धर्म पूर्ण है। उसमें कुछ भी कम ज्यादा करनेके लिए अवकाश नहीं और धर्मकी श्रेष्ठताके बारेमें उनके मनपर ऐसे संस्कार डाले जाते हैं कि जब तक वे लोग इतर धर्मोंके दोष न देखें और इतर धर्मोंकी कमियाँ न बतलावें, तब तक उन्हें अपने धर्मकी श्रेष्ठताका विश्वास करनेका दूसरा कोई मार्ग दिखलाई नहीं पड़ता। जैन साहित्यमें दाखिल हुई कोई भी घटना-भले ही वह काल्पनिक हो, रूपक

हो, या परापूर्वसे चला आनेवाला कथानक हो, उनके लिए इतिहास और सच्चा इतिहास हैं। उनको पढाया जानेवाला भूगोल विश्वके उस पारसे शुरू होता है जिसमें प्रत्यक्ष देखे जा सकें, और जहाँ स्वयं जाया जा सके, ऐसे स्थानोंकी अपेक्षा ज्यादातर ऐसे ही स्थानोका बड़ा भाग होता है जहाँ कभी पहुँचा न जा सके और जिसे देखा न जा सके। उनके भूगोलमें देवाङ्गनाएं हैं, इन्द्राणियाँ है और परम धार्मिक नरकपाल भी। जिन नदियों, समुद्रों और पर्वतोंके नाम उनको सीखने होते हैं उनके विषयमें उनका पक्का विश्वास रहना है कि यद्यपि वे वर्तमानमे अगम्य हैं फिर भी हैं वर्णनके अनुसार ही। तत्त्वज्ञान, ऐसे विश्वासके साथ सिखाया जाता है कि जो दोहजार वर्ष पहले संग्रह हुआ था वही अविच्छिन्न स्वरूपमें बिना परिवर्तनके चला आता है। इस लम्बे समयमे आसपासके बलोंने जैन-तत्त्वज्ञानके पोषणके लिए जो दलीलें, जो शास्त्रार्थ जैन साहित्यमें दाखिल किये हैं उनका ऋण स्वीकारना तो दूर रहा, उलटे ऐसे सस्कार भर दिये जाते हैं कि अन्यत्र जो कुछ भी कहा गया है वह सब जैन-साहित्य-समुद्रका बिन्दु मात्र है। नवीं और दसवीं सदी तक बौद्ध विद्वानोने और करीब करीब उसी सदी तक ब्राह्मण विद्वानोंने जो तात्त्विक चर्चाएं की हैं वही श्वेताम्बरो या दिगम्बरोंके तत्त्व-साहित्यमें अक्षरशः मौजूद हैं। किन्तु उसके बादकी सदियोंमे ब्राह्मण विद्वानोंने जो तत्त्वज्ञान पैदा किया है और जिसका अभ्यास सनातनी पडित अब तक करते आये हैं और जैन साधुओंको भी पढ़ाते आये हैं, उस तत्त्वज्ञानके विकासमे—यशोविजयजीके अपवादको छोड़कर—सबके सब जैन आचार्योंका साहित्य वंचित है। फिर भी जैनतत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेवाले साधु मानते हैं कि वे जो कुछ सीखते हैं उसमें भारतीय विकसित तत्त्वज्ञानका कोई भी अंश बाकी नही रह जाता। भारतीय दार्शनिक सस्कृतिके प्राणभूत पूर्वमीमासा और उत्तर-मीमासा दर्शनोंके तनिक भी प्रामाणिक अभ्यासके बिना जैन साधु अपने तत्त्व-ज्ञानको सपूर्ण मानते हैं। भाषा, व्याकरण, काव्य, कोष—ये सब भी उनकी शिक्षाके विषय है, लेकिन उनमे नवयुगका कोई भी तत्त्व दाखिल नहीं हुआ। संक्षेपमें अनेकान्तवादका विषयके नाते तो स्थान होता है परन्तु अनेकान्तकी दृष्टि जीवित नहीं होती। इसी कारण वे विज्ञानका आश्रय तभी लेते हैं जब उन्हें अपने मत-समर्थनके अनुकूल उसमेंसे कुछ मिल जाय।

सच्चे इतिहासकी वे तभी प्रशंसा करते हैं जब उसमेंसे उनकी मान्यताके अनुकूल कुछ निकल आये। तार्किक स्वतन्त्रताकी बात वे तभी करते हैं जब उस तर्कका उपयोग दूसरे मतोंके खण्डनमें हो सकता हो। इस तरह विज्ञान, इतिहास, तर्क और तुलना, इन चारों दृष्टियोंका उनके शिक्षणमें निष्पक्ष स्थान नहीं है।

आधुनिक शिक्षा

इस देशमें कालेजों और युनिवर्सिटियोंके प्रस्थापित होते ही शिक्षणके विषय, उसकी प्रणाली और शिक्षक, इन सबमें आदिसे अन्त तक परिवर्तन हो गया है। केवल कालेजोंमें ही नहीं प्राथमिक शालाओंसे लेकर हाईस्कूलोंतकमें शिक्षणकी प्रत्यक्ष पद्धति दाखिल हो गई है। किसी भी प्रकारके पक्ष या भेद-भावको छोड़कर सत्यकी नींवपर विज्ञानकी शिक्षा दाखिल हुई है। इतिहास और भूगोलके विषय पूरी सावधानीसे ऐसे ढंगसे पढ़ाये जाते हैं कि कोई भी भूल या भ्रम मालूम होते ही उसका संशोधन हो जाता है। भाषा, काव्य आदि भी विशाल तुलनात्मक दृष्टिसे सिखाये जाते हैं। संक्षेपमें कहा जाय तो नई शिक्षामें प्रत्यक्षसिद्ध वैज्ञानिक कसौटी दाखिल हुई है, निष्पक्ष ऐतिहासिक दृष्टिको स्थान मिला है और उदार तुलनात्मक पद्धतिने सकुचित मर्यादाओंको विशाल किया है। इसके अलावा नई शिक्षा देनेवाले मास्टर या प्रोफेसर केवल विद्यार्थियोंके पंथको पोषनेके लिए या उनके पैतृक परंपरा-मानसको सन्तोष देनेके लिए बद्ध नहीं हैं जैसे कि पशुकी तरह दास बने हुए पंडित लोग।

वातावरण और वाचनालय

केवल इतना ही नहीं, वातावरण और वाचनालयोंमें भी भारी भेद है। साधुओंका उन्नतसे उन्नत वातावरण कहाँ होगा? अहमदाबाद या बम्बई जैसे शहरकी किसी गलीके विशाल उपाश्रयमें जहाँ दस पाँच रट्टू साधुओंका उदासीन साहचर्य रहता है। उनको किसी विशेष अध्ययनशील प्रोफेसरके चिन्तन मननका कोई लाभ या सहवासका सौरभ नहीं मिलता। उनके पुस्तकालयोंमें नाना विध किन्तु एक ही प्रकारका साहित्य रहता है। पर नई शिक्षाका प्रदेश बिल्कुल निराला

है। उसमें विविध विषयोंपर गंभीर और व्यापक अध्ययन करनेवाले प्रोफे-सरोंकी विचारधारा बहती रहती है और विविध विषयोंकी आमूल नये ढंग पर चर्चा करनेवालीं पुस्तकोंसे भरी हुई लायब्रेरियाँ रहती हैं।

इसके सिवाय दो बातें ऐसी हैं जो साधु-शिक्षण और नव शिक्षणके बीच बड़ी भारी दीवाल सिद्ध होती हैं। एक तो पंथोंके बाड़ोंमें परवरिश पाया हुआ साधु-मानस स्वभावतः ऐसा डरपोक होता है कि वह भाग्यवश किसी छिद्रसे कोई प्रकाश पा भी ले, परन्तु खुल्लमखुल्ला अपनी परम्पराके विरुद्ध कुछ भी कहनेमें मृत्युके कष्टका अनुभव करता है, जिस तरह पर्देमें रहनेवाली स्त्रीका मानस खुली हवामें पैर रखते ही करता है। लेकिन नई शिक्षाका विद्यार्थी उस भयसे बिल्कुल मुक्त रहता है। वह जो जानता है या मानता है उसे बेधड़क कह सकता है। उसको साधुकी तरह न तो घबड़ाना पड़ता है और न दंभका ही आश्रय लेना पड़ता है।

दूसरे नव शिक्षण पानेवाले युवकों और युवतियोंको केवल इसी देशके विविध स्थलों और विविध जातियोंके बीच ही नहीं विदेशोंके विशाल प्रदेशोंका स्पर्श करना भी सुलभ हो गया है। सैंकड़ों युवक ही नहीं युवतियाँ और कुमारिकाएँ भी यूरोप और अमेरिका जाती हैं। जैसे ही वे जहाजपर चढ़कर अनंताकाश और अपार समुद्रकी ओर ताकते हैं, उनके जन्मसिद्ध बँधन बिल्कुल टूटते नहीं तो ढीले अवश्य हो जाते हैं। विदेश-भ्रमण और परजातियोंके सहवाससे और विदेशी शिक्षण संस्थाओं, अद्भुत प्रयोगशालाओं और पुस्तकालयोंके परिचयसे उनका मानस हजारों वर्षकी तीव्रतम ग्रंथियोंको भी तोड़नेकी कोशिश करने लगता है और वे सब कुछ नई दृष्टिसे देखने समझने लगते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि जिनको जैन प्रजा अपने गुरुके नाते, अपने नायक और पथ-प्रदर्शककी भाँति मानती आई है उनका मानस किस प्रकारका है और पिछले कुछ वर्षोंसे जो नवीन पीढ़ी नई शिक्षा पा रही है और जिसके लिए उस शिक्षाका ग्रहण करना अनिवार्य है, उसके मानसका गठन किस प्रकार हो रहा है। अगर इन दो प्रकारके गठनोंकी पार्श्वभूमिमें अबूझ और अजोड़ कोई बड़ा भेद है,

तो अभी जिस भूकम्पका समाजमें अनुभव किया जा रहा है उसको अस्वाभाविक या केवल आगन्तुक कौन बुद्धिमान् कह सकेगा ?

वर्तमान भूकम्प कैसे थमे ?

या तो आजकी और इसके बादकी पीढ़ी नव-शिक्षणके दरवाजोंपर ताले लगाकर उसके संस्कारोंको आमूल मिटा दे और या साधुवर्ग अपनी संकीर्ण दृष्टिमर्यादाको विस्तीर्ण करके नव शिक्षणके द्वारोंमें प्रवेश करने लगे, तभी यह भूकम्प थमनेकी संभावना हो सकती है। नवशिक्षणके द्वारोंमें प्रवेश किये बिना और बारहवीं सदीकी पुरानी प्रणालीका शिक्षण प्राप्त करते रहनेपर भी यदि श्वेताम्बर साधु स्थानकवासी साधुओंकी तरह धर्मके नामसे नवपीढ़ीकी विचारणा या प्रवृत्तिमें अनधिकार बाधा डालना छोड़ दें, तो भी यह भूकम्प थम सकता है। इसके लिए या तो साधुवर्गके लिए पोपों और पादरियोंकी तरह अपने विचार और कार्यकी मर्यादा बदलनेकी अनिवार्य आवश्यकता है या फिर नवीन पीढ़ीको ही हमेशाके लिए मुक्तज्ञानके द्वारोंको बंद कर देना चाहिए।

किन्तु क्या दोनोंमेंसे एक वर्ग भी कभी अपना पल्ला नीचा करनेको तैयार होगा ? नहीं। कोई पामर व्यक्ति भी वर्तमान और उसके बादके मुक्त शिक्षणके अवसरोंको गँवानेके लिए तैयार न होगा। इसके बिना साम्प्रत जीवनका टिकना भी असंभव है। जिस साधुवर्गने आजतक पैतृक तप-संपत्तिके बलसे गृहस्थोंके ऊपर राज्य किया है, और अनधिकार सत्ताके घूँट पिये हैं, वह बुद्धिपूर्वक पुराने जमानेसे आगे बढ़कर नवीन युगके अनुकूल अपने मानसको बना ले, यह तो शायद ही संभव हो। इसी कारण प्रश्न होता है कि नव मानसके पथप्रदर्शक कौन हो सकते हैं ?

नये मानसके पथ-दर्शक

या तो गुरुपदपर रहकर श्रावकोंके मानसका पथ-प्रदर्शन करनेवाला साधुवर्ग नवमानसका भी पथ-प्रदर्शक बने या नवमानस स्वयं ही अपनी लगाम अपने हाथमें ले ले। इसमेंसे पहला तो सर्वथा असम्भव है। हमने देखा है कि आजकलके साधुकी शिक्षण-मर्यादा बिलकुल ही संकुचित है और दृष्टि-

मर्यादा तो उससे भी अधिक संकुचित, जब कि नव मानस बिलकुल ही भिन्न प्रकारका है। ऐसी स्थितिमें वर्तमान साधु-वर्गमेंसे पुरानी शास्त्र-संपत्तिको नई दृष्टिसे देखनेवाले विवेकानन्द, रामकृष्ण जैसे साधु निकलना तो सभव नहीं है। तात्पर्य यह कि कोई भी साधु नवमानसका सचालन कर सके, समीपके भविष्यमें तो क्या लम्बी मुद्दतके बाद भी ऐसी कोई संभावना नहीं है। इसलिए अब दूसरा प्रकार बाकी रहता है। उसके अनुसार नवशिक्षणप्राप्त नई पीढ़ीके मानसको खुद ही अपनी लगाम अपने हाथमें लेनेकी जरूरत है और यह उचित भी है। जब पतित, दलित और कुचली हुई जातियाँ भी अपने आप उठनेका प्रयत्न कर रही हैं तब सस्कारी जैन-प्रजाके मानसके लिए तो यह कार्य तनिक भी कठिन नहीं। अपनी लगाम अपने हाथमे लेनेके पहले नवीन पीढ़ी चंद महत्त्वके सिद्धान्त निश्चिन्त कर डाले। उनके अनुसार कार्यक्रम गढ़े और भावी स्वराज्यकी योग्यता प्राप्त करनेकी तैयारीके लिए सामाजिक उत्तरदायित्व हाथमे लेकर सामूहिक प्रश्नोको व्यक्तिगत लाभकी दृष्टिसे देखकर स्व-शासन और स्व-नियत्रणके बलका सग्रह करे।

पर्युषण-व्याख्यानमाला
बम्बई, १९३६

अनुवादक
निहालचंद्र पारेख

स्वतंत्रताका अर्थ

व्यावहारिक या सांसारिक किसी भी क्षेत्रमें स्वतंत्रताका निरपेक्ष अर्थ खोजना शक्य नहीं है। इसलिए जब हम स्वतंत्रताके अर्थके विषयमें विचार करते हैं तब उसमें सापेक्ष दृष्टिसे ही विचार करना पड़ता है। देश स्वतंत्र हुआ है, हमने स्वतंत्रता प्राप्त की है, आदि कहना और उसका प्रचलित सामान्य अर्थ लेना कठिन नहीं है। इसी प्रकार स्वतंत्रताप्राप्तिके निमित्त होनेवाले ऊपरी फेरफार समझना और उसके निमित्त होनेवाले उत्सवोंको सफल बनानेमें दिलचस्पी लेना भी सहज है। परन्तु यह स्वतंत्रता हमारे जीवनको किस भाँति स्पर्श करती है, प्रत्येक व्यक्तिके जीवनके किन किन बन्द दरवाजोंको खोलती है और इस स्वतंत्रताजनित मुक्तिमेंसे किस प्रकारकी कर्त्तव्य-परतंत्रता अनिवार्य हो जाती है, यह समझना ज्यादा कठिन है और यही स्वतंत्रताका वास्तविक हृदय है।

स्वतंत्रता प्राप्ति होनेका यह अर्थ तो स्पष्ट है कि हमें अँग्रेजी हुकूमतकी परतंत्रता या विदेशी शासनकी गुलामीसे मुक्ति मिली है। इसके साथ यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि हम लोग इस विदेशी शासनके पहले गुलाम थे या नहीं। अगर गुलाम नहीं थे तो किस अर्थमें और थे तो किस अर्थमें? इसके साथ यह प्रश्न भी उठता है कि विदेशी शासनने इस देशपर गुलामी ही लादी और पोषी या स्वतंत्रताके बीज भी बोये? ये प्रश्न और इसी तरहके दूसरे प्रश्न हमें भूतकालपर दृष्टि डालनेके लिए बाध्य करते हैं। यूरोपके भिन्न भिन्न देशोंसे जिस समय विदेशी आये उस समयकी और जब अँग्रेजी शासन स्थापित हुआ उस समयकी स्थितिका विचार किया जाय और उसकी तुलना अँग्रेजी शासनके स्थापित होनेके बादके समयसे की जाय, तो हमें यह समझनेमें सरलता हो जायगी कि दोनोंकी स्थितिमें कैसा और कितना

अन्तर था। इसके साथ यह भी समझना सरल हो जायगा कि अँग्रेजी शासनने किन किन विषयोंमें हमपर गुलामी लादी या उसका पोषण किया और किन किन विषयोंमे पुरानी गुलामीके बन्धनोंका उच्छेद किया या वे ढीले किये। साथ ही साथ हमे यह भी समझमे आ जायगा कि विदेशी शासनने हमारी इच्छित स्वतंत्रताके बीजोंका इच्छा या अनिच्छासे, जानकर या बिना जाने, कितने परिणाममें वपन किया जिसके परिणामस्वरूप हमने स्वतंत्रता प्राप्त की और उनकी कृतार्थता एक या दूसरे रूपमें अनुभव की।

अँग्रेजी शासनकी स्थापनाके पहले देशका आर्थिक जीवन स्वतंत्र था। अर्थात् देशका कृषि-उत्पादन, उसका बँटवारा, उद्योग-धंधे, कला-कारीगरी सभी व्यवसाय देशाभिमुख थे। इससे भयंकरसे भयंकर दुष्कालोंमें भी पेट भरना ब्रिटिश-शासन-कालके सुकालके समयसे सहज था। मानव-जीवनके मुख्य आधाररूप पशु-जीवन और वनस्पति-जीवन क्रमशः समृद्ध और हरेभरे थे जिनका ह्रास ब्रिटिश-शासनकी स्थापनाके बाद उत्तरोत्तर होता गया और आज क्षीण अवस्थामे पहुँच गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि देशकी जनसंख्या काफी होने हुए भी जीवनकी दृष्टिसे मानव-समाज रक्त मास और वीर्यहीन होकर सिर्फ हड्डीका ढाँचा भर रह गया है। अँग्रेजी शासनके पहले देशकी धार्मिक, सामाजिक और शिक्षाकी स्थितिका और उसके बादकी स्थितिका मिलान किया जाय तो पहले हमारी स्थिति एकदेशीय थी। देशमें धार्मिक वातावरण व्यापक और धन विपुल था, लेकिन उस वातावरणमें जितनी परलोकाभिमुखता और भ्रामक क्रियाकाण्डकी प्रचुरता थी उतनी ही ऐहिक जीवनके सुलगते हुए और तत्काल हल माँगनेवाले प्रश्नोंके प्रति उदासीनता और पुरुषार्थ-हीनता थी।

श्रद्धाकी अति और अंधानुकरण, बुद्धि और तर्कके प्रकाशको सरलतासे अवरुद्ध कर देता था। समाजमे स्त्री-शक्ति उपेक्षित और सुषुप्त थी। उसको स्वातंत्र्य था तो सिर्फ गृह-संसारके जीवनको उज्ज्वल या क्षुब्ध करनेमें। वर्णव्यवस्थाका समग्र बल जाति-पाँतिके असख्य घेरोंमें तथा चौका-चूल्हे और ऊँच-नीचकी भावनाओंमे ही समाया हुआ था। ब्राह्मण और अन्य गुरुवर्ग और उनका पोषण करनेवाले इतर सवर्णोंकी जितनी महत्ता और महनीयता थी उतनी

ही दलित और अस्पृश्य कहे जानेवाले लोगोंकी क्षुद्रता और निन्दनीयता रूढ हो गई थी। जीवनमें महत्त्वका भाग अदा करनेवाले विवाहके संबंध ऐच्छिक या गुणाश्रित शायद ही होते थे। गाँवोंमें ही न्याय करनेवाली और समाधान करानेवाली पंचायत-व्यवस्था और महाजनोंकी पुरानी संस्थाओंमें सेवाके बदले सत्ताने जोर पकड़ लिया था।

समस्त देशमें शिक्षा सस्ती और सुलभ थी। लेकिन वह उच्च गिने जाने-वाले वर्ण और वर्गको ही दी जाती थी और उन्हींके लिए कुलपरंपरागत थी। दूसरी ओर देशका एक बहुत बड़ा भाग इससे बिल्कुल वंचित था और स्त्री-समाज तो अधिकांश विद्या और सरस्वतीकी पूजामें ही शिक्षा की इतिश्री समझता था। शिक्षाके अनेक विषय होनेपर भी वह ऐहिक जीवनमें उचित रस उत्पन्न नहीं करती थी, क्योंकि उसका उद्देश्य परलोकाभिमुख बन गया था। उसमें सेवा करनेकी अपेक्षा सेवा लेनेके भावोंका अधिक पोषण होता था। ब्रह्म और अद्वैतकी गगनगामी भावनाएँ चिन्तनमें अवश्य थीं परन्तु व्यवहारमें उनकी छाया भी दृष्टिगोचर न होती थी। वैज्ञानिक शिक्षाका अभाव तो न था लेकिन वह सिर्फ कल्पनामें ही थी, प्रयोगके रूपमें नहीं।

राजकीय स्थिति बिना नायककी सेनाकी भाँति छिन्नभिन्न हो रही थी। पिता-पुत्र, भाई-भाई और स्वामी-सेवकमें राज्य-सत्ताका लोभ महाभारत और गीतामें वर्णित कौरव-पाण्डवोंके गृह-कलहको सदा सजीव रखता था। संपूर्ण देश-की तो बात ही क्या एक प्रांतमें भी कोई प्रजाहितैषी राजा शायद ही टिक पाता था। तलवार, भाला और बंदूक पकड़ सके और चला सके, ऐसा कोई भी व्यक्ति या अनेक व्यक्ति प्रजाजीवनमें गड़बड़ी उत्पन्न कर देते थे। परदेशी या स्वदेशी आक्रमणोंका सामना करनेके लिए सामूहिक और संगठित शक्ति निर्जीव हो चुकी थी। यही कारण था कि अँग्रेज भारतको जीतने और हस्तगत करनेमें सफल हुए।

अँग्रेजी शासनके प्रारम्भसे ही देशकी संपत्ति विदेशमें जानी शुरू हो गई। यह क्रिया शासनकी स्थिरता और एकरूपताकी वृद्धिके साथ इतनी बढ़ गई कि आज स्वतंत्रता-प्राप्तिके उत्सवको मनानेके लिए भी आर्थिक समृद्धि नहीं रही। अँग्रेजी शासनका सबसे अधिक प्रभाव देशकी आर्थिक और औद्योगिक स्थितिपर पड़ा। यह सच है कि अँग्रेजी शासनने भिन्न भिन्न कारणोंसे रूढ

और संकीर्ण धर्म-बलोंको पोषा है और उन्हें टिकाया भी है लेकिन साथ ही साथ इस शासनकी छायामें उन्हें वाछनीय वेग भी मिला है। धर्मोंका स्थान विचारोंने, परलोकाभिमुख जड़ क्रियाकाण्डका स्थान जीवित मानव-भक्तिने काफी अंशोंमें ले लिया है। अँग्रेजी शासन-कालमें तर्कवादको जो बल मिला है उससे जितना अनिष्ट हुआ है उससे कहीं ज्यादा श्रद्धा और बुद्धिका संशोधन हुआ है। ऊपरसे विचार करनेपर मालूम होता है कि अँग्रेजी शासन आनेके बाद जो नई शिक्षा और नई शिक्षा-संस्थाओंका प्रादुर्भाव हुआ उससे पुरानी शिक्षा-शैली और संस्थाओंको धक्का लगा। लेकिन अगर बारीकीसे देखा जाय तो प्रतीत होगा कि नई शिक्षा और शिक्षण-संस्थाओंद्वारा ही भारतमें क्रान्तिकारी उपयोगी फेरफार हुए हैं। परदेशी शासनका हेतु परोपकारी था, या अपने स्वार्थी तंत्रको चलानेका था, यह प्रश्न व्यर्थ है। प्रश्न इतना ही है कि विदेशी शासनद्वारा प्रचलित शिक्षा, उसके विषय और उसकी शिक्षणसंस्थाएँ पहलेकी शिक्षाविषयक स्थितिसे प्रगतिशील हैं या नहीं? तटस्थ विचारकका अभिप्राय प्रायः यही होगा कि प्रगतिशील ही है। इस शिक्षासे और विदेशियोंके सहवास तथा विदेश-यात्रासे सामाजिक जीवनमें काफी अन्तर पड़ गया है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। दलितों और अस्पृश्योंको जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें बराबरीका दर्जा देने और उनको ऊँचा उठानेकी भावना प्रत्येक सवर्णमें दिनप्रतिदिन बल पा रही है। उसकी गति सेवाकी दिशामें बढ़ती जा रही है। अँग्रेजी शासनकी स्थापनाके बाद ही सम्पूर्ण देशकी अखंडता और एकरूपताकी कल्पना की जाने लगी है। उसके पहले सांस्कृतिक एकता तो थी लेकिन राजकीय एकता न थी। इसका सूत्रपात ब्रिटिश-शासन-कालमें ही हुआ है। छोटी बड़ी राजसत्ताके लिए आपसमें साँड़ोंके समान लड़ने-वाले जमींदार, ठाकुर और राजामहाराजाओंको अँग्रेजी शासनने ही नकेल डालकर वशमें किया और जनताके जीवनमें शान्ति स्थापित की। ब्रिटिश-शासनने अपनी जड़ोंको मजबूत करनेके लिए इस देशमें जो कुछ किया है यद्यपि उसके अनिष्ट परिणाम भी कम नहीं है तो भी उसने लोकतंत्रका पाठ पढाया है और शिक्षाके दृष्टिबिन्दुको पूरा किया है। उसी प्रकार शिक्षण, व्यापार और प्रवासके लिए बड़े पैमानेपर जल और स्थलकी बाधाओंको दूर किया है। भारत और दूसरे देश जो ज्यादासे ज्यादा नजदीक आ गये हैं।

इसकी तुलनामें दूसरे अनिष्ट नगण्य हो गये हैं। ब्रिटिश-शासनसे प्राप्त यह एक ही लाभ ऐसा है जिसमें स्वतंत्रताके सभी बीजोंका समावेश हो जाता है। इस समय जो हमें स्वतंत्रता मिल रही है, उसके साथ साथ ब्रिटिश शासनमें पैदा हुए इष्ट और अनिष्ट दोनों तत्त्व हमें उत्तराधिकारमें मिल रहे हैं। अब अगस्तकी पन्द्रहवी तारीखके पश्चात् हमारे लिए स्वतंत्रताका क्या अर्थ हो सकता है, इसका विचार करनेका कर्त्तव्य हमारा है न कि अँग्रेजोंका।

ऊपरकी दृष्टिका अनुसरण करते हुए स्वराज्य प्राप्तिके मंगल-दिवसपर स्वतंत्रताका अर्थ संक्षेपमें इस प्रकार किया जा सकता है—(१) इतिहासका वफादार रहकर वर्तमान परिस्थितिका तटस्थ अवलोकन करके भावी मंगल-निर्माणकी दृष्टिसे जो अनेक फेरफार करने पड़ेंगे, उनको पूरा करनेमें पूर्ण उल्लास और रसका अनुभव करना, (२) जीवनके भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें जो बुराइयाँ ओर कमियाँ है उनको दूर करनेमें कटिबद्ध होना, (३) प्रत्येक व्यक्ति या प्रजा अपनी प्राप्त-सिद्धिको सुरक्षित रक्खे और नई सिद्धियोंको प्राप्त करनेकी पूरी पूरी जवाबदारी उठानेकी और उसके लिए जीवन-दान करनेकी भावना पैदा करे।

उपर्युक्त अर्थ हमें ' ईशावास्य ' के मूलमंत्रको मुद्रालेख बनानेके लिए प्रेरित करता है। वह मुद्रालेख यह है कि जो कोई व्यक्ति लम्बे और सुखी जीवन-की इच्छा करता है, उसे आवश्यक सभी कर्त्तव्योंको करना चाहिए। व्यक्ति और समष्टिके मधुर संबंध बनानेके लिए स्वकर्त्तव्यके फलका उपभोग त्यागपूर्वक करना चाहिए और दूसरोंके श्रमफलके लालचसे बचना चाहिए।

' ईशावास्य ' के मंत्रका उक्त सार धर्म, जाति, अधिकार और संपत्तिके स्वामियोंसे स्वराज्यप्राप्तिके इस दिवसपर कहता है कि आप सत्ताके लोभसे अपने हकोंको आगे न रखकर जनताके हितमें अपना हित समझें। अगर इस तरह नहीं होगा तो यह अँग्रेजोंके शासनके समयसे भी ज्यादा भयंकर अराजकता पैदा करनेवाला होगा और हम विदेशी आक्रमणको आमंत्रण कर स्वयं ही गुलाम बन जायेंगे।

' प्रबुद्ध जैन ' १-९-४७ } अनुवादक—
मोहनलाल खारीवाल

त्यागी-संस्था

प्रत्येक समाजमें त्यागी-संस्था

वैदिक, बौद्ध, सिक्ख, पारसी, जैन आदि आर्य जातिके समाज लीजिए, या मुसलमान क्रिश्चियन, कोनफ्युश्यस आदि आर्येतर जातिके समाज लीजिए, या भील, कोली, संथाल आदि जंगली या असंस्कृत जातियोंके समाज लीजिए, सबमे धर्मपंथ है और प्रत्येक धर्मपंथमें किसी न किसी प्रकारकी त्यागी-संस्था भी है; इसलिए मनुष्यजातिके अस्तित्व और विकासके साथ साथ त्यागी-संस्थाका अस्तित्व और विकास भी अनिवार्य है।

सुधार अनिवार्य

त्यागी-संस्था एक विशेष भूमिकाके बाद उदयमें आती है, उसका भरण-पोषण और प्रवृत्ति-कार्य विशेष संयोगोंमें चलता है। कभी कभी ऐसे संयोग भी उपस्थित होते हैं कि उसमे भ्रष्टाचार अधिक प्रमाणमे प्रविष्ट हो जाता है, उपयोगिताकी अपेक्षा अनुपयोगिताका तत्त्व बढ़ जाता है और वह गिलटी या बकरीके गलेके स्तन जैसी अनुपयोगी भी हो जाती है, तब उसमें फिर सुधार शुरू होता है। यदि सुधारक अधिक अनुभवी और दृढ़ होता है तो वह अपने सुधारके द्वारा उस संस्थाको बचा लेता है। इस तरह संस्थाका अस्तित्व और प्रवृत्ति, उसमें विकार और सुधार, क्रमशः चलते रहते हैं। किसी भी समाज और पंथकी त्यागी संस्थाका इतिहास देख लीजिए वह समय समयपर सुधार दाखिल किये जानेपर ही जीवित रह सकी है। बुद्ध या महावीर, जीसस या मुहम्मद, शंकर या दयानंद समय समयपर आते रहते हैं और अपनी अपनी प्रकृति, परिस्थिति और समझके अनुसार परापूर्वसे

चले आनेवाले समाजोंमें सुधारका प्राण फूँकते हैं और तब उनकी त्यागी-संस्थाओंका चक्र आगे चलता है। समय बीतनेपर उस तख्तपर उनके अनुगामी या प्रतिस्पर्धी रूपमें दूसरे पुरुष आते हैं और वे भी अपनी दृष्टिके अनुसार परिवर्तन करके संस्थाओंके कुंठित चक्रोंको वेगवान् और गतिशील बनाते हैं। इसलिए हर एक संस्थाका जीवन टिकाऊ रखनेके लिए सुधार अनिवार्य है। जिसमें सुधार या परिवर्तन नहीं होता, उसका अंतमें नाश या लोप हो जाता है।

जगतमें कभी कभी ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जिनकी समग्र बुद्धि, अखड पुरुषार्थ और अद्भुत लगन किसी तत्त्वकी शोधके पीछे अथवा किसी कर्तव्यके पालनमें लगे रहते हैं। ये व्यक्ति देह-धारण और पोषणके लिए कुछ जरूरी साधनोंका उपयोग करते हैं फिर भी उनकी आतुरता उस शोध और कर्तव्य-पालनकी ओर होनेके कारण उनकी इच्छा और दिलचस्पीका विषय मुख्यतः वह शोध और वह कर्तव्य ही बन जाता है; और प्रत्यक्ष रूपसे दूसरे साधारण मनुष्योंकी तरह साधनोंका उपयोग करनेपर भी उनकी इच्छा और रसवृत्ति उस उपयोगकी ओर नाम मात्र ही होती है। इन व्यक्तियोंका संपूर्ण लक्ष्य और इच्छा-बल साध्यमें ही लगा रहता है, इसलिए उनका उपभोग कमसे कम, केवल साधन जितना, और किसीको भाररूप या बाधक न हो उतना ही, होता है। उच्च और विशाल ध्येयकी साधना और रसवृत्तिके कारण ऐसे व्यक्तियोंमें विकार, अभिमान, संकुचितता आदि दोष स्थान नहीं पा सकते। इसीलिए ऐसे व्यक्तियोंका जीवन स्वाभाविक रूपसे त्याग-मय होता है। ऐसी एकाध विभूतिके कहीं प्रकट होते ही तुरन्त उसके त्यागकी शीतल छायाका आश्रय प्राप्त करनेके लिए भोग-संतप्त प्राणी उसके आसपास इकट्ठे हो जाते हैं और थोड़े बहुत अंशोंमें उसकी साधनाकी उम्मेदवारी करनेके लिए भीतर या बाहरसे थोड़ा बहुत त्याग स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह काल-क्रममें एक व्यक्तिके विशिष्ट त्यागके प्रभावसे एकत्र हुए जनसमूहसे एक संस्थाका निर्माण होता है। इसलिए त्यागी-संस्थाके आविर्भावका मूल बीज तो किसी महाविभूतिके त्यागमें ही रहता है।

त्यागी-संस्थाका बीज

जब किसी भी संस्थामें एकसे अधिक व्यक्ति हो जाते हैं तब उसको अपना पालन-पोषण तो करना ही पड़ता है। परन्तु संस्थाके पास प्रारंभमें सामान्य तौरसे

कोई संपत्ति या निश्चित आमदनी नहीं होती, इसलिए उसका पालन-पोषण केवल उसकी प्रतिष्ठासे होता है और प्रतिष्ठा सद्गुणों और जनसमाजके लिए उपयोगी गुणोंपर अवलंबित है। सद्गुणोंकी ख्याति और लोकजीवनके लिए उपयोगी होनेका विश्वास जितने अंशमें अधिक उतने ही अंशमें उसकी प्रतिष्ठा अधिक और जितने अंशमें प्रतिष्ठा अधिक होती है उतने ही अंशमें वह लोगोंकी दान-वृत्तिको अधिक जाग्रत कर सकती है। पालन-पोषणका आधार मुख्य रूपसे प्रतिष्ठा और प्रतिष्ठाजनित लोगोंकी दानवृत्ति है, इसलिए संस्थाको कुछ नियमोंका कर्तव्य रूपसे पालन करना पड़ता है। पर उन व्रत-नियमोंका पालन करते करते धीरे धीरे वह संस्था नियमोंका एक यंत्र बन जाती है।

गुण और दोष

त्यागी-संस्थामें यदि किसी परिवर्तनका विचार करना हो, तो उसके गुण और दोष तटस्थ रीतिसे देखने चाहिए। उसका सबसे पहला और मुख्य गुण यह है कि वह जिस मूल प्रवर्तक पुरुषके कारण खड़ी होती है, उसके उपदेश, ज्ञान और जीवन रहस्यकी सुरक्षा करती है। केवल रक्षा ही नहीं, उसके द्वारा उक्त उपदेश आदिमें गंभीरताका विकास होता है और टीका-विवेचनद्वारा एक विशाल और मार्मिक साहित्यका निर्माण होता है। परन्तु साथ ही उसमें एक दोष भी प्रविष्ट होता जाता है और वह है स्वतंत्र बुद्धि और स्वतंत्र पुरुषार्थकी कमी। संस्थाके निर्माणके साथ ही उसका एक विधान भी बन जाता है। इस विधानके वर्तुलमें जाने अनजाने जिस नियम-चक्रकी अधीनतामें रहना पड़ता है उसमें निर्भयताका गुण प्रायः दब जाता है और विचार, वाणी तथा वर्तनमें भयका तत्त्व प्रविष्ट होता है। इससे उसके बुद्धिशाली और पुरुषार्थी सभ्य भी अक्सर संस्थाका अंग होनेके कारण अपनी स्वतंत्र बुद्धि और स्वतंत्र पुरुषार्थका विकास नहीं कर सकते। उन्हें बाध्य होकर मूलपुरुषके नियत मार्गपर चलना पड़ता है, इसलिए वे बहुत बार अपनी बुद्धि और पुरुषार्थके द्वारा स्वतंत्र सत्यकी शोध करनेमें निष्फल होते हैं। जहाँ संकोच और भय है, वहाँ स्वतंत्र बुद्धि और स्वतंत्र पुरुषार्थके विकास होनेकी संभावना ही नहीं। यदि कोई वैज्ञानिक संकुचित और भयशील वातावरणमें रहता है, तो वह अपनी स्वतंत्र बुद्धि और पुरुषार्थका यथेष्ट उपयोग नहीं कर सकता। इसलिए शक्तिशाली सभ्य भी त्यागी संस्थामें विचार और ज्ञानविषयक कुछ हिस्सा भले ही अदा कर दें,

मूल पुरुषके साहित्यमें भी कुछ वृद्धि कर दें, परन्तु कोई स्वतंत्र शोध, मूल पुरुषके मार्ग और संस्थाके वर्तुलसे भिन्न, कर ही नहीं सकते। हम किसी भी संस्थाका इतिहास देखे तो मालूम होगा, कि उसमें जो प्रखर व्याख्याकार और टीकाकार हुए हैं, उन्होंने अपनी टीकाओं और व्याख्याओंमें मूल ग्रन्थकी निर्भय समालोचना शायद ही की है।

त्यागी संस्थाका दूसरा गुण यह है, कि वह लोगोंको मूलपुरुष और उसके अनुगामी अन्य विशिष्ट पुरुषोंकी महत्ताका भान कराती है। लोगोंको ऐसे पुरुषोंका विशेष परिचय मुख्य रूपसे उनकी संस्थाके सभ्योंके द्वारा ही मिलता है। यह एक महान् गुण है, पर इसके साथ ही साथ एक महान् दोष भी प्रविष्ट हो जाता है और वह है अभिमान। अक्सर ये संस्थायें मूल पुरुप और उसके अनुगामी दूसरे विशिष्ट पुरुषोंका महत्त्व देखने, विचारने और कहनेमें इतनी अधिक तल्लीन हो जाती हैं कि उनके विचारचक्षु दूसरे पड़ोसी महान् पुरुषोंकी महत्ताकी ओर शायद ही जा पाते हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि इन त्यागी संस्थाओंके बुद्धिशाली गिने जानेवाले सभ्य भी दूसरी संस्थाओंके मूल उत्पादकोंके विषयमें अथवा अन्य विशिष्ट पुरुषोंके विषयमें कुछ भी नहीं जानते, और यदि कुछ जानते हैं तो इतना ही कि हमारे मान्य और अभीष्ट पुरुषोंके सिवाय बाकीके सब अधूरे और त्रुटिपूर्ण हैं। उनमें उदारतासे देखने और निर्भय परीक्षा करनेकी शक्ति शायद ही रह जाती है। इस वातावरणमें एक तरहके अभिमानका पोषण होता है, इसलिए उनकी अपनी संस्थाके सिवाय दूसरी किसी भी संस्थाके असाधारण पुरुषोंकी ओर मान और आदरकी दृष्टिसे देखनेकी वृत्ति उनमें शायद ही रहती है। हजरत ईसाका अनुगामी कृष्णमें और बुद्धका अनुगामी महावीरमें विशेषता देखनेकी वृत्ति खो बैठता है। यही अभिमान आगे बढ़कर दो त्यागी संस्थाओंके बीच भेद खड़ा कर देता है और एक दूसरेके बीच तिरस्कार और दोषदर्शनकी बुद्धि जाग्रत करता है; परिणामस्वरूप कोई भी दो संस्थाओंके सभ्य परस्पर सच्ची एकता सिद्ध नहीं कर सकते। ऐसी एकता साधनेके लिए उन्हें अपनी अपनी संस्था छोड़नेके लिए बाध्य होना पड़ता है। यह मिथ्या अभिमान विभिन्न संस्थाओंके सभ्योंके बीच अंतर खड़ा करके ही शान्त नहीं रह जाता, बल्कि और आगे बढ़ता है। और फिर एक ही संस्थाके अनुगामी मुख्य मुख्य आचार्यो

और उपदेशकोंके बीच भी छोटे-बड़ेकी भावना पैदा करता है, फलस्वरूप एक आचार्य या एक विद्वान् अपनी ही संस्थाके दूसरे आचार्य या दूसरे विद्वान्के साथ बिलकुल निश्छल भाव या स्वतन्त्रतासे हिलमिल नहीं सकता। इस तरह प्रारंभमें भिन्न भिन्न संस्थाओंके बीच मेल करनेमें मिथ्या अभिमान सामने आता है और बादमें क्रमशः एक ही संस्थाके शक्तिशाली मुखियोंके बीच भी सधान नहीं रह सकता, उनमेंसे विनय और नम्रता जैसी वस्तु ही लगभग चली जाती है। जब एक जैन आचार्य दूसरे जैन आचार्यके ही साथ एकरस नहीं हो सकता, तब शंकराचार्य, बौद्ध आचार्य, या किसी पादरी, या मौलवीके साथ किस तरह हो सकेगा? इस अंतरका कारण ढूँढनेपर हम साम्प्रदायिकताकी संकुचित भावनाके प्रदेशमें जा पहुँचते हैं।

त्यागी-संस्थाका तीसरा गुण उसके सभ्योंमें त्यागका विकास करना, लोगोंमें दानवृत्ति जगाना या विकास करना बतलाया जाता है। संस्थाके सभ्यके लिए संचय करने जैसी कोई वस्तु नहीं होती, उन्हें ब्याहका बंधन भी नहीं होता, इसलिए उनमें संतोष और त्यागकी वृत्ति इच्छा या अनिच्छासे सुरक्षित रहती और विकसित होती है। इसी तरह इस संस्थाके निर्वाहकी चिन्ता लोगोंमें दानवृत्ति प्रकट करती और उसका विकास करती है। इसलिए ऐसी संस्थाओंसे विशिष्ट व्यक्तियोंमें त्यागका और साधारण लोगोंमें दानवृत्तिका पोषण होता है। इस तरह इस संस्थासे दोहरा लाभ है। पर सूक्ष्मतासे विचार करनेपर इस लाभके पीछे महान् दोष भी छुपा रहता है। वह दोष है आलस, कृत्रिम जीवन और पराश्रय। त्यागी-संस्थाके सब नियम त्याग-लक्षी होते हैं। नियमोंको स्वीकार करनेवाला कोई भी व्यक्ति संस्थामें प्रविष्ट हो सकता है। पर सभी प्रविष्ट होनेवाले सच्चे त्यागी बनकर नहीं आते। उन्हें त्याग तो पसंद होता है, परन्तु प्रारंभमें तैयार सुविधा मिलनेसे, उस सुविधाके लिए किसी तरहका शारीरिक परिश्रम न होनेसे और मनुष्य-स्वभावकी दुर्बलतासे धीरे धीरे वह आभ्यंतरिक त्याग खो जाता है। एक ओर बाध्य होकर अनिच्छापूर्वक त्यागलक्षी दिखनेवाले नियमोंके वशवर्ती होना पड़ता है और दूसरी ओर तैयार मिलनेवाली सुविधासे आलसका पोषण होनेके कारण दूसरोंकी दानवृत्तिके ऊपर अपनी भोगवृत्ति संतुष्ट करनी पड़ती है। इस तरह एक ओर सच्चे त्यागके बिना त्यागी दिखानेका प्रयत्न करना पड़ता है और दूसरी ओर

शरीर-श्रमसे प्राप्त किये हुए साधनोंके बिना ही भोगवृत्ति संतुष्ट करनी पड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि त्यागी-संस्थाके सभ्यका जीवन कृत्रिम और बेडौल हो जाता है। वे कर्म-प्रवृत्ति और परिश्रमका त्याग करके त्यागी कहलाते हैं; परन्तु दूसरोंके कर्म, दूसरोंकी प्रवृत्ति और दूसरोंके परिश्रमका त्याग बिलकुल नहीं कर सकते। ऐसी स्थितिमें उन्हें लोगोंकी दानवृत्ति बहुत जगानी पड़ती है। दानके लाभ और यशोगानसे परिपूर्ण एक विपुल साहित्यका निर्माण होता है। इसके कारण अशोक और हर्षवर्धन जैसे राजा अपने भण्डार खाली करते हैं और मठों, विहारों और चैत्योंमें प्रचुर आमदनीका प्रवाह जारी रखनेके लिए धनिक दाताओंकी ओरसे दानपत्र उत्कीर्ण किये जाते हैं। जैसे जैसे दानकी महिमा बढ़ती है वैसे वैसे दाता भी बढते हैं और त्यागी-संस्थाका विस्तार भी होता है। जैसे जैसे विस्तार होता है वैसे वैसे आलस और पराश्रय बढ़ता है। इस तरह एक बड़े वर्गको समग्र रूपसे दूसरे वर्गके ऊपर निभना पड़ता है। सूक्ष्मतासे देखने और विचार करनेपर मालूम होता है कि त्यागी गिने जानेवालोंकी आवश्यकताएँ भोगी वर्गकी अपेक्षा शायद ही कम हों। बहुतसे उदाहरणोंमें तो उलटी अधिक होती हैं। एक वर्ग यदि अपने भोगोंमें जरा भी कमी नहीं करता है और उन्हें प्राप्त करनेके लिए स्वयं श्रम भी नहीं करता है, तो स्वाभाविक रूपसे उसका भार दूसरे श्रमजीवी वर्गपर पड़ता है। इसलिए जितने परिमाणमें एक वर्ग आलसी और स्वश्रमहीन होता है, उतने ही परिमाणमें दूसरे वर्गपर श्रमका भार बढ़ जाता है। दानवृत्तिपर निभनेसे जिस प्रकार आलसका प्रवेश होता है और त्यागकी ओटमें भोग पोषा जाता है, उसी तरह एक भारी क्षुद्रता भी आती है। जब एक त्यागी दानकी महत्ताका वर्णन करता है तब वह सीधे या घुमा फिराकर लोगोंके दिलमें यह ठसानेका प्रयत्न करता है कि उसकी संस्था ही विशेष दानपात्र है और अक्सर वह क्षुद्रता इस सीमा तक पहुँच जाती है, कि उसकी युक्तियोंके अनुसार उसे छोड़कर दूसरे किसी व्यक्तिको दान देनेसे परिपूर्ण फल नहीं मिलता। इस तरह इन संस्थाओंके द्वारा त्याग और दानवृत्तिके बदले वस्तुतः अकर्मण्यता, क्षुद्रता और लोभ-लालचका पोषण होता है।

त्यागी जीवनमें कमाने और उड़ानेकी चिंता न होनेसे वह किसी भी क्षेत्रमें, किसी भी समय, किसी भी तरहकी लोकसेवाके लिए स्वतन्त्र रह सकता है।

इसके सिवाय उसके पास ज्ञान और शिक्षाके किसी भी प्रदेशमें काम करने लायक शक्ति व्यर्थ पड़ी रहती है। उसे अपने जीवनमें सद्‌गुणोंका विकास करने और लोगोंमें उन्हें प्रविष्ट करानेकी भी पूरी सरलता होती है। इसे त्यागी संस्थाका एक बड़ेसे बड़ा गुण गिना जा सकता है। परंतु त्यागीके जीवनमें एक ऐसी चीज दाखिल हो जाती है कि जिसके कारण इन गुणोंके विकासकी बात तो एक ओर धरी रह जाती है, उसकी जगह कई महान् दोष आ जाते हैं। वह चीज है अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन। सामान्य रूपसे तो त्यागी कहे और माने जानेवाले सभी व्यक्ति अनुत्तरदायी होते हैं। बहुत बार ऐसा आभास तो होता है कि ये लोग जिस संस्थाके अंग होते हैं उसके प्रति अथवा गुरु आदि वृद्धजनोंके प्रति उत्तरदायी होते हैं परन्तु कुछ गहरे उतर कर देखनेपर स्पष्ट मालूम होता है कि उनका यह उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन नाम मात्रको ही होता है। उनका न तो ज्ञानप्रेरित उत्तर-दायित्वपूर्ण जीवन होता है और न मोहप्रेरित। यदि कोई गृहस्थ समय-पर काम नहीं करता है, धरोहर रखनेवाले या सहायता पहुँचानेवालेको उचित जवाब नहीं देता है, या किसीके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता है तो उसकी न तो शाख बँधती है, न निर्वाह होता है, न रुपये मिलते हैं और न उसे कोई कन्या ही देता है। परन्तु त्यागी तो निर्मोही कहलाते हैं, इसलिए वे ऐसी मोहजनित जिम्मेदारी अपने सिरपर लेनेके लिए क्यों तैयार हों? अब बची ज्ञानप्रेरित जिम्मेदारी, सो ये त्यागी अपना जितना समय बर्बाद करते हैं, जितनी शक्ति व्यर्थ खोते हैं और भक्तों तथा अनुगामियोंकी ओरसे प्राप्त सुविधाको जितना नष्ट करते हैं, वह ज्ञानप्रेरित जिम्मेदारी होने पर जरा भी संभव नहीं है। जिसमें ज्ञानप्रेरित जिम्मेदारी होती है वह एक भी क्षण व्यर्थ नहीं खो सकता, अपनी थोड़ी सी भी शक्तिके उपयोगको विरुद्ध दिशामें जाते सहन नहीं कर सकता और किसी दूसरेके द्वारा प्राप्त हुई सुविधाका उपयोग तो उसे चिंताग्रस्त कर देता है। परंतु हम त्यागी-संस्थामें यह वस्तु सामान्य रूपसे नहीं देख सकते। अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवनके कारण उनमें अनाचारका एक महान् दोष प्रविष्ट हो जाता है। सौ गृहस्थ और सौ त्यागियोंका आन्तरिक जीवन देखा जाय, तो गृहस्थोंकी अपेक्षा त्यागियोंके जीवनमें ही अधिक भ्रष्टाचार मिलेगा। गृहस्थोंमें तो अनाचार परिमित होता है, परन्तु त्यागियोंमें अपरिमित है।

वे रमते राम होते हैं और जहाँ तहाँ अपने आचरणकी छूत लगाते फिरते हैं। इसलिए लोगोंमें उनके द्वारा सद्गुणोंके बदले दोषोंका ही पोषण होता है। त्यागी संस्थाको अपना निर्वाह करनेके लिए लोकश्रद्धापर ही आश्रित रहना पड़ता है और उसके ठोस न होनेके कारण लोगोंको जाने अनजाने वहम, और अन्धश्रद्धाका पोषण करनेके लिए बाध्य होना पड़ता है। इस तरह इस निश्चिन्त और वे जिम्मेदार जीवनमें दोषोंकी परंपरा चलती रहती है।

उपाय

त्यागी संस्थामें गुणोंका प्रमाण कम होनेपर भी यदि दोष दूर किये जा सकते हैं और गुणोंका प्रमाण बढाया जा सकता है, तो बिल्कुल नष्ट करनेकी अपेक्षा उसमे योग्य परिवर्तन करना ठीक होगा। अब यह देखना चाहिए कि यह सब कैसे हो सकता है? मनुष्य अपने अनुभव और बुद्धिके अनुसार ही रास्ता बता सकता है और यदि उसकी अपेक्षा कोई अच्छा रास्ता अनुभवमें आ जाय अथवा उसे कोई बतलानेवाला मिल जाय, तो उस रास्तेपर जमकर बैठ रहनेका आग्रह भी नहीं रखता। अब तो इसका परिवर्तन सेवक-संस्थामे होना चाहिए। त्यागका असली अर्थ विस्मृत हो जाने और त्यागीको मिलनेवाली सुविधामें उसका स्थान दब जानेके कारण, जब कोई त्यागी भक्तोंमें, लोगोंमें, समाजमे या किसी स्थलपर जाता है, तब वह अपनेको सबका गुरु मान कर आदर-सत्कार और मान-प्रतिष्ठाकी आकांक्षा रखता है। यह आकांक्षा उसे घमंडी बना देती है और राजगद्दीके वारिस राजकुमारकी तरह उसे साधारण लोगोंसे नम्रतापूर्वक मिलनेसे रोकती है। इसलिए हर एक त्यागी-संस्थाको अब सेवक-संस्था बन जाना चाहिए, जिसका हर एक सभ्य अपनेको त्यागी नहीं, सेवक समझे और दूसरोंके दिलमें भी यह भावना ठसा दे। लोग भी उसे सेवक ही समझें, गुरु नहीं। अपनेको सेवक माननेपर और अपने व्यवहारके द्वारा भी दूसरोंके सामने सेवक रूपसे हाजिर होनेपर अभिमानका भाव अपने आप नष्ट हो जाता है, तथा लोगोंके कंधों या सिरपर चढ़नेका प्रश्न न रहनेसे भोगका परिमाण भी अपने आप कम हो जाता है और परिमाणके कम होनेपर दूसरे अनेक दोष बढ़ते हुए रुक जाते हैं। इस बातमें कोई तथ्य नहीं कि स्वश्रमसे निर्वाहयोग्य अर्जन करनेसे समयाभावके कारण कम सेवा होगी। हिसाब लगाकर देखनेपर स्वश्रमसे दूसरोंकी अधिक ही सेवा होगी। अपना

भार दूसरोंपर नहीं लादना, यह कुछ कम सेवा नहीं है। सेवककी आवश्यकता दूसरोंकी अपेक्षा कम होती है, उसे निर्वाहयोग्य अर्जन करनेमें अपना सारा समय नहीं लगाना पड़ता, इसलिए उसके लिए बचा हुआ थोड़ा-सा समय भी अधिक कीमती होता है, और इसे कोई बिलकुल छोटी सेवा नहीं कह सकता कि उनके द्वारा लोगोंको जातमेहनत (स्वावलम्बन) और सादगीका पदार्थ-पाठ मिलता है। इसलिए त्यागी-संस्थाका सारा परिवर्तन स्वश्रमसे निर्वाह करनेकी नींवपर होना चाहिए। त्यागी होनेकी योग्यताकी पहली शर्त स्वश्रम ही होना चाहिए, न कि दानवृत्तिपर निभना। और अपनेको सेवक रूपसे पहचान करानेमे उसे किसी सकोच या लज्जाका अनुभव न करना चाहिए।

परिवर्तनकी नींव

त्यागी-संस्थाको केवल सेवक-संस्था नाम दे देनेसे अधिक परिवर्तन नहीं हो सकता और थोडा बहुत परिवर्तन हो जानेपर भी उसमे दोषोंका आना नहीं रुक सकता। इसके लिए तो तत्त्वमें ही परिवर्तन होना चाहिए। आज लगभग सभी त्यागी-संस्थाएँ सच्चे उत्तरदायित्वसे रहित हैं और उसके कारण ही वे व्यर्थ अथवा हानिकर हो गई हैं। इसलिए उसमें सेवक नामके साथ उत्तर-दायित्वका तत्त्व भी प्रविष्ट होना चाहिए और यह स्वश्रमसे निर्वाह करनेका उत्तरदायित्व जहाँ जीवनमें प्रविष्ट हुआ वहाँ दूसरोंकी सुविधाका उपभोग करनेके बदले आवश्यकता पड़ने पर लोगोंकी पगचपी तक करनेका अपने आप मन हो जायगा और लोग भी उसके पाससे ऐसी सेवा स्वीकार करते समय हिचकिचाहटका अनुभव नहीं करेंगे। त्यागका अर्थ समझा जाता है घर-कुटुंबादि छोड़कर अलग हो जाना। इतना करते ही वह अपनेको त्यागी मान लेता है और दूसरे भी उसे त्यागी समझ बैठते हैं। परंतु त्यागके पीछे सच्चा कर्तव्य क्या है इसे न तो वह खुद देखता है और न लोग देखते हैं, जब कि सेवामें इससे उलटा है। सेवाका अर्थ किसीका त्याग नहीं किन्तु सबके संबन्धकी रक्षा करना और इस रक्षामें दूसरोंकी शक्ति और सुविधाका उपयोग करनेकी अपेक्षा अपनी ही शक्ति, चतुराई और सुविधाका दूसरोंके लिए उपयोग करना है। सेवा किये बिना सेवक कहलानेसे लोग उससे जवाब तलब करेंगे, इसलिए वहाँ अधिक पोल नहीं चल सकेगी।

सेवक संस्थाका विधान

(१) सेवक-संस्थामें प्रविष्ट होनेवाला सभ्य——स्त्री या पुरुष विवाहित हो या अविवाहित—उसे ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताना चाहिए।

(२) हर एक सभ्यको अपनी आवश्यकतानुसार स्वश्रमसे ही पैदा करने वाला और स्वश्रम करनेके लिए तैयार होना चाहिए।

(३) हर एक सभ्यको अपने समय और काम-काजके विषयमें संस्थाके व्यवस्थापक-मण्डलकी अधीनतामें रहना चाहिए। वह अपने प्रत्येक क्षणका हिसाब इस मडलके सामने रखनेके लिए बँधा हुआ होना चाहिए।

(४) कमसे कम दिनके दस घंटे काम करनेके लिए बँधे हुए होना चाहिए, जिनमें कि उसके निर्वाहयोग्य स्वश्रमका समावेश होता है।

(५) रुचि, शक्ति और परिस्थिति देखकर कार्यवाहक मंडल उसे जिस कामके लिए पसंद करे, उसीको पूरा करनेके लिए तैयार रहना चाहिए।

(६) वह अपने किसी भी मित्र, भक्त या स्नेहीकी किसी भी तरहकी भेट खुद नहीं ले, यदि कुछ मिले तो उसे कार्यवाहक मंडलको सौंपनेके लिए प्रतिज्ञाबद्ध रहे और बीमारी या लाचारीके समय मंडल उसका निर्वाह करे।

(७) जब त्याग और अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करनेकी वृत्ति कम हो जाय तब वह कार्यवाहक मंडलसे छुट्टी लेकर अलग हो सके, फिर भी जब तक उसका नैतिक जीवन बराबर हो तब तक उसकी त्यागी और सेवकके समान ही प्रतिष्ठा की जाय।

(८) जो सभ्य क्लेश और कलह करता हो वह खुद ही संस्थासे अलग हो जाय, नहीं तो मंडलकी सूचनानुसार वह मुक्त होनेके लिए बँधा हुआ है।

(९) कोई भी संस्था अपनेको ऊँची और दूसरीको नीची या हलकी न कहे; सब अपनी अपनी समझ और रीतिके अनुसार काम करते जायँ और दूसरोंकी ओर आदर-वृत्तिका विकास करें।

(१०) समय समयपर एक संस्थाके सभ्य दूसरी संस्थामें जायँ और वहाँके विशिष्ट अनुभवोंका लाभ लेकर उन्हें अपनी संस्थामे दाखिल करे। इस तरह भिन्न भिन्न संस्थाओंके बीच भेदके तत्वका प्रवेश रोककर एक दूसरेके अधिक निकट आ जावें।

एकान्त त्यागकी रक्षा

अभी तक जो कुछ विचार किया गया है वह त्यागको सक्रिय सेवायुक्त अथवा त्यागी-संस्थाको विशेष उपयोगी बनानेके लिए। परंतु यहाँपर प्रश्न होता है कि जिस त्यागमें प्रत्यक्ष सेवाका समावेश तो नहीं होता, फिर भी वह सच्चा होता है उस एकान्त त्यागकी रक्षा शक्य है या नहीं? और यदि शक्य है तो किस तरह? क्यो कि जब सब त्यागियोंके लिए सेवाका विधान अनिवार्य हो जाता है तब हर एक त्यागीके लिए लोकसमुदायमें रहने और उसमें हिलने-मिलने तथा अपनेपर कामकी जिम्मेदारी लेनेकी अवश्यकता हो जाती है। ऐसा होनेपर एकान्त त्याग जैसी वस्तुके लिए आवकाश ही कहाँ रहता है? यह तो नहीं कहा जा सकता कि ऐसे त्यागकी जरूरत ही क्या है? क्योंकि यदि किसीमें सचमुचका त्याग होता है और उस त्यागके द्वारा वह व्यक्ति किसी शोधमें लगा होता है, तो क्या उस त्यागके द्वारा किसी महान् परिणामके आनेकी सभावना है? उत्तर इतना ही है कि मनुष्य-जातिको ऐसे एकान्त त्यागकी भी जरूरत है और इस त्यागकी रक्षा भी शक्य है। ऐसे त्यागको ऊपरके विधानोंसे तथा व्यवस्थाके नियमोंसे कुछ भी बाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि संस्थामें रहनेवाले सभ्योंके त्यागमें और ऐसे त्यागमें महान् अंतर होता है। एकान्त त्यागमें ज्ञानप्रेरित उत्तर-दायित्व होनेसे उसमें दोपके लिए बिलकुल अवकाश नही है और यदि भूल चूकसे किसी दोपकी संभावना हो भी, तो उसके लिए किसीकी अपेक्षा अधिक सावधानी तो उस त्यागको स्वीकार करनेवालेकी होती है। इसलिए ऐसे एकान्त त्यागको बाह्य नियमनकी कुछ जरूरत नहीं रहती। उलटा ऐसा त्याग धारण करनेवाला चाहे वह बुद्ध हो या महावीर, मनुष्य-जाति और प्राणी-मात्रके कल्याणकी शोधके पीछे निरंतर लगा रहता है। उसको अपनी साधनामें लोकाश्रयकी अपेक्षा जंगलका आश्रय ही अधिक सहायक सिद्ध होता है और साधनाके समाप्त होते ही वह उसका परिणाम लोगोंके समक्ष रखनेके लिए तत्पर होता है। इसलिए जो एकान्त त्यागकी शक्ति रखते हैं उनके लिए तो उनका अन्तरात्मा ही सबसे बड़ा नियन्ता है। इसलिए इस परिवर्तन और इस विधानके नियमोंके कारण ऐसे एकान्त त्याग और उसके परिणामको किसी भी तरहकी बाधा नहीं पहुँचती। साधारण आदमी जो कि एकान्त त्याग और पूर्ण त्यागका

स्वरूप नहीं समझते और अपने ऊपर किसी भी तरहका नियंत्रण आनेपर असंतुष्ट होते हैं, अनेक बार तर्क करते हैं कि यदि स्वश्रम और दूसरे अनेक जिम्मेदारीके नियमन लादे जायँगे, तो बुद्ध और महावीर जैसे त्यागी किस तरह होंगे और जगतको कौन अपनी महान् शोधकी विरासत सौंपेगा? उन्हें समझना चाहिए कि आजकलका जगत् हजारों वर्ष पहलेका जगत् नहीं है। आजका संसार अनेक तरहके अनुभव प्राप्त कर चुका है, उसने अपनी शोधके बाद यह भली भाँति देख लिया है कि जीवनकी शुद्धि और ज्ञानकी शोध करनेमें स्वश्रम या जिम्मेदारीके बंधन बाधक नहीं होते। यदि वे बाधक होते तो इस जगतमें जो सैकड़ो अद्भुत वैज्ञानिक और शोधक हुए हैं, और गाँधीजी जैसे नररत्न हुए हैं, वे कभी न होते। एकान्त त्यागीको संस्थाकी सुविधा अथवा लोगोंकी सेवा लेनेकी भी भूख या तृष्णा नहीं होती। वह तो आप-बल और सर्वस्व त्यागके ऊपर ही जूझता है। इसलिए यदि ऐसा कोई विरल व्यक्ति होगा तो वह अपने आप ही अपना मार्ग ढूँढ लेगा। उसके लिए किसी भी तरहका विधान या नियम व्यर्थ है। वैसा आदमी तो स्वयं ही नियमरूप होता है। अनेक बार उसे दूसरोंका मार्गदर्शन, दूसरोंकी मदद और दूसरोंका नियमन असह्य हो जाता है। जैसे उसके लिए बाह्य नियंत्रण बाधक होता है, उसी तरह साधारण कोटिके त्यागी उम्मेदवारोंको बाह्य नियंत्रण और मार्गदर्शनका अभाव बाधक होता है। इसलिए इन दोनोंके मार्ग भिन्न हैं। एकके लिए जो साधक है वही दूसरेके लिए बाधक। इसलिए प्रस्तुत विचार केवल लोकाश्रित त्यागी-संस्था तक ही सीमित है।

जैन त्यागी-संस्था और स्वश्रम

दूसरी किसी भी त्यागी संस्थाकी अपेक्षा जैन-त्यागी-संस्था अपनेको अधिक त्यागी और उन्नत मानती है और दूसरे भी ऐसा ही समझते हैं। इसलिए उसे ही सबसे पहले और सबसे अधिक यह स्वश्रमका सिद्धान्त अपनाना चाहिए। यह प्रस्ताव और यह विचार अनेकोंको केवल आश्चर्यान्वित ही नहीं करेगा, उनके हृदयमें क्रोध और आवेश भी उत्पन्न कर सकता है। क्योंकि परंपरासे उन्हें इस भावनाकी विरासत मिली है और वे प्रामाणिक रूपसे यह मानते हैं कि जैन साधु दुनियासे पर है, उसका केवल आध्यात्मिक जीवन है, और सारे ही

काम-काज और उद्योग बंधनकारक होनेसे उसके लिए त्याज्य हैं। इसलिए जैन साधुपर स्वश्रमका सिद्धान्त किस तरह लागू हो सकता है ? सिद्धान्तके लागू करने पर उसका आध्यात्मिक जीवन, उसका संसारत्याग, और उसका निर्लेपत्व किस तरह सुरक्षित रह सकता है ? ऐसी शंका होना सहज है। परन्तु प्राचीन जैन-परंपरा, जैन त्यागका मर्म, जैन शास्त्र, जैन इतिहास तथा आधुनिक देशकालके संयोग और साधु समाजकी स्थितिपर विचार करनेके बाद मुझे स्पष्ट लगता है कि स्वश्रमका तत्त्व ऊपर ऊपरसे देखनेपर भले ही विरुद्ध लगता हो, फिर भी तत्त्व दृष्टिसे उसका जैन-त्याग और जैन-सिद्धान्तके साथ संपूर्ण रूपसे मेल बैठ जाता है।

क्या कोई यह दावा कर सकता है कि आजकलका जैन साधु-समाज आध्यात्मिक है ? यदि वह आध्यात्मिक है, तो क्या इस समाजमें दूसरे समाजोंकी अपेक्षा अधिक क्लेश, कलह, पक्षापक्षी, तुच्छता, अभिमान, स्वार्थ और डरपोकपन, इत्यादि दोष निभ सकते ? क्या कोई यह सिद्ध करनेका साहस करता है कि आजकलका जैन साधु देशकालको जाननेवाला और व्यवहारकुशल है ? यदि ऐसा है तो हजारोंकी संख्यामें साधुओंके होनेपर भी जैनसमाज पिछड़ा हुआ क्यों है ? और स्वयं साधु लोग एक तुच्छ व्यक्तिकी तरह सिर्फ भलोंकी दयापर क्यों जीवित है ? इतने बड़े साधु-समाजको रखनेवाला और उसका भक्तिपूर्वक पालन पोषण करनेवाला जैन समाज संगठन या आरोग्य, साहित्यप्रचार या साहित्यरक्षा, शिक्षण या उद्योग, सामाजिक सुधार या राजनीति आदि बातोंमें सबसे पीछे क्यों है ? सच तो यह है कि जैन साधु अपनेको त्यागी समझता है और कहता है, लोग भी उसे त्यागी रूपसे ही पहचानते हैं परन्तु उसका त्याग सिर्फ कर्म-क्रिया और स्वश्रमका त्याग है, उसके फल अर्थात् भोगका त्याग नहीं। वह जितने अंशमे स्वश्रम नहीं करता, उतने ही अंशमें दूसरोंकी मेहनत और दूसरोंकी सेवाका अधिकाधिक भोग करता है। वह यदि त्यागी है तो सिर्फ परिश्रम-त्यागी है, भोग या फलका त्यागी नहीं। फिर भी जैन साधु अपनेको भोगी नहीं मानता है, दूसरे लोग भी नहीं मानते। क्योंकि लोग समझते हैं कि यह तो अपना घर-बार और उद्योग-धंधा छोड़कर बैठा है। इस दृष्टिसे

यदि आप इसे त्यागी कहना चाहें भोगी नहीं, तो इसमें मेरा विरोध नहीं है? परन्तु जो स्वश्रमका त्याग करता है और दूसरेके श्रमका फल अंगीकार किये बिना क्षण मात्र भी जीवित नहीं रह सकता अथवा जिस एकके जीवनके लिए दूसरे अनेकोंको अनिवार्य रूपसे परिश्रम करना पड़ता है, उसे त्यागी कहना चाहिए या सबसे अधिक भोगी ?

भगवानका त्याग कर्म मात्रका त्याग था। साथ ही साथ उसमें फलका और दूसरोंकी सेवाका भी त्याग था। भगवानका वह त्याग आज यदि संभव नहीं है, तो उसे अनुसरण करनेका मार्ग भी अब भिन्न बनाये बिना काम नहीं चल सकता। आजकलका दिगम्बरत्व प्रासादों और भवनोंमें प्रतिष्ठा पा रहा है। परन्तु भगवानकी नग्नत्व जंगलमें पैदा हुआ और वहाँ ही शोभित हुआ। उन्हें आजकलके साधुओंकी तरह दिनमे तीन बार खानेकी और तैल मर्दन करानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। पर आजकल स्थिति इतनी अधिक बदल गई है कि जैन साधु-संस्था आध्यात्मिक क्षेत्रसे बिलकुल ही अलग हो गई है, यहाँ तक कि व्यवहार-कुशलताकी भूमिकापर भी स्थित नहीं है; वह तो केवल आर्थिक स्पर्धाके क्षेत्रमे स्थित है। भगवानका सिद्धान्त है कि हम जैसे अन्तरमे हों वैसे ही बाहरसे दिखाई दें। यदि जीवनमें त्याग हो, तो त्यागी कहलाना और भोगवृत्ति हो तो भोगी रूपसे रहना। आजकलका साधु-समाज न तो भोगी है, क्योंकि वह स्वतंत्रताके साथ गृहस्थोंकी तरह अपने परिश्रमके ऊपर भोग-जीवन नहीं व्यतीत करता और न त्यागी है; क्योकि उसके आतरिक लक्षण त्यागसे बिलकुल विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति होनेपर भी वह भोगीकी तरह मुख्य मुख्य सुविधाओंको छोड़े बिना ही अपनी त्यागीके रूपसे पहचान कराता है। इसलिए भगवानके सिद्धान्तका अनुसरण करनेके लिए यदि उसे त्यागी ही रहना है, तो जंगलमे जाना चाहिए। अथवा बसतीके निकट रहना हो तो दूसरोंके श्रमका उपभोग नहीं करना चाहिए और यदि उसे भोगी ही होना है, तो दूसरोंके नहीं अपने ही श्रमके ऊपर होना चाहिए। ऐसा होनेपर ही सच्चे त्यागकी संभावना है।

स्वश्रमसे उत्पन्न की हुई वस्तुका उपभोग करनेसे अनेक बार अधिकसे अधिक त्याग होता है। जीवनमें वैसा त्याग अनिवार्य है। स्वश्रमसे तैयार किये हुए

कपड़े दूसरोंके द्वारा दिये हुए कपड़ोंकी अपेक्षा परिमाणमें कम उपयोगमें आनेवाले, कम घिसनेवाले और कम फटनेवाले होते हैं। अपने हाथका धोया कपड़ा दूसरोंके धोये हुए कपड़ोंकी अपेक्षा कम और देरीसे मलीन होता है। दानसे प्राप्त घी, दूध, पुस्तक, कागज, पेन्सिल और सुँघनीकी अपेक्षा स्वश्रम या मजदूरीसे प्राप्त वस्तुएँ परिमाणमें कम उपयोगमें आती हैं और उनका बिगाड़ भी कम होता है। दूसरे लोग जो पगचंपी और तेलमर्दन करते हैं उसकी अपेक्षा यदि स्वयं अपने हाथों ही ये कार्य किये जायँ तो उसमें सुखशीलताका पोषण कम होगा। इसलिए विवेकपूर्वक स्वीकृत स्वश्रम व्यावहारिकता और सच्ची आध्यात्मिकताका मुख्य लक्षण और पोषक है।

सदैव दूसरोंके हाथों पानी पीनेवाली और दूसरोंके पाँवोंसे चलनेवाली रानी या सेठानीसे यदि स्वयं पानी भरने या पैदल चलनेके लिए कहा जाय, अथवा ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाय, तो पहले तो उसके स्नायु ही ऐसा करनेके लिए इकार करेंगे; और फिर बड़प्पन और प्रतिष्ठाका भूत भी इस कामके करनेमें बाधक होगा। राजा-महाराजा और धनिक जो कि स्वश्रमके आदी नहीं हैं, उन्हें यदि श्रम करनेके लिए बाध्य किया जाय तो प्रारंभमें उन्हें भी बहुत बुरा लगेगा। यद्यपि जैन साधु इतने अधिक सुकुमार या पराश्रयी नहीं होते हैं, फिर भी उनमें परापूर्वका एक भूत घुसा हुआ है, जो कि उन्हें स्वश्रमका विचार करते ही क्षुब्ध कर डालता है और इस विचारको आचरणमें लाते समय उन्हें कँपा देता है। परन्तु इस समय प्रति दिन बढ़ती जानेवाली त्यागकी विकृतिको रोकनेके लिए स्वश्रमके तत्त्वके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं दिखाई देता। इसलिए उसका इस उपायको अनशन अथवा वनवास जैसी स्थितिको स्वीकार करनेमें ही त्राण है। अब त्यागकी मूर्तिके ऊपर भोगके सुवर्ण अलंकार अधिक समय तक शोभित नहीं रह सकते।

पर्युषण-व्याख्यानमाला
अहमदाबाद, १९३१ } अनुवादक—**महेन्द्रकुमार**

युवकोंसे

क्रान्ति वस्तु मात्रका अनिवार्य स्वभाव है। प्रकृति स्वयं ही निश्चित समय-पर क्रान्तिको जन्म देती है। मनुष्य बुद्धिपूर्वक क्रान्ति करके ही जीवनको बनाये रखता और बढ़ाता है। बिजली अचानक गिरती है और वृक्षोंको क्षणमात्रमें निर्जीव करके किसी दूसरे कामके लायक बना देती है। परन्तु वसन्त ऋतुका कार्य इससे विपरीत है। वह एक तरफ जीर्ण शीर्ण पत्रोंको झड़ा देती है और दूसरी तरफ नये, कोमल और हरे पर्णोंको जन्म देती है। किसान सारे झाड-झंखाड़ निकालकर जमीनको खेतीके लिए तैयार करता है, जिससे दूसरी बार उसे निदाईमें समय नष्ट न करना पड़े। उतने समयमें वह पौधोंको अच्छी तरह उगानेका प्रयत्न करता है। ये सब फेरफार अपने अपने स्थानमें जितने योग्य हैं, दूसरी जगह उतने ही अयोग्य। इस वस्तुस्थितिको ध्यानमें रखते हुए अगर हम चले तो क्रान्तिसे भय रखनेकी आवश्यकता नहीं, साथ ही अविचारी क्रांतिके कष्टसे भी बच सकते हैं। हमें भूतकालके अनुभव और वर्तमानके अवलोकनसे सुन्दर भविष्यका विचार शांतचित्तसे करना चाहिए। आवेशमें बह जाना या जड़तामें फँस जाना, दोनो ही हानिकारक हैं।

जैन-परम्पराके कुलमें जन्मा हुआ जैन है, यह सामान्य अर्थ है। साधारणतः अठारहसे चालीस वर्षतककी उम्रका पुरुष युवक कहा जाता है। पर हमें इस परिमित क्षेत्रमें ही 'जैन युवक' शब्दको नहीं रखना चाहिए। हमारा इतिहास और वर्तमान परिस्थिति इसमें नये जीवनभूत तत्त्वोंको समावेश करनेकी आवश्यकता प्रकट करती है। जिनके अभावमें जैन युवक केवल नामका युवक रहता है और जिनके होनेपर वह एक यथार्थ युवक बनता है, वे तीन तत्त्व ये हैं:—

१ निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति, २ निर्मोह कर्मयोग, ३ विवेकपूर्ण क्रियाशीलता।

१ निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति—जैन-समाज निवृत्ति-प्रधान कहलाता है। हमें जो निवृत्ति उत्तराधिकारमें मिली है वह वास्तवमें भगवान महावीरकी है और वास्तविक है। परन्तु जबसे यह निवृत्ति उपास्य बन गई, उसके उपासक वर्गकी वृद्धि होती गई और कालक्रमसे उसका समाज बन गया, तबसे निवृत्तिने नया रूप धारण कर लिया। उत्कृष्ट आध्यात्मिक धर्म वास्तविक रूपसे विरले व्यक्तियोंमें दृष्टिगोचर होता और रहता है, वह समूहमें जीवित नहीं रह सकता, इसलिए जबसे उपासक-समूहने सामूहिक रूपसे आत्यंतिक निवृत्तिकी उपासना प्रारम्भ की, तबसे ही निवृत्तिकी वास्तविकतामें फर्क आने लगा। हमारे समाजमें निवृत्तिके उपासक साधु और श्रावक इन दो वर्गोंमें विभक्त हैं। जिसमें आत्म-रस ही हो और वासना-भूख जिसे नहीं सता रही हो ऐसे व्यक्तिको अपने देहका कोई मोह नहीं होता। उसे मकान, खानदान या आच्छादनका सुख-दुःख न तो प्रसन्न करता है और न विषाद ही उत्पन्न करता है। लेकिन ये चीजें समूहमें शक्य नहीं है। आत्मकल्याणके लिए संसारका त्याग करनेवाले साधु-वर्गका भी यदि इतिहास देखा जाय तो वे भी सुविधा और असुविधामें सम नहीं रह सके। दुष्काल पड़ते ही साधु सुभिक्षवाले प्रान्तमें विहार कर देते हैं। जहाँ सुभिक्ष होता है वहाँ भी ज्यादा सुविधाओंवाले स्थानोंमें ज्यादा रहते और विचरण करते हैं। ज्यादा सुविधावाले गांवों और शहरोंमें भी जो कुटुंब साधुवर्गका ज्यादासे ज्यादा ख्याल रखते हैं उन्हींके घर उनका आना जाना ज्यादा होता है। यह सब अस्वाभाविक नहीं है। इसीलिए हमें सुविधा-रहित ग्रामों, शहरों और प्रान्तोंमें साधु प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होते और इसके परिणामस्वरूप जैन-परंपराका अस्तित्व भी जोखिममें दिख पड़ता है।

सुविधाओंके साथ जीवनके पालण-पोषणकी एकरसता होते हुए भी साधुवर्ग मुख्य रूपसे भगवान और अपने जीवनके अंतरके विषयमें विचार न करके देहमें क्या रखा है? यह तो विनाशीक है, किसी समय नष्ट होगी ही। खेत, मकानादि सब जंजाल हैं, पैसा रुपया, स्त्री-बच्चे आदि सभी सांसारिक मायाजालके बंधन हैं, इत्यादि अनधिकार उपदेश प्रायः देते रहते हैं। श्रोता गृहस्थवर्ग भी अपने अधिकार और शक्तिका विचार न करके उक्त उपदेशके प्रवाहमें बह जाते हैं। परिणाम यह है कि हमारे समाजमें भगवानकी सच्ची निवृत्ति या अधिकार योग्य प्रवृत्ति, कुछ भी प्रतीत नहीं होती। वैयक्तिक,

कौटुम्बिक या सामाजिक कार्य निरुत्साह और नीरसतासे करते जाते हैं, जिससे बल प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हुए भी उसे प्राप्त नहीं कर पाते। संपत्ति, वैभव, विद्या या कीर्तिको बिना प्रयत्न पानेकी इच्छा रखते हैं और उसके लिए प्रयत्न करनेका कार्य दूसरोंके ऊपर छोड़ देते हैं। ऐसी स्थितिमें भगवानके वास्तविक निवृत्तिरूप जीवनप्रद जलके स्थानमें हमारे हिस्सेमें केवल उसका फेन और सील ही रहती है।

धर्म अधिकारसे ही शोभित होता है। जो अधिकाररहित धर्म साधु-वर्गको सुशोभित नहीं कर सकता वह श्रावक-वर्गको कैसे सुशोभित करेगा? निवृत्तिकी दृष्टिसे दाँत और शरीरकी उपेक्षा करनेमें ही हम धर्म मानते हैं लेकिन दाँतोंके सड़ने और शरीरके अस्वस्थ होनेपर इतने घबड़ा जाते हैं कि चाहे हम साधु हों चाहे गृहस्थ उसी समय डाक्टर और दवा ही हमारे मोहके विषय बन जाते हैं। व्यापार और कौटुम्बिक जिम्मेदारी निभानेमें भी बहुत बार हमारी मानी हुई निवृत्ति सामने आ जाती है लेकिन जिस समय इसके अनिष्ट परिणाम कुटुम्ब-कलह पैदा करते हैं उस समय हम उसे समभावसे सहनेमें असमर्थ होते हैं। सामाजिक सुव्यवस्था और राष्ट्रीय अभ्युदय अगर बिना प्रयत्नके मिल जायँ, तो हमें अच्छे लगते हैं। सिर्फ हमें अच्छा नहीं लगता है उसके लिए पुरुषार्थ करना। साधुवर्गकी निवृत्ति और गृहस्थ-वर्गकी प्रवृत्ति ये दोनों जब अनुचित ढगसे एक दूसरेके साथ मिल जाती हैं, तब निवृत्ति सच्ची निवृत्ति नहीं रहती और प्रवृत्तिकी भी आत्मा विलुप्त हो जाती है। एक प्रसिद्ध आचार्यने एक अग्रगण्य और शिक्षित माने जानेवाले गृहस्थको पत्र लिखा। उसमें उन्होंने सूचित किया कि तुम्हारी परिषद् अगर पुनर्विवाहके चक्करमें पड़ेगी, तो धर्मको लाछन लगेगा। इन त्यागी कहे जाने-वाले आचार्यकी सूचना ऊपरसे तो त्याग-गर्भित-सी प्रतीत होती है, लेकिन अगर विश्लेषण किया जाय तो इस अनधिकार संयमके उपदेशका मर्म प्रकाशित हो जाता है। पुनर्विवाह या उसके प्रचारसे जैनसमाज गर्तमें गिर जायगा, ऐसी दृढ मान्यता रखनेवाले और पुनर्विवाहके पात्रोंको नीची नजरसे देखने-वाले इन त्यागी जनोंके पास जब कोई वृद्ध-विवाह करनेवाला, या एक स्त्रीके रहते हुए भी दूसरी शादी करनेवाला, या अपने जीवनमें चौथी पाँचवीं शादी करनेवाला धनी गृहस्थ आ पहुँचता है, तब वह संपत्तिके कारण आगे

स्थान पाता है, और उस समय इन त्यागी गुरुओंकी संयमकी हिमायतमें कितना विवेक है, यह साफ मालूम पड़ जाता है ।

बहुतसे त्यागी गुरु और उनकी छायामें रहनेवाले गृहस्थ जिस समय कहते हैं कि हमें देश या राष्ट्रसे क्या मतलब, हमें तो अपना धर्म सँभालना चाहिए, राज्यके विरुद्ध हम लोग कैसे कुछ कह सकते या कर सकते हैं, उस समय निवृत्ति और प्रवृत्तिमें कितना असामंजस्य पैदा हो गया है, यह मालूम हो जाता है । इस तरहकी विचार-सरणीवाले देशको परतंत्रताकी बेड़ीसे मुक्ति मिलना असंभव है । वे भूल जाते हैं कि अगर देश आर्थिक, औद्योगिक और राजनीतिक दृष्टिसे परतंत्र है, तो हम भी उसी बेड़ीमें बँधे हुए हैं। चिरकालका अभ्यास हो जानेसे या स्थूल दृष्टिके कारण अगर गुलामी गुलामी प्रतीत नहीं होती, तो इससे उसका प्रभाव कम नहीं हो जाता । इन अदूरदर्शी व्यक्तियोंको इसका भी विचार करना चाहिए कि विश्वव्यापी स्वतंत्रताकी भावनावालोंका वर्ग छोटा होता हुआ भी अपने दृढ निश्चयसे उसी दिशाकी ओर बढ रहा है । धर्म, पंथ और जातिके भेद-भावसे रहित सहस्रों ही नहीं बल्कि लाखों युवक युवतियाँ उनका साथ दे रही हैं ।

जल्दी या देरसे यह तंत्र सफल होगा ही । इस सफलतामें भाग लेनेसे अगर जैन-समाज वंचित न रहना चाहता हो और उसे स्वतत्रताके सुन्दर फलोंका आस्वाद अच्छा लगता हो, तो उसे परतत्रताकी बेड़ियाँ काटनेमें इच्छा और बुद्धिपूर्वक धर्म समझकर अपना हिस्सा अदा करना चाहिए। मेरी यह दृढ मान्यता है कि जैन युवकको अपने जीवन-तंत्रको स्वयं ही निवृत्तिलक्षी प्रवृत्तिवाला बनाना चाहिए । इसमें प्राचीन उत्तराधिकारकी रक्षा और नवीन परिस्थितिका सामञ्जस्य करनेवाले तत्त्वोंका सम्मिश्रण है। निवृत्तिको शुद्ध निवृत्ति रखनेका एक ही नियम है, और वह यह कि निवृत्तिके साथ साथ जीवनको सुदृढ बनाये रखनेके लिए आवश्यक और अनिवार्य प्रवृत्तिका भार भी अपने ऊपर लिया जाय । दूसरोंकी प्रवृत्तिद्वारा प्राप्त फलके आस्वादनका त्याग करना चाहिए । इसी प्रकार प्रवृत्तिको स्वीकार कर अगर जीवन शुद्ध रखना है तो प्रवृत्तिसे प्राप्त फलका आत्मभोक्ता न होकर समूहगामी होना चाहिए । अगर यह होने लगे तो प्राप्त साधनोंका और सुविधाओंका वैयक्तिक भोगमें परिणमन

न होकर समूहगामी सुन्दर उपयोग होगा और प्रवृत्ति करनेवाला इतने अंशमें वैयक्तिक तृष्णासे मुक्त होकर निवृत्तिका पालन कर सकेगा।

निर्मोह कर्मयोग

दूसरा लक्षण वस्तुतः प्रथम लक्षणका ही रूप है। पहले ऐहिक और परलौकिक इच्छाओंकी तृप्तिके लिए यज्ञयागादि क्रियाकाण्ड बहुत होता था। धार्मिक समझा जानेवाला यह क्रियाकाण्ड वस्तुतः तृष्णाजनित होनेके कारण धर्म नहीं है, ऐसी दूसरे पक्षकी सत्य और प्रबल मान्यता थी। गीता-धर्म-प्रवर्तक जैसे दीर्घदर्शी विचारकोंको कर्म-प्रवृत्तिरहित जीवन-तंत्र असंभव जान पड़ा, फिर चाहे वह व्यक्तिका हो या समूहका। उन्हें यह भी प्रतीत हुआ कि कर्म-प्रवृत्तिकी प्रेरक तृष्णा ही सारी विडम्बनाओंका मूल है। इन दोनों दोषोंसे मुक्त होनेके लिए उन्होंने अनासक्त कर्मयोगका स्पष्ट रूपसे उपदेश दिया। यद्यपि जैन-परम्पराका लक्ष्य निर्मोहत्व है, तो भी सम्पूर्ण समाजके रूपमें हम प्रवृत्तिके बिना नहीं रह सकते और न कभी रहे हैं। ऐसी स्थितिमें हमारे विचारक-वर्गको निर्मोह या अनासक्त भावसे कर्मयोगका मार्ग ही स्वीकार करना चाहिए। अन्य परम्पराओंको अगर हमने कुछ दिया है, तो उनसे लेनेमें भी कोई हीनता नहीं है। और अनासक्त कर्मयोगके विचारोंका अभाव हमारे शास्त्रोंमें हो, ऐसी बात भी नहीं है। इसलिए मेरा मान्यता है कि प्रत्येक जैन इस मार्गके स्वरूपको समझे और उसे जीवनमें उतारनेके लिए दृढ निश्चयी बने।

विवेकी क्रिया-शीलता

अब हम तीसरे लक्षणका विचार करते हैं। हमारे इस छोटेसे समाजमें आपसमें लड़नेवाले और बिना विचारे घोष-प्रतिघोष करनेवाले दो एकान्तिक पक्ष हैं। एक पक्ष कहता है कि साधु-संस्था अब कामकी नहीं है, इसे हटा देना चाहिए। शास्त्रों और आगमोंके उस समयके बंधन इस समय व्यर्थ हैं-तीर्थ और मंदिरोंका भार भी अनावश्यक है। दूसरा पक्ष इससे विपरीत कहता है। उसकी मान्यता है कि जैन-परम्पराका सर्वस्व साधु-संस्था है। उसमें अगर किसी प्रकारकी कमी या दोष हो तो उसे देखने और करनेकी वह मनाई करता है। शास्त्र नामकी सभी पुस्तकोंका एक एक अक्षर ग्राह्य है और तीर्थों और मंदिरोंकी वर्तमान स्थितिमें किसी प्रकारके सुधारकी आवश्यकता नहीं है। मेरी समझमें अगर ये दोनों एकान्तिक विरोधी पक्ष विवेक,

पूर्वक कुछ नीचे उतर आवें तो उन्हें सत्य समझमें आ सकता है और व्यर्थमें बर्बाद की जानेवाली शक्ति उपयोगी कार्योंमें लग सकती है। इसलिए मैं यहाँपर जैन युवकका अर्थ क्रियाशील करके उसके अनिवार्य लक्षणके रूपमें बिवेकी क्रिया-शीलताका समावेश करता हूँ।

साधु-संस्थाको अनुपयोगी या अजागलस्तनवत् माननेवालोंसे मैं कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ। भूतकालीन साधु संस्थाके ऐतिहासिक कार्योंको अलग रखकर अगर हम पिछली कुछ शताब्दियोंके कार्योंपर ही विचार करें, तो इस संस्थाके प्रति आदरभाव प्रकट किये बिना नहीं रहा जा सकता। दिगम्बर-परंपराने अन्तिम शताब्दियोंमें अपनी इस संस्थाको क्षीण बनाया, तो क्या इस परम्पराने श्वेताम्बर परम्पराकी अपेक्षा विद्या, साहित्य, कला या नीति-प्रचारमें ज्यादा देन दी है? इस समय दिगम्बर-परम्परा मुनि-संस्थाके लिए जो प्रयत्न कर रही है, उसका क्या कारण है! जिह्वा और लेखनीमें असंयम रखनेवाले अपने तरुण बंधुओंसे मैं पूछता हूँ कि आप विद्या-प्रचार तो चाहते हैं न? अगर हां, तो इस प्रचारमें सबसे पहले और ज्यादा सहयोग देनेवाले साधु नहीं तो और कौन हैं? एक उत्साही श्वेताम्बर साधुको काशी जैसे दूर और बहुत कालसे त्यक्त स्थानमें गृहस्थ कुमारोंको शिक्षा देनेकी महत्त्वपूर्ण अंतःस्फुरणा अगर न हुई होती, तो क्या आज जैन समाजमें ऐसी विद्योपासना शुरू हो सकती थी? एक सतत कर्मशील जैन मुनिने आगम और आगमेतर साहित्यको विपुल परिमाणमें प्रकट कर देश और विदेशमें सुलभ कर दिया है जिससे जैन और जैनेतर विद्वानोंका ध्यान जैन साहित्यकी ओर आकर्षित हुआ है। क्या इतना बड़ा और महत्त्वपूर्ण कार्य कोई जैन गृहस्थ इतने अल्प समयमें कर सकता था? एक वृद्ध मुनि और उसका शिष्यवर्ग जैन समाजके विभूति-रूप शास्त्र-भण्डारोंको व्यवस्थित करने और उसे नष्ट होनेसे बचानेका प्रयत्न कर रहा है और साथ ही साथ उनमेंकी सैकड़ों पुस्तकोंका श्रमपूर्वक प्रकाशन-कार्य भी वर्षोंसे कर रहा है जो स्वदेश विदेशके विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करता है। ऐसा कार्य आप और मेरे जैसा कोई गृहस्थ नहीं कर सकता।

शास्त्रों और आगमोंको निकम्मा समझनेवाले भाइयोंसे मैं पूछता हूँ कि क्या आपने कभी उन शास्त्रोंका अध्ययन भी किया है? आप उनकी कदर नहीं

करते, तो अपने अज्ञानके कारण या शास्त्रोंकी निरर्थकताके कारण ? मैं युवकोंसे पूछता हूँ कि आप अपने समाजके लम्बे कालका कौन-सा कार्य संसारके सामने रख सकते हैं ? देश विदेशके जैनेतर विद्वान् भी जैन साहित्यका अद्भुत मूल्यांकन करते हैं और उसके अभावमें भारतीय संस्कृति या इतिहासका पृष्ठ अधूरा मानते हैं । विदेशोंमें लाखों रुपये खर्च करके जैन-साहित्य संग्रह करनेका प्रयत्न हो रहा है । ऐसी स्थितिमें जैन शास्त्रों या जैन साहित्यको जला देनेकी बात कहना पागलपन नहीं तो और क्या है ?

तीर्थों और मन्दिरोंके ऐकान्तिक विरोधियोंसे मेरा प्रश्न है कि इस तीर्थ-संस्थाके इतिहासके पीछे स्थापत्य, शिल्प और प्राकृतिक सौन्दर्यका कितना भव्य इतिहास छिपा हुआ है, क्या आपने कभी इस विषयमें सोचा है ? स्थानकवासी समाजको अगर उसके पूर्व पुरुषोंके स्थान या स्मृतिके विषयमें पूछा जाय, तो वे इस विषयमें क्या कह सकते हैं ? क्या ऐसे अनेक तीर्थ नहीं हैं जहाँके मंदिरोंकी भव्यता और कलाको देखकर आपका मन यह कहनेको विवश हो जाय कि लक्ष्मीका यह उपयोग वास्तवमें सफल कहा जा सकता है ?

इसी भाँति दूसरे ऐकान्तिक पक्षसे भी मैं आदरपूर्वक पूछना चाहता हूँ कि अगर हमारे साधु वास्तवमें सच्चे साधु हैं, तो आज उनमें गृहस्थवर्गसे भी ज्यादा मारामारी, पक्षापक्षी, तू तू मैं मैं, और एक ही धनिकको अपना अपना अनुयायी बनानेकी अव्यक्त होड़ क्यों चल रही है ? अक्षरशः शास्त्रोंके माननेवालोंसे मेरा यह निवेदन है कि यदि शास्त्रोंके प्रति आपकी अनन्य भक्ति है, तो आपने उन शास्त्रोंको पढ़ने और विचारनेमें तथा देशकालानुसार उपयोगिता-अनुपयोगिताका पृथक्करण करनेमें कभी अपनी बुद्धि लगाई है या दूसरोंकी ही बुद्धिका उपयोग किया है ? मंदिर-संस्थाके पीछे सर्वस्व होम देनेवाले भाइयोंसे मेरा यह निवेदन है कि कितने मंदिरोंकी व्यवस्था करनेकी शक्ति आपमें है ? उनके ऊपर होनेवाले आक्रमणोंका प्रतिकार करनेकी कितनी शक्ति आपके पास है ? एकतरफी धुनमें कहीं आप इसके आवश्यक कर्त्तव्य तो नहीं भूल जाते ? इस प्रकार दोनों पक्षोंसे पूछताछकर मैं उनका ध्यान विवेककी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ । मुझे विश्वास है कि अगर दोनों वर्ग मर्यादामें रहकर विवेकपूर्वक विचार करें, तो अपने अपने वर्गमें रहकर काम करते हुए भी बहुत-सी कठिनाइयोंसे बच जायँगे ।

अब मैं अपने कर्त्तव्य सम्बन्धी प्रश्नोंकी ओर आता हूँ। उद्योग, शिक्षा, राजसत्ता आदिके राष्ट्रव्यापी निर्णय, जो देशकी महासभा समय समयपर किया करती है, वही निर्णय हमारे भी हैं, इसलिए उनका यहाँ अलगसे विचार करना अनावश्यक है। सामाजिक प्रश्नोंमें जाति-पाँतिके बंधन, बाल-वृद्ध-विवाह, विधवाओंके प्रति जिम्मेदारी, अनुपयोगी खर्च इत्यादि अनेक हैं। इन सब प्रश्नोंके विषयमें जैन समाजकी भिन्न भिन्न परिषदें वर्षोंसे प्रस्ताव करती आ रही हैं और वर्तमान परिस्थिति इस विषयमें स्वयं ही कुछ मार्गोंको खोल रही है। हमारी युवक-परिषदने इस विषयमें कुछ ज्यादा वृद्धि नहीं की है।

हमारी परिषदको अपनी मर्यादाएँ समझकर ही काम करना चाहिए। यह मुख्य रूपसे विचारनेका ही कार्य करती है। विचारोंको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए जिस स्थिर बुद्धि-बल और समय-बलकी आवश्यकता है उसे पूरा करनेवाला अगर कोई व्यक्ति न हो तो अर्थसंग्रहका काम कठिन हो जाता है। ऐसी स्थितिमें चाहे जितने मुकर्त्तव्योंकी रूपरेखा तैयार की जाय, व्यावहारिक दृष्टिसे उनका ज्यादा अर्थ नहीं रहता। हमारी परिषदको एक भी साधुका सहयोग नहीं है, जो अपनी विचारसरणीसे या दूसरी तरहसे सहायता करके परिषद्के कार्यको सरल बनाए। परिषदको अपने गृहस्थ सभ्योंके बलपर ही जिन्दा रहना है। एक तरफ उसमें स्वतन्त्रताका पूरा अवकाश होनेसे विकासका स्थान है, दूसरी तरफ उसके प्रायः सभी सदस्य व्यापारी वृत्तिके हैं, इस कारण वे कार्योंको व्यवस्थित और सतत सचालन करनेमें उचित समय नहीं दे सकते। इसीलिए मैं बहुत ही परिमित कर्त्तव्योंका निर्देश करता हूँ।

देशके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें अनेक शहर कस्बे और ग्राम ऐसे हैं जहाँपर जैन युवक होते हुए भी उनका संघ नहीं है। उनके लिए अपेक्षित धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय पठन-पाठनका सुभीता नहीं है। एक प्रकारसे वे अँधेरेमें है। उनमें उत्साह और लगन होते हुए भी विचारने, बोलने, मिलने जुलनेका स्थान नहीं है। शहरों और कस्बोंमें पुस्तकालयकी सुविधा होते हुए भी जब अनेक उत्साही जैन युवकोंका पठन पठन नाम मात्रका भी नहीं है तब उनके विचार-सामर्थ्यके विषयमें तो कहना ही क्या? ऐसी स्थितिमें हमारी

परिषद दो तीन सभ्योंकी समिति चुनकर उसे आवश्यक पाठ्य पुस्तकोंकी सूची बनानेका कार्य सौंपे और उस सूचीको प्रकाशित करे, जिससे प्रत्येक जैन युवक सरलतासे धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्य प्रश्नोंके विषयमें दूसरोंके विचार जान सके और खुद भी विचार कर सके। ऐसी सूची अनेक युवक-संघोंके संगठनकी प्रथम भूमिका बनेगी। केन्द्रस्थानके साथ अनेक युवकोंका पत्र-व्यवहार होनेपर कई युवक-संघोंका सगठन होगा। दस पाँच शहरोंके थोड़ेसे गिने चुने विचारशील युवक होनेसे कोई सार्वत्रिक युवक सघकी विचार-प्रवृत्ति नहीं चल सकती। मुखपत्रमें प्रकट हुए विचारोंको झेलनेकी सामान्य भूमिका सर्वत्र इसी प्रकार निर्मित हो सकती है।

शिक्षाप्रधान शहरोंके सघोंको एक शिक्षासंबंधी प्रवृत्ति भी हाथमें लेनी चाहिए। शहरके सघोको अपने कार्यालयमे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे स्थानीय या आसपासके गाँवोंके विद्यार्थी अपनी कठिनाइयाँ वहाँ आकर कह सकें। युवक-संघ भी अपनी शक्तिके अनुसार कुछ व्यवस्था करे या मार्ग दर्शन करे। इससे मार्ग और आलम्बनरहित भटकनेवाले या चिंता करनेवाले अपने भाइयोंको कुछ राहत मिल सकेगी।

इसके अतिरिक्त एक कर्त्तव्य उद्योगके बारेमें है। शिक्षाप्राप्त या बीचमें ही अध्ययन छोड़ देनेवाले अनेक भाई नौकरी या धंधेकी खोजमें इधर उधर भटकते फिरते हैं। उन्हें प्रारम्भमें दिशासूचनकी भी सहायता नहीं मिलती। यदि थोड़े दिन रहने, खाने आदिकी सस्ती सुविधा न भी दी जा दे सकें, तो भी परिस्थिति जानकर अगर उन्हें योग्य सलाह देनेकी व्यवस्था उस स्थानका संघ कर दे, तो इससे युवक-मण्डलोका संगठन अच्छी तरह हो सकता है।

हमारे आबू, पालीताणा आदि कुछ ऐसे भव्य तीर्थ हैं जहाँपर हजारों व्यक्ति यात्रा या आरामके लिए जाते रहते हैं। प्रत्येक तीर्थ हमारा ध्यान स्वच्छताकी ओर आकर्षित करता है। तीर्थ जितने भव्य और सुन्दर हैं वहाँपर मनुष्यकृत अस्वच्छता असुंदरता भी उतनी ही है। इसलिए तीर्थ-स्थानके या उसके पासके युवक-संघ आदर्श स्वच्छताका कार्य अपने हाथमें ले लें तो वे उसके द्वारा जनानुराग उत्पन्न कर सकते हैं। आबू एक ऐसा स्थान है जो गुजरात और राजपूतानाके मध्य होनेके अतिरिक्त आबहवाके लिए भी बहुत अच्छा है। वहाँके प्रसिद्ध जैन मंदिरोंको देखनेके लिए आनेवालोंका मन आबूकी

पहाड़ियोंमें रहनेके लिए ललचा उठता है और आबहवाके लिए आनेवाले भी इन मंदिरोंको देखे बिना नहीं रह सकते। जैसे सुन्दर ये मन्दिर हैं वैसा ही सुन्दर पर्वत है। तो भी उनके पास न तो स्वच्छता है, न उपवन है और न जलाशय। स्वभावसे उदासीन जैन जनताको यह कमी भले ही न खटकती हो, तो भी जब वे दूसरे केम्पों और जलाशयोंकी ओर जाते हैं तो तुलनामें उन्हें भी अपने मंदिरोंके आसपास यह कमी खटकती है। सिरोही, पालनपुर या अहमदाबादके युवक-संघ इस विषयमें बहुत कुछ कर सकते हैं। उत्तम वाचनालय और पुस्तकालयकी सुविधा तो प्रत्येक तीर्थमें होनी चाहिए। आबू आदि स्थानोंमें यह सुविधा बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। पालीताणामें कई शिक्षणसंस्थाएँ हैं। उनके पीछे खर्च भी कम नहीं होता। उनमें काम तो होता है लेकिन दूसरी प्रसिद्ध संस्थाओंकी भाँति वे विद्वानोंको आकर्षित नहीं कर सकतीं। इसके लिए भावनगर जैसे नजदीकके शहरके विशिष्ट शिक्षित युवकोंको सहयोग देना चाहिए।

जो ऊँच-नीचके भेद न मानता हो, कथित अस्पृश्यों और दलितोंके साथ मनुष्यताका व्यवहार करता हो, जो अनिवार्य वैधव्यके बदले ऐच्छिक वैधव्यका सक्रिय समर्थक हो और जो धार्मिक संस्थाओंमें समयोचित सुधारका हिमायती हो, उसके द्वारा यदि ऐसी अल्प और हलकी कार्य-सूचना दी जाय, तो जड़ रूढ़िकी भूमिमें लम्बे समयसे खड़े खड़े उकताये हुए और विचार क्रान्तिके आकाशमें उड़नेवाले युवकोंको नवीनता मालूम होगी, यह स्वाभाविक है। परन्तु मैंने यह मार्ग जान-बूझकर अपनाया है। मैंने सोचा कि एक हलकीसे हलकी कसौटी युवकोंके सामने रखूँ और परीक्षा करके देखूँ कि वे उसमें कितने अंशमें सफल हो सकते हैं। हमें उत्तराधिकारमें एकांगी दृष्टि प्राप्त होती है जो समुचित विचार और आवश्यक प्रवृत्तिके बीच मेल करनेमें विघ्नरूप सिद्ध होती है। इसलिए उसकी जगह किस दृष्टिका हमें उपयोग करना चाहिए, इसीकी मैंने मुख्य रूपसे चर्चा की है।

युवकपरिषत्, अहमदाबाद,
स्वागताध्यक्षके पदसे

अनुवादक—
मोहनलाल खारीवाल

हरिजन और जैन

जबसे बम्बईकी धारा-सभामें 'हरिजनमन्दिर-प्रवेश' बिल पास हुआ है तबसे गाढ-निद्रामें मग्न जैन समाजका मानस विशेष रूपसे जागृत हो गया है। इस मानसके एक कोनेसे पण्डिताई सेठाई और साधुशाहीने एक साथ मिलकर आवाज़ लगाई है कि हरिजन हिन्दू समाजके अंग हैं, और जैन हिन्दू समाजसे जुदे हैं। इसलिए हिन्दू समाजको लक्ष्य करके बनाया गया 'हरिजनमन्दिर-प्रवेश' बिल जैनसमाजको लागू नहीं हो सकता।

जागृत जैनमानसके दूसरे कोनेसे दूसरी आवाज उठी है कि भले ही जैन-समाज हिन्दू समाजका एक भाग हो और इससे जैनसमाज हिन्दू गिनी जाय पर जैनधर्म हिन्दू धर्मसे पृथक् है, और 'हरिजन-मन्दिर-प्रवेश' बिल हिन्दू-धर्ममें सुधार करनेके लिए है, अतः वह जैनधर्मपर लागू नहीं हो सकता। क्योंकि हरिजन हिन्दू धर्मके अनुयायी हैं, जैनधर्मके नहीं। जैन धर्म तो मूलसे ही जुदा है। इन दो विरोधी आवाजोंके सिवाय जागृत जैन मानससे कुछ और भी स्वर निकले हैं। कोई कहते हैं कि लम्बे समयसे चली आई जैनपरम्परा और प्रणालीके आधारसे हरिजनोंको जैनमन्दिर-प्रवेशसे रोक रखनेके लिए बिलका निषेध करना चाहिए। कुछ लोग जैन मन्दिरोंको जैन सम्पत्ति और उनपर जैन स्वामित्व मानकर ही बिलका विरोध करते हैं।

दूसरी तरफ उपरिलिखित जुदे-जुदे विरोधी पक्षोंका सख्त प्रतिवाद करनेवाली एक नवयुगीन प्रतिध्वनि भी जोरोंसे उठी है। मैं इन लेखमें इस सब पक्षोंकी सबलता और निर्बलताकी परीक्षा काना चाहता हूँ। पहले पक्षका कहना है कि जैनसमाज हिन्दूसमाजसे जुदा है। यह पक्ष 'हिन्दू' शब्दका अर्थ केवल ब्राह्मण-धर्मानुयायी या वैदिक परम्परानुयायी समझता है, पर यह अर्थ

इतिहास और परम्पराकी दृष्टिसे भ्रान्त है। इतिहास और परम्पराका ठीक ठीक ज्ञान न होनेसे यह पक्ष अपनी मान्यताकी पुष्टिके लिए हिन्दू शब्दकी उक्त संकीर्ण व्याख्या गढ़ लेता है। अतः इस सम्बन्धमें थोड़ा गंभीर विचार करना होगा।

ग्रीक लोग सिन्धुके तटसे यहाँ आये थे। वे भारतके जितने जितने प्रदेशको जानते गये उतने उतने प्रदेशको अपनी भाषामें 'इन्डस' कहते गये। भारतके भीतरी भागोंसे वे ज्यों ज्यों परिचित होते गये त्यों त्यों उनके 'इडस' शब्दका अर्थ भी विस्तृत होता गया। मुहम्मद पैगम्बरसे पहले भी अरब व्यापारी भारतमे आते थे। कुछ सिन्धु नदीके तट तक आये थे और कुछ समुद्री मार्गसे भारतके किनारे किनारे पश्चिमसे पूर्व तक—जावा सुमात्रासे लेकर चीन तक—यात्रा करते थे। ये अरब व्यापारी भारतके सभी परिचित किनारोंको 'हिन्द' कहते थे। अरबोंको भारतकी बनी हुई तलवार बहुत पसन्द थी और वे उसपर मुग्ध थे। भारतकी सुखसमृद्धि और मनोहर आबोहवाने भी उन्हें बहुत आकृष्ट किया था। इस लिए भारतकी तलवारको वे उसके उत्पत्ति-स्थानके नामसे 'हिन्द' कहते थे। इसके बाद पैगम्बर सा० का जमाना आता है। मुहम्मद बिन कासमने सिन्धमें अपना अड्डा जमाया। फिर महमूद गजनवी तथा अन्य आक्रमणकारी मुसलमान देशमें आगे-आगे बढते गये और अपनी सत्ता जमाते गये। इस जमानेमें मुसलमानोने भारतके लगभग सभी भागोंका परिचय पा लिया था, इसलिए मुसलिम इतिहास-लेखकोंने भारतको तीन भागोंमें बाँटा—सिन्ध, हिन्द और दक्षिण। हिन्द शब्दसे उन्होंने सिन्धुके आगेके समस्त उत्तर हिन्दुस्थानको पहिचाना। अकबर तथा अन्य मुगल बादशाहोने राज्य-विस्तारके समय राज-काजकी सुविधाके लिए समस्त भारतको ही 'हिन्द' नामसे व्यवहृत किया। इस तरह हिन्द और हिन्दू शब्दका अर्थ उत्तरोत्तर उसके प्रयोग और व्यवहार करनेवालोंकी जानकारीके अनुसार विस्तृत होता गया और फिर अँग्रेजी शासनमें इसका एकमात्र निर्विवाद अर्थ मान लिया गया—काश्मीरसे कन्याकुमारी और सिन्धुसे आसाम तकका सम्पूर्ण भाग—सारा देश—हिन्द।

इस तरह हिन्द और हिन्दुस्तानका अर्थ चाहे जितना पुराना हो और चाहे जिस क्रमसे विस्तृत हुआ हो, पर यह प्रश्न तो अब भी खड़ा रहता है कि हिन्दुस्तानमे बसनेवाले सभी लोग हिन्दूसमाजमें शामिल हैं या उसमेंके खास

खास वर्ग ? और वे कौन कौन ? इसके उत्तरके लिए बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हिन्दुस्तानमें पहलेसे ही अनेक जातियाँ और मानव-समाज आते और बसते रहे हैं। पर सभीने हिन्दूसमाजमें स्थान नहीं पाया। हम जानते हैं कि मुसलमान व्यापारी और शासकके रूपमें इधर आये और बसे, पर वे हिन्दूसमाजसे भिन्न ही रहे। इसी तरह हम यह भी जानते हैं कि मुसलमानोंके आनेके कुछ पहले और उसके बाद भी, विशेष रूपसे 'पारसी' हिन्दुस्तानमें आकर रहे हैं और उन्होंने मुसलमानोंकी तरह हिन्दुस्तानको अपनी मातृभूमि मान लिया है, फिर भी वे हिन्दू समाजसे पृथक् गिने जाते हैं। इसी तरह क्रिश्चियन और गोरी जातियाँ भी हिन्दुस्तानमें हैं, पर वे हिन्दूसमाजका अग नहीं बन सकी हैं। इस समस्त स्थितिका और हिन्दूसमाजमें गिनी जानेवाली जातियों और वर्गोंके धार्मिक इतिहासका विचार करके स्व० लोकमान्य तिलक जैसे विचारकोंने 'हिन्दू' शब्दकी जो व्याख्या की है, वह पूर्णतया निर्दोष और सत्य है। इस व्याख्याके अनुसार जिनके पुण्य पुरुष और तीर्थस्थान हिन्दुस्तानको अपने देवों और ऋषियोंका जन्मस्थान अर्थात् अपनी तीर्थभूमि मानते हैं, वे सब 'हिन्दू' हैं, और उन सबका समाज 'हिन्दू-समाज' है।

जैनोंके लिए भी ऊपर कही हुई हिन्दूसमाजकी व्याख्या न माननेका कोई कारण नहीं है। जैनोंके सभी पुण्य पुरुष और पुण्य तीर्थ हिन्दुस्तानमें हैं। इसलिए जैन हिन्दूसमाजसे पृथक् नहीं हो सकते। उनको जुदा माननेकी प्रवृत्ति जितनी ऐतिहासिक दृष्टिसे भ्रान्त है उतनी ही अन्य अनेक दृष्टियोंसे भी। इसी भ्रान्त दृष्टिके वश 'हिन्दू' शब्दका केवल 'वैदिक परम्परा' अर्थ करके अज्ञानी और सम्प्रदायान्ध जैनोको भ्रममें डाला जा रहा है। पर इस पक्षकी निस्सारता अब कुछ शिक्षित लोगोंके ध्यानमें आ गई है, इसलिए उन्होंने एक नया ही मुद्दा खड़ा किया है। उसके अनुसार जैन समाजको हिन्दूसमाजका अग मानकर भी धर्मकी दृष्टिसे जैनधर्मको हिन्दू धर्मसे भिन्न माना जाता है। अब जरा इसी प्रश्नकी मीमांसा कर ली जाय।

अँग्रेजी शासनके बाद मनुष्य-गणनाकी सुविधाके लिए 'हिन्दू धर्म' शब्द बहुत प्रचलित और रूढ़ हो गया है। हिन्दूसमाजमें शामिल अनेक वर्गोंके

द्वारा पाले जानेवाले अनेक धर्म हिन्दूधर्मकी छत्रछायामें आ जाते हैं। इस्लाम, जरथुस्त्र, ईसाई और यहूदी आदिको छोड़कर, जिनके कि मूल धर्मपुरुष और मूल तीर्थस्थान भारतसे बाहर हैं, बाकीके सभी धर्म-पन्थ 'हिन्दूधर्म' मे शामिल हैं। बौद्धधर्म भी जिसका कि मुख्य और बहुभाग हिन्दुस्तानके बाहर है, हिन्दूधर्मका ही एक भाग है, भले ही उसके अनुयायी अनेक दूरवर्ती देशोंमें फैले हुए हैं। धर्मकी दृष्टिसे तो बौद्धधर्म हिन्दूधर्मकी ही एक शाखा है।

वास्तविक दृष्टिसे सारा जैनसमाज हिन्दुस्तानमें ही पहलेसे बसता चला आया है और आज भी बस रहा है। इसलिए जैन जिस तरह समाजकी दृष्टिसे हिन्दूसमाजकी एक शाखा हैं, उसी तरह धर्मकी दृष्टिसे भी हिन्दूधर्मका एक मुख्य और प्राचीन भाग है। जो लोग 'हिन्दूधर्म' शब्दसे केवल 'वैदिक धर्म' समझते हैं वे न तो जैनसमाज और जैनधर्मका इतिहास जानते हैं और न हिन्दूसमाज और हिन्दूधर्मका। अपने कामचलाऊ छिछले ज्ञानके बलपर जैन-धर्मको हिन्दूधर्मसे जुदा गिननेका साहस करना स्पष्टतया अपनी हँसी कराना है।

भारतके या विदेशोंके प्रसिद्ध विद्वानोंने जब जब हिन्दूदर्शन या हिन्दूधर्मके सम्बन्धमें लिखा है, तब तब वैदिक, बौद्ध और जैन तत्त्वज्ञान और धर्मकी सभी परम्पराओंको लेकर विचार किया है। जिन्होंने हिन्दू साहित्यका इतिहास लिखा है उन्होंने भी जैन-साहित्यको हिन्दू साहित्यकी एक शाखाके रूपमें ही स्थान दिया है। सर राधाकृष्णनकी 'इंडियन फिलासफी' डॉ० दासगुप्ता आदिके दर्शन ग्रन्थ, आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुवकी 'हिन्दूधर्मकी बालपोथी' और दीवान नर्मदाशंकर मेहताका 'हिन्द तत्त्वज्ञानका इतिहास' आदिमें वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीनों ही जीवन्त भारतीय धर्म-परम्पराओंका हिन्दूधर्मके रूपमें वर्णन किया है।

इस तरह जैनधर्म हिन्दूधर्मके अन्तर्गत हो जाता है, फिर भी यह प्रश्न खड़ा ही रह जाता है कि जब हरिजन मूलमें ही जैनधर्मके अनुयायी नहीं हैं और जैनसमाजके अंग भी नहीं है, तब उनके लिए बननेवाला कानून वे हिन्दूसमा-जके जिस भागके अंश हों अथवा हिन्दूधर्मकी जिस शाखाके अनुयायी हों उसी हिन्दूसमाज और हिन्दूधर्मके भागको लागू होना चाहिए न कि समस्त हिन्दू-समाज और समस्त हिन्दूधर्मको। न तो जैन अपने समाजमें हरिजनोंको गिनते

हैं और न हरिजन ही अपनेको जैनसमाजका अंश मानते हैं। इसी तरह हरिजनोंमें जैनधर्मके एक भी विशिष्ट लक्षणका आचरण नहीं है और न वे जैनधर्म धारण करनेका दावा ही करते हैं। हरिजनोंमें चाहे जितनी जातियाँ हों, पर जो क्रिश्चियन और मुसलमान नहीं हुए हैं वे सभी शंकर, राम, कृष्ण, दुर्गा, काली आदि वैदिक और पौराणिक परम्पराके देवोंको ही मानते, भजते और पूजते हैं। इसी तरह वैदिक या पौराणिक तीर्थों, पर्वतिथियों और व्रत नियमोंको पालते हैं। प्राचीन या अर्वाचीन हरिजन सन्तोंको भी वैदिक और पौराणिक परम्परामे ही स्थान मिला है। इस लिए हरिजनोंको हिन्दूसमाजका अग और हिन्दू धर्मका अनुयायी मान लेनेपर उनका समावेश हिन्दूसमाजकी वैदिक-पौराणिक परम्परामें ही हो सकता है, जैन परम्परामें तो किसी भी तरह नहीं। इसलिए दूसरे पक्षवालोंको यदि हरिजन-मन्दिर-प्रवेशसे जैन समाजको मुक्त रखना है तो यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि जैनधर्म हिन्दूधर्मसे जुदा है। अधिकसे अधिक इतना ही कहना चाहिए कि हरिजन भी हिन्दू हैं, जैन भी हिन्दू हैं। जैनधर्म हिन्दूधर्मका एक भाग है, फिर भी हरिजन जैन समाजके अंग नहीं हैं और न वे जैनधर्मके अनुयायी हैं। हिन्दू समाज और हिन्दू धर्मको एक शरीर माना जाय और उसके अवान्तर भेदोंको हाथ पैर, अँगूठा या अँगुली जैसा अवयव माना जाय, तो हरिजन हिन्दूधर्मका अनुसरण करनेवाले हिन्दूसमाजके एक बड़े भाग —वैदिक पौराणिक धर्मानुयायी समाज—में ही स्थान पा सकते हैं न कि जैन समाजमें। हरिजन हिन्दू हैं और जैन भी हिन्दू हैं, इससे हरिजन और जैन अभिन्न सिद्ध नहीं हो सकते, जैसे कि ब्राह्मण और राजपूत या राजपूत और मुसलमान। मनुष्य-समाजके ब्राह्मण, राजपूत और मुसलमान सभी अग हैं, फिर भी वे मनुष्य होकर भी भीतर भीतर बिलकुल भिन्न हैं। इसी तरह हरिजन और जैन हिन्दू होकर भी भीतर ही भीतर समाज और धर्मकी दृष्टिसे बिलकुल जुदे हैं। यदि दूसरे पक्षवाले ऐसा विचार रखते हैं तो वे साधार कहे जा सकते हैं। अतः अब इसी पक्षके ऊपर विचार करना उचित है। हम यहाँ यदि जैनधर्मके असली प्राणको न पहिचानें तो प्रस्तुत विचार अस्पष्ट रह जायगा और चिर कालसे चली आनेवाली भ्रान्तियाँ चालू ही रहेंगी।

प्रत्येक धर्मका एक विशिष्ट ध्येय होता है, जैन धर्मका भी एक विशिष्ट

ध्येय है और वही जैन धर्मका असली प्राण है। वह ध्येय है—"मानवताके सर्वांगीण विकासमें आनेवाली सभी बाधाओंको हटाकर सार्वत्रिक निरपवाद भूतदयाका आचारण करना, अर्थात् आत्मौपम्यके सिद्धान्तके आधारसे प्राणिमात्रको और खासकर मनुष्यमात्रको ऊँच-नीच, गरीबी-अमीरी या इसी प्रकारके जातिगत भेद-भावके विना सुख सुविधा और विकासका पूर्ण अवसर देना।" इस मूलभूत ध्येयसे जैन धर्मके नीचे लिखे विशिष्ट लक्षण फलित होते हैं—

१–किसी भी देवी देवताके भय या अनुग्रहसे जीनेके अन्ध-विश्वाससे मुक्ति पाना।

२–ऐसी मुक्तिके बाधक शास्त्र या परम्पराओंको प्रमाण माननेसे इंकार करना।

३–ऐसे शास्त्र या परम्पराओंके ऊपर एकाधिपत्य रखनेवाले और उन्हीके आधारसे जगत्में अन्धविश्वासोंकी पुष्टि करनेवाले वर्गको गुरु माननेसे इंकार करना।

४–जो शास्त्र या जो गुरु किसी न किसी प्रकार हिंसाका या धर्मक्षेत्रमें मानव-मानवके बीच असमानताका स्थापन या पोषण करते हों, उनका विरोध करना और साथ ही गुणकी दृष्टिसे सबके लिए धर्मके द्वार खुले रखना।

इनसे तथा इनसे फलित होनेवाले धर्मके दूसरे ऐसे ही लक्षणोंसे जैनधर्मकी आत्मा पहिचानी जा सकती है। इन्हीं लक्षणोंसे जैन आचार-विचारका और उसके प्रतिपादक शास्त्रोंका स्वरूप बना है। जैन भगवान् महावीर या ऐसे ही किसी पुरुषको क्रान्तिकारी सुधारक या पूज्य समझते हैं। उनके सुधारकत्व या पूज्यत्वकी कसौटी पूर्वोक्त जैनधर्मके प्राणोंको अपने जीवनमें उतारनेकी शक्ति और प्रवृत्ति ही है। जिनमें यह शक्ति न हो उन्हें जैन गुरु या पूज्य नहीं मान सकते। और जो इस ध्येयके मानने या मनवानेमें बाधा डालता है, उसके पीछे जैन नहीं चल सकते। इस सम्बन्धमें किसी भी जैनको किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं हो सकती। जैनधर्मका विचार इस दृष्टिसे ही हो सकता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जैनधर्मके अनुयायी सदासे धर्मके निमित्त होनेवाली हिंसाका विरोध करते आये हैं और अहिंसाकी प्रतिष्ठामें अपना पूरा-पूरा हिस्सा

बँटाते रहे हैं। इसीलिये जैन अपनेको सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ माननेवाले ब्राह्मणवर्गको गुरु माननेसे इंकार करते हैं और ऊँच-नीच-भेदके बिना चाहे जिस वर्णके धर्मजिज्ञासुको अपने संघमें स्थान देते हैं। यहाँ तक कि जो समाजमें सबसे नीच समझा जाता है और तिरस्कारका पात्र होता है, उस चाण्डालको भी जैनोंने गुरुपदपर बिठाया है। साथ ही जो उच्चत्वाभिमानी ब्राह्मण जैन श्रमणोंको उनकी क्रान्तिकारी प्रवृत्तिके कारण अदर्शनीय या शूद्र समझते थे, उनको भी समानताके सिद्धान्तको सजीव बनानेके लिए अपने गुरुवर्गमें स्थान दिया हैं।

जैन आचार्योंका यह क्रम रहा है कि वे सदासे अपने ध्येयकी सिद्धिके लिए स्वय शक्तिभर भाग लेते हैं और आसपासके शक्तिशाली लोगोंकी सत्ताका भी अधिकसे अधिक उपयोग करते हैं। जो कार्य वे स्वयं सरलतासे नहीं कर सकते, उस कार्यकी सिद्धिके लिए अपने अनुयायी राजाओं-मंत्रियों और दूसरे अधिकारियों तथा अन्य समर्थ लोगोंका पूरा-पूरा उपयोग करते हैं। जैनधर्मकी मूल प्रकृति और आचार्य तथा विचारवान् जैनगृहस्थोंकी धार्मिक प्रवृत्ति, इन दोनोंको देखते हुए यह कौन कह सकता है कि यदि हरिजन स्वयं जैन धर्मस्थानोंमें आना चाहते हैं तो उन्हें आनेसे रोका जाय? जो कार्य जैन धर्मगुरुओं और जैन संस्थाओंका था और होना चाहिए था वह उनके अज्ञान या प्रमादके कारण बन्द पड़ा था; उसे यदि कोई दूसरा समझदार चालू कर रहा हो, तो ऐसा कौन समझदार जैन है जो इस कामको अपना ही मानकर उसे बढ़ानेका प्रयत्न नहीं करेगा? और अपनी अब तककी अज्ञानजन्य भूल सुधारनेके बदले यह कार्य करनेवालेको धन्यवाद नहीं देगा? इस तरह यदि हम देखें तो बंबई सरकारने जो कानून बनाया है वह स्पष्ट रूपसे जैनधर्मका ही कार्य है। जैनोंको यही मानकर चलना चाहिए कि 'हरिजन-मन्दिर-प्रवेश' बिल उपस्थित करनेवाले माननीय सदस्य और उसे कानूनका रूप देनेवाली बम्बई सरकार एक तरहसे हेमचन्द्र, कुमारपाल और हीरविजयजीका कार्य कर रही है। इसके बदले अपने मूलभूत ध्येयसे उलटी दिशामें चलना तो अपने धर्मकी हार और सनातन वैदिक परम्पराकी जीत स्वीकार करना है। हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल चाहे जिस व्यक्तिने उपस्थित किया हो और चाहे जिस सरकारके अधिकारमें हो, पर इसमें

विजय तो जैनधर्मकी असली आत्माकी ही है। इस विजयसे प्रसन्न होनेके बदले अपनी धर्मच्युति और प्रमादपरिणतिको ही धर्म मानकर एक सत्कार्यका कल्पित दलीलोंसे विरोध करना और चाहे जो हो, जैनत्व तो नहीं है।

जैनी सुदूर प्राचीनकालसे जिस तरह अपने त्यागी-संघमें जाति और लिंगके भेदकी अपेक्षा न करके सबको स्थान देते आये हैं, उसी तरह वे सदासे अपने धर्मस्थानोंमें जन्मसे अजैन व्यक्तियोंको समझाकर, लालच देकर, परिचय बढ़ाकर तथा अन्य रीतियोंसे ले जानेमें गौरव भी मानते आये हैं। कोई भी विदेशी, चाहे पुरुष हो या स्त्री, कोई भी सत्ताधारी या वैभवशाली चाहे पारसी हो या मुसलमान, कोई भी शासक चाहे ठाकुर हो या भील, जो भी सत्ता सम्पत्ति और विद्यामें उच्च समझा जाता है उसे अपने धर्मस्थानोंमें किसी न किसी प्रकारसे ले जानेमें जैन धर्मकी प्रभावना समझते आये हैं। जब ऐसा व्यक्ति स्वयं ही जैनधर्मस्थानोंमें जानेकी इच्छा प्रदर्शित करता है, तब तो जैन गृहस्थों और त्यागियोंकी खुशीका कोई ठिकाना ही नहीं रहता। यह स्थिति अबतक सामान्यरूपसे चली आई है। कोई त्यागी या गृहस्थ यह नहीं सोचता कि मन्दिर और उपाश्रयमें आनेवाला व्यक्ति रामका नाम लेता है या कृष्णका, अहुरमज्द, खुदा या ईसाका? उसके मनमें तो केवल यही होता है कि भले ही वह किसी पन्थका माननेवाला हो, किसीका नाम लेता हो, किसीकी उपासना करता हो, चाहे मासभक्षी हो या मद्यपायी, यदि वह स्वयं या अन्यकी प्रेरणासे जैनधर्मस्थानोंमें एकाध बार भी आयेगा, तो कुछ न कुछ प्रेरणा और बोध ग्रहण करेगा, कुछ न कुछ सीखेगा। यह उदारता चाहे ज्ञानमूलक हो चाहे निर्बलतामूलक, पर इसका पोषण और उत्तेजन करना हर तरहसे उचित है। हेमचन्द्र जब सिद्धराजके पास गये थे तो क्या वे नहीं जानते थे कि सिद्धराज शैव है? जब हेमचन्द्र सोमनाथ पाटनके शैव मन्दिरमें गये तब क्या वे नहीं जानते थे कि यह शिवमन्दिर है? जब सिद्धराज और कुमारपाल उनके उपाश्रयमें पहले पहल आये तब क्या उन्होंने राम-कृष्णका नामका लेना छोड़ दिया था, केवल अरहतका नाम रटते थे? जब हीरविजयजी अकबरके दरबारमें गये तब क्या अकबरने या उसके दरबारियोंने खुदा या मुहम्मद पैगम्बरका नाम लेना छोड़ दिया था? अथवा जब अकबर हीरविजयजीके उपाश्रयमें आये तब क्या उन्होंने खुदाका नाम ताकमें रखकर अरहंतके नामका

उच्चारण शुरू कर दिया था ? यह सब कुछ नहीं था। यह सब होते हुए भी जैनी पहलेसे आज तक सत्ताधारी प्रभावशाली और सम्पत्तिशाली प्रत्येक जाति या वर्गके मनुष्यको अपने धर्म-स्थानोंके द्वार खुले रखते थे। तब प्रश्न होता है कि ये लोग फिर आज हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिलका इतना उग्र विरोध क्यों कर रहे हैं ? जो वस्तु इस परम्पराके प्राणोंमें नहीं थी वह हाड़ोंमें कहाँसे आ गई ?

इसका उत्तर जैन-परम्पराकी निर्बलतामें है। गुरु-संस्थामें व्याप्त जाति-समानताका सिद्धान्त जैनोंने मर्यादित अर्थमें लागू किया है, क्योंकि आज भी जैन-गुरुसंस्थामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, अँग्रेज, पारसी आदि कोई भी समान सम्मान्य स्थान पा सकता है। यहाँ मैं 'मर्यादित अर्थमें' इसलिए कह रहा हूँ कि जिस गुरुसंस्थामें किसी समय हरिकेशी और मेतार्य जैसे अस्पृश्योंको पूज्य पद प्राप्त हुआ था उसमें उसके बाद अस्पृश्योंको स्थान मिला हो, ऐसा इतिहास नहीं है। इतना ही नहीं, अस्पृश्योंका उद्धारकर उन्हें स्पृश्य बनाने तथा मनुष्यकी सामान्य भूमिकापर लानेके मूल जैन सिद्धान्तको भी जैन लोग बिल-कुल भूल गये है। जैनोंके यहाँ हरिजनोंका अनिवार्य प्रवेश है। केवल गृहस्थोंके घरोंमें ही नहीं, धर्मस्थानोंमें भी, इच्छा या अनिच्छासे, हरिजनोंका प्रवेश अनिवार्य हैं। पर यह प्रवेश स्वार्थप्रेरित है। अपने जीवनको कायम रखने और स्वच्छता तथा आरोग्यके लिए न चाहते हुए भी वे हरिजनोंको अपने घरों तथा धर्मस्थानोंमें बुलाते हैं। जब धर्मस्थानोंकी स्वच्छताके लिए हरिजन आते हैं, तब क्या वे उन देवोंका नाम लेते हैं ? और क्या जैनोंको उस समय इस बातकी परवाह होती है कि वे जिनदेवका नाम ले रहे हैं या नहीं ? उस समय उनकी गरज है, अतः वे कोई दूसरा विचार नहीं करते। पर जब वे ही हरिजन स्वच्छ होकर जैनधर्मस्थानोंमें आना चाहते हैं अथवा उनके मन्दिर-प्रवेशमें बाधक रूढ़ियोंको तोड़नेके लिए कोई कानून बनाया जाता है, तब जैनोंको याद आ जाती है कि यह अरहंतका अनु-यायी नहीं है, यह अरहंतका नाम नहीं लेता, यह तो महादेव या मुहम्मदका माननेवाला है। यह है जैनोंकी आजकी धर्मनिष्ठा !

इस प्रश्नको एक दूसरे प्रकारसे सोचिए। कल्पना कीजिए कि अस्पृश्य

वर्ग 'क्रमशः ऊँचे ऊँचे शासकपदोंपर पहुँच जाय, जैसे कि क्रिश्चियन हो जानेके बाद वह ऊँचे पदोंपर पहुँचता है, और उसका पहुँचना निश्चित है। इसी तरह शिक्षा या व्यापारद्वारा वह समृद्धिशाली हो उच्चाधिकारी बन जाय जैसे कि आज डॉ॰ अम्बेडकर आदि हैं, उस समय क्या जैन लोग उनके लिए अपने धर्मस्थानोंमें दूसरे लोगोंकी तरह प्रतिबन्ध लगायेंगे ? और क्या उस समय भी बिलके विरोधकी तरह उनका सीधा विरोध करेंगे ? जो लोग जैन-परम्पराकी वैश्य प्रकृतिको जानते हैं वे निःशंक कह सकते हैं कि जैन उस समय अस्पृश्य वर्गका उतना ही आदर करेंगे जितना कि अतीतकालमें क्रिश्चियन मुसलमान पारसी तथा अन्य विधर्मी उच्च शासकोंका करते आये हैं और अब करते हैं। इस चर्चाका निष्कर्ष यही है कि जैन लोग अपना धर्मसिद्धान्त भूल गये हैं और केवल सत्ता और धनकी प्रतिष्ठामें ही धर्मकी प्रतिष्ठा मानते हैं। अन्यथा यह कहनेका क्या अर्थ है कि 'हरिजन' हिन्दू होकर भी जैन नहीं हैं, अतः हम लोग जैन मन्दिरमें प्रवेश देनेवाले कानूनको नहीं मानना चाहते ? हरिजनोंके सिवाय अन्य सभी अजैन हिन्दुओंको जैन धर्मसंघ और धर्मस्थानोंमें आनेमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है, उलटे उन्हें अपने धर्मस्थानोंमें लानेके लिए विविध प्रयत्न किये जाते हैं। तो फिर हिन्दू समाजके ही एक दूसरे अंगरूप हरिजनोंको अपने धर्मस्थानों तथा अपनी शिक्षणसंस्थाओंमें स्वयं क्यों न बुलाया जाय ? धार्मिक सिद्धान्तकी रक्षा और गौरव इसीमें है। जैनोंको तो कहना चाहिए कि हमें बिल-फिल या धारा-बाराकी कोई आवश्यकता नहीं है, हम तो अपने धर्मसिद्धान्तके बलसे ही हरिजन या हर किसी मनुष्यके लिए अपना धर्मस्थान खुला रखते हैं और सदा ही वह सबके लिए उन्मुक्त-द्वार रहेगा। ऐसी खुली घोषणा करनेके बदले विरोध करना और उलटी सुलटी दलीलोंका वितण्डा खड़ा करना, इससे बढ़कर जैन धर्मकी नामोशी क्या हो सकती है ?

पर इस नामोशीकी परवाह न करनेवाला जो जैन मानस बन गया है उसके पीछे एक इतिहास है। जैन लोग व्यवहार-क्षेत्रमें ब्राह्मण-वर्गके जाति-भेदके सिद्धान्तके सामने सर्वदा झुकते आये हैं। भगवान् महावीरसे ही नहीं, उनसे भी पहलेसे प्रारम्भ हुआ 'जाति-समानता' का सिद्धान्त आज तकके जैन ग्रन्थोंमें एक सरीखा समर्थित हुआ है और शास्त्रोंमें इस सिद्धान्तके समर्थन

करनेमें ब्राह्मण वर्गका कोई प्रभाव स्वीकार नहीं किया गया है। फिर भी उन्हीं शास्त्रोंके लिखनेवाले, बाँचनेवाले और सुननेवाले जैन लोग हरिजनों या दलित लोगोंको धार्मिक क्षेत्रमें भी समानता देनेसे साफ इनकार कर देते हैं, इससे बढ़कर आश्चर्य और दुखकी बात क्या हो सकती है ?

पश्चिमका साम्यवाद हो, समानताके आधारसे रचा हुआ कांग्रेसी कार्यक्रम हो या गाँधीजीका अस्पृश्यता-निवारण हो, ये सब प्रवृत्तियाँ जो दलितोंका उद्धार करती हैं और मानवताके विकासमें आनेवाले रोड़ोंको दूर कर उसके स्थानमें विकासकी अनुकूलताएँ लाती हैं, क्या इनमें जैनधर्मका प्राण नहीं धड़कता ? क्या जैनधर्मके मूलभूत सिद्धान्तकी समझ और रक्षाका भार केवल जैनोंके ऊपर है ? क्या जैनधर्मके सिद्धान्तोंको अंकुरित और विकसित करनेके लिए परम्परासे चला आनेवाला जैनधर्मका ही बाड़ा चाहिए ? यदि नहीं, तो बिना परिश्रम और बिना खर्चके यदि जैनधर्मके सिद्धान्तोंके पुनरुज्जीवनका अवसर आता है, तो ऐसे मौकेपर जैनोंको हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिलको स्वीकार करने और बढ़ावा देनेके बदले उसका विरोध करना, सनातनी वैदिक वर्णाश्रम-संघकी पुष्टि करके प्राचीन जैनधर्म और श्रमणधर्मके विरोधी रुखको प्रोत्साहन देना है। इस दृष्टिसे जो विचार करेंगे, उन्हें यह लगे बिना नहीं रह सकता कि जो काम जैनपरम्पराका था और है और जिस कामको करनेके लिए जैनोंको ही आगे आना चाहिए था, संकट सहना चाहिए था और ब्राह्मणवर्गके वर्चस्वसे पराभूत जैनधर्मके तेजका उद्धार करना चाहिए था, वह सब कार्य मूलभूत सिद्धांतकी शुद्धिके बलसे स्वयमेव हो रहा है, उसमें साथ न देकर विरोध करना पिछली रोटी खाना और कर्त्तव्यभ्रष्ट होना है।

—प्रस्थान

विचार-कणिका

['संसार और धर्म 'की प्रस्तावना*]

यों तो इस संग्रहका प्रत्येक लेख गहन है किन्तु कुछ तो ऐसे हैं कि जो बड़ेसे बड़े विद्वान् या विचारककी भी बुद्धि और समझकी कसौटी करते हैं। विषय विविध हैं। दृष्टिबिन्दु अनेक विध हैं। समालोचना मूलगामी है। अतएव समस्त पुस्तकका रहस्य तो समस्त लेखोंको पढ़कर विचार कर ही प्राप्त किया जा सकता है फिर भी दोनों लेखकोंके प्रत्यक्ष परिचय और इस पुस्तकके वाचनसे मैं जो कुछ समझ पाया हूँ और जिसने मेरे मनपर गहरी छाप जमाई है उससे सम्बद्ध कुछ बातोंकी ही यहाँ चर्चा करता हूँ।

(१) धर्म और तत्त्व-चिन्तनकी दिशा एक हो तभी दोनों सार्थक बन सकते हैं।

(२) कर्म और उसके फलका नियम सिर्फ वैयक्तिक न होकर सामूहिक भी है।

(३) मुक्ति कर्मके विच्छेद या चित्तके विलयमें नहीं है किन्तु दोनोंकी उत्तरोत्तर शुद्धिमें है।

(४) मानवताके सद्गुणोंका रक्षा, पुष्टि और वृद्धि यही परम ध्येय है।

१—तत्त्वज्ञान अर्थात् सत्यशोधनके प्रयत्नोंमेंसे फलित हुए और होनेवाले सिद्धान्त। धर्म अर्थात् उन सिद्धान्तोंके अनुसरणद्वारा निर्मित वैयक्तिक और सामूहिक जीवन-व्यवहार। यह सच है कि एक ही व्यक्ति या समूहकी योग्यता और शक्ति सदैव एक-सी नहीं होती। अतएव भूमिका और अधिकार-भेदके

---

* नवजीवन संघद्वारा प्रकाशित गुजराती पुस्तक। लेखक—श्री किशोरलाल मशरूवाला और केदारनाथजी।

आधारसे धर्ममें अन्तर होता है। इतना ही नहीं किन्तु धर्माचरणमें अधिक पुरुषार्थ अपेक्षित होनेसे वह गतिकी दृष्टिसे तत्त्वज्ञानसे पिछड़ भी जाता है। फिर भी यदि दोनोंकी दिशा ही मूलसे भिन्न हो तो तत्त्वज्ञान कितना भी गहरा तथा सच्चा क्यों न हो, धर्म उसके प्रकाशसे वंचित ही रहेगा और फलस्वरूप मानवताका विकास अवरुद्ध हो जायगा। तत्त्वज्ञानकी शुद्धि, वृद्धि और परिपाक जीवनमें धर्मकी परिणतिके बिना असंभव है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानके आलम्बनसे शून्य धर्म जडता और वहमसे मुक्त नहीं हो सकता। अतएव दोनोंमें दिशा-भेद होना घातक है। इस वस्तुको एकाध ऐतिहासिक दृष्टान्तके द्वारा समझना सरल होगा। भारतीय तत्त्वज्ञानके तीन युग स्पष्ट हैं। प्रथम युग आत्मवैषम्यके सिद्धान्तका, दूसरा आत्मसमानताके सिद्धान्तका, और तीसरा आत्माद्वैतके सिद्धान्तका। प्रथम सिद्धातके अनुसार माना गया था कि प्रत्येक जीव मूलतः समान नहीं है। प्रत्येक स्वकर्माधीन है और प्रत्येकके कर्म विषम और प्रायः विरुद्ध होनेसे तदनुसार ही जीवकी स्थिति और उसका विकास संभव है। इसी मान्यताके आधारपर ब्राह्मण-कालके जन्मसिद्ध धर्म और संस्कार निश्चित हुए हैं। इसमें किसी एक वर्गका अधिकारी अपनी कक्षामें रह कर ही विकास कर सकता है, उस कक्षासे बाहर जाकर वर्णाश्रम-धर्मका आचरण नहीं कर सकता। इन्द्रपद या राज्यपदकी प्राप्तिके लिए अमुक धर्मका आचरण आवश्यक है किन्तु उसका हर कोई आचरण नहीं कर नहीं सकता और न करा सकता है। इसका अर्थ यही है कि कर्मकृत वैषम्य स्वाभाविक है और जीवगत समानता होनेपर भी वह व्यवहार्य नहीं है। आत्मसमानताके दूसरे सिद्धान्तानुसार घटित आचरण इससे बिल्कुल भिन्न है। उसमें किसी भी अधिकारी या जिज्ञासुको किसी भी प्रकारके कर्मसंस्कारके द्वारा अपना विकास करनेका स्वातंत्र्य है। उसमें आत्मौपम्यमूलक अहिंसा-प्रधान यम-नियमोंके आचरणपर ही भार दिया जाता है। उसमें कर्मकृत वैषम्यकी अवगणना नहीं है किन्तु समानतासिद्धिके प्रयत्नोंके द्वारा उसके निवारणपर ही भार दिया जाता है। आत्माद्वैतका सिद्धान्त तो समानताके सिद्धान्तसे भी एक कदम आगे बढ़ गया है। उसमें व्यक्ति-व्यक्तिके बीच कोई वास्तविक भेद नहीं है। उस अद्वैतमें तो समानताका व्यक्तिभेद भी लुप्त हो जाता है अतएव उस सिद्धान्तमें कर्मसंस्कारजन्य वैषम्यको सिर्फ निवारण

योग्य ही नहीं माना किन्तु उसे बिल्कुल काल्पनिक माना गया है। किन्तु हम देखते हैं कि आत्म-समानता और आत्माद्वैतके सिद्धान्तको कट्टरतासे माननेवाले भी जीवन-व्यवहारमें कर्मवैषम्यको ही साहजिक और अनिवार्य मानकर चलते हैं। यही कारण है कि आत्म-समानताके प्रति अनन्य पक्षपात रखनेवाले जैन या वैसे ही दूसरे पंथके लोग जातिगत उच्च-नीचताको मानो शाश्वत मानकर ही व्यवहार करते हैं। इसके कारण स्पर्शास्पर्शका मारणान्तिक विष समाजमें व्याप्त हो गया है, फिर भी इस भ्रमसे वे मुक्त नहीं होते। स्पष्ट है कि उनका सिद्धान्त एक दिशामें है, और धर्म-जीवन-व्यवहार दूसरी दिशामें। यही स्थिति अद्वैत सिद्धान्तका अनुसरण करनेवालोंकी है। वे द्वैतको तनिक भी अवकाश न देकर अद्वैतकी तो बातें करते हैं, किन्तु उनका, यहां तक कि संन्यासियोंका भी, आचरण द्वैत और कर्मवैषम्यके अनुसार ही होता है। परिणाम यह है कि तत्त्वज्ञानका विकास अद्वैत तक होनेपर भी उससे भारतीय जीवनको कोई लाभ नहीं हुआ। उल्टा वह आचरणकी दुनियामें फँसकर छिन्नभिन्न हो गया है। यह एक ही दृष्टान्त इस बातकी सिद्धिके लिए पर्याप्त है कि तत्त्वज्ञान और धर्मकी दिशा एक होना आवश्यक है।

२—अच्छी बुरी हालत, उन्नत-अवनत अवस्था और सुखदुःखकी सार्वत्रिक विषमताका पूर्णरूपसे खुलासा केवल ईश्वरवाद या ब्रह्मवादमेंसे मिलनेका संभव नहीं था, अतएव स्वाभाविक रूपसे ही परापूर्वसे प्राप्त वैयक्तिक कर्मफलका सिद्धान्त, मनचाहे प्रगतिशील-वादको स्वीकार कर लेनेपर भी—अधिकाधिक दृढ होता गया। 'जो करे वही भोगे' 'प्रत्येकका भाग्य भिन्न है' 'बोवे वही काटे' 'काटनेवाला और फल चखनेवाला एक और बोनेवाला दूसरा, यह असभव है' ये सब खयालात केवल वैयक्तिक कर्मफलके सिद्धान्तके आधारसे रूढ हुए और सामान्य रूपसे प्रजा-जीवनके प्रत्येक अंगमें इतने गहरे दृढमूल हो गये कि यदि कोई कहता है कि 'किसी एक व्यक्तिका कर्म केवल उसीमें फल या परिणाम उत्पन्न नहीं करता किन्तु उसका असर उस कर्मकर्ता व्यक्तिके अलावा सामूहिक जीवनमें भी ज्ञात अज्ञात रूपसे फैल जाता है,' तो तथाकथित बुद्धिमान् वर्ग भी चकित हो जाता है और प्रत्येक सम्प्रदायके विद्वान् या विचारक उसके विरोधमें अपने शास्त्रीय प्रमाणोंका ढेर लगा देते हैं। इस कारण कर्मफलका नियम वैयक्तिक होनेके साथ ही

सामूहिक भी है या नहीं, और नहीं है तो कौन-सी असंगतियाँ या अनुपपत्तियाँ उपस्थित होती हैं और ऐसा हो तो उस दृष्टिसे ही समग्र मानव-जीवनके व्यवहारकी रचना करना चाहिए, इस बातपर कोई गहरा विचार करनेके लिए तैयार नहीं। सामूहिक कर्मफलके नियमकी दृष्टिसे शून्य सिर्फ वैयक्तिक कर्मफल-नियमके कारण मानव-जीवनके इतिहासमें आज तक क्या क्या बाधाएँ आई और उनका निवारण किस दृष्टिसे कर्मफलका नियम माननेपर हो सकता है, मैं नहीं जानता कि इस विषयमें किसीने इतना गहरा विचार किया हो। किसी एक भी प्राणीके दुःखी होनेपर मैं सुखी नहीं हो सकता, जब तक विश्व दुःखमुक्त न हो तब तक अरसिक मोक्षसे क्या लाभ? यह महायान-भावना बौद्धपरंपरामें उदित हुई थी। इसी प्रकार प्रत्येक संप्रदाय सर्व जगतके क्षेम-कल्याणकी प्रार्थना करता है और समस्त विश्वके साथ मैत्री बढ़ानेकी ब्रह्मवार्ता भी करता है किन्तु वह महायानी भावना या ब्रह्मवार्ता अंतमें वैयक्तिक कर्मफलवादके दृढ संस्कारोंसे टकराकर जीवनमें अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुई। पूज्य केदारनाथजी और मशरूवाला दोनों कर्मफलके नियमको सामूहिक दृष्टिसे सोचते हैं। मेरे जन्मगत और शास्त्रीय संस्कार वैयक्तिक कर्मफल-नियमके हैं, इससे मैं भी उसी प्रकार विचार करता था; किन्तु जैसे जैसे उसपर गभीरतासे विचार करता हूँ वैसे वैसे प्रतीत होता है कि कर्मफलके नियमके विषयमें सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे ही सोचना जरूरी है और सामूहिक जीवनकी जवाब-देहियोंको खयालमें रख कर जीवनके प्रत्येक व्यवहारकी घटना और आचरण होना चाहिए। जब वैयक्तिक दृष्टिका प्राधान्य होता है तब तत्कालीन चिंतक उसी दृष्टिसे अमुक नियमोंकी रचना करते हैं, इससे उन नियमोंमें अर्थ-विस्तार संभावित ही नहीं, ऐसा मानना देश-कालकी मर्यादामें सर्वथा बद्ध हो जाने जैसा है। जब सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे कर्मफलके नियमकी विचारणा और घटना होती है तब भी वैयक्तिक दृष्टि लुप्त नहीं हो जाती। उल्टा सामूहिक जीवनमें वैयक्तिक जीवन पूर्णरूपसे समाविष्ट हो जानेसे वैयक्तिक दृष्टि सामूहिक दृष्टि तक विस्तृत और अधिक शुद्ध होती है। कर्मफलके नियमकी सच्ची आत्मा तो यही है कि कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता और कोई भी परिणाम बिना कारण नहीं होता। जैसा परिणाम वैसा ही उसका कारण होना चाहिए। अच्छा परिणाम चाहनेवाला यदि अच्छा कर्म

न करे, तो वह वैसा परिणाम प्राप्त नहीं कर सकता। कर्म-फल-नियमकी इस आत्माका सामूहिक दृष्टिसे कर्म-फलको घटाने पर भी लोप नहीं होता। सिर्फ वह वैयक्तिक सीमाके बन्धनसे मुक्त होकर जीवन-व्यवहारकी घटनामें सहायक होता है। आत्म-समानताके सिद्धान्तानुसार या आत्माद्वैतके सिद्धान्तानुसार किसी भी प्रकारसे सोचें, एक बात सुनिश्चित है कि कोई भी व्यक्ति समूहसे सर्वथा भिन्न नहीं है, रह भी नहीं सकता। एक व्यक्तिके जीवन-इतिहासके सुदीर्घ पटपर दृष्टि डालकर सोचें; तो शीघ्र स्पष्ट हो जायगा कि उसमें पूर्वकालके एकत्र हुए और वर्तमानके नये संस्कारोंमें साक्षात् या परंपरासे अन्य असंख्य व्यक्तियोंके संस्कार भी कारण हैं और वह व्यक्ति भी जिन संस्कारोंका निर्माण करता है वे सिर्फ उसी तक मर्यादित नहीं रहते किन्तु अन्य व्यक्तियोंमें भी साक्षात् या परपरासे संक्रान्त होते रहते हैं। वस्तुतः समूह या समष्टि यह व्यक्ति या व्यष्टिका पूर्ण जोड़ है।

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म और फलके लिए पूर्ण रूपसे उत्तरदायी हो और अन्य व्यक्तियोंसे अत्यन्त स्वतन्त्र होनेसे उसके श्रेय अश्रेयका विचार उसीके अधीन हो, तो फिर सामूहिक जीवनका क्या अर्थ होगा? क्योंकि बिल्कुल भिन्न, स्वतन्त्र और पारस्परिक असरसे मुक्त व्यक्तियोका सामूहिक जीवनमे प्रवेश तो केवल आकस्मिक घटना ही माननी होगी। यदि सामूहिक जीवनसे वैयक्तिक जीवन अत्यन्त भिन्न संभवित नहीं है ऐसा अनुभवसे सिद्ध है, तो तत्त्वज्ञान भी उसी अनुभवके आधारपर प्रतिपादन करता है कि व्यक्ति व्यक्तिके बीच कितना ही भेद क्यों न दीखता हो फिर भी प्रत्येक व्यक्ति किसी ऐसे एक जीवनसूत्रसे ओतप्रोत है कि उसीके द्वारा वे सभी व्यक्ति आपसमें सकलित हैं। यदि वस्तुस्थिति ऐसी है तो कर्मफलके नियमका भी विचार और उसकी घटना इसी दृष्टिसे होनी चाहिए। अब तक आध्यात्मिक श्रेयका विचार भी प्रत्येक संप्रदायमें वैयक्तिक दृष्टिसे ही हुआ है। व्यावहारिक लाभालाभका विचार भी उसी दृष्टिसे हुआ है। इसके कारण जिस सामूहिक जीवनके बिना हमारा काम नहीं चलता, उसको लक्ष्य करके श्रेय या प्रेयका मौलिक विचार या आचारका निर्माण ही नहीं हो पाया है। सामूहिक कल्याणार्थ बनाई जानेवाली योजनाएँ इसी लिए या तो पद पद पर भग्न हो जाती हैं या निर्बल होकर खटाईमें पड़ जाती हैं।

विश्व-शान्तिका सिद्धान्त निश्चित होता है किन्तु उसका हिमायती प्रत्येक राष्ट्र फिर वैयक्तिक दृष्टिसे ही सोचने लग जाता है। इसीसे न तो विश्व-शांति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय उन्नति स्थिरताको प्राप्त होती है। यही न्याय प्रत्येक समाजमें लागू होता है। किन्तु यदि सामूहिक जीवनकी विशाल और अखण्ड दृष्टिका उन्मेष किया जाय और उसी दृष्टिके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी जवाबदेहीकी मर्यादाको विकसित करे, तो उसके हिताहितकी दूसरोंके हिताहितोंसे टक्कर नहीं होगी और जहाँ वैयक्तिक हानि दीखती होगी वहाँ भी सामूहिक जीवनके लाभकी दृष्टि उसे सतोष देगी। उसका कर्तव्य-क्षेत्र विस्तृत हो जानेसे उसके सम्बन्ध भी व्यापक बन जायँगे और वह अपनेमें एक 'भूमा' का साक्षात्कार करेगा।

३—दुःखसे मुक्त होनेके विचारमेंसे ही उसके कारणभूत कर्मसे मुक्त होनेका विचार स्फुरित हुआ। ऐसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन-व्यवहारका उत्तरदायित्व स्वतः ही बन्धनरूप है। उसका अस्तित्व जब तक है, तब तक पूर्ण मुक्ति संभव ही नहीं। इस धारणामेंसे कर्ममात्रकी निवृत्तिके विचारमेंसे श्रमण-परंपराका अनगारमार्ग और सन्यास-परम्पराका वर्ण-कर्म-धर्मसन्यास फलित हुआ। किन्तु उसमें जो विचार-दोष था वह शनैःशनैः सामूहिक जीवनकी निर्बलता और बिन-जवाबदेहीके द्वारा प्रकट हुआ। जो अनगार हुए या जिन्होंने वर्ण-कर्म-धर्मका त्याग किया, उन्हें भी जीना तो था ही। हुआ यह कि उनका जीवन अधिक मात्रामें परावलम्बी और कृत्रिम हो गया। सामूहिक जीवनके बंधन टूटने और अस्त-व्यस्त होने लगे। इस अनुभवसे सीख मिली कि केवल कर्म बंधन नहीं है किन्तु उसमें रहनेवाली तृष्णा वृत्ति या दृष्टिकी सकुचितता और चित्तकी अशुद्धि ही बन्धनरूप है। इन्हींसे दुःख होता है। इसी अनुभवका निचोड़ है अनासक्त कर्मवादके प्रतिपादनमें। इस पुस्तकके लेखकोंने उसमें संशोधन करके कर्मशुद्धिका उत्तरोत्तर प्रकर्ष सिद्ध करनेको ही महत्त्व दिया है और उसीमें मुक्तिका साक्षात्कार करनेका प्रतिपादन किया है। पाँवमें सुई घुस जाय तो निकाल कर फेंक देनेवालेको सामान्य रूपसे कोई बुरा नहीं कहेगा। किन्तु जब सुई फेंकनेवाला पुनः सीनेके लिए या अन्य प्रयोजनसे नई सुईकी तलाश करेगा और न मिलनेपर अधीर होकर दुःखका अनुभव करेगा, तब बुद्धिमान मनुष्य उससे अवश्य कहेगा कि तुमसे भूल हुई

है। सुईका निकालना तो ठीक है क्योंकि वह अस्थानमें थी। किन्तु यदि उसकी भी जीवनमें आवश्यकता है, तो उसे फेंक देना अवश्य भूल है। यथावत् उपयोग करनेके लिए योग्यरूपसे उसका संग्रह कर रखना ही पाँवमेंसे सुई निकालनेका ठीक प्रयोजन है। जो न्याय सुईके लिए है, वही न्याय सामूहिक कर्मके लिए है। सिर्फ वैयक्तिक दृष्टिसे जीना सामूहिक जीवनकी दृष्टिमें सुई भोंकने जैसा है। उस सुईको निकाल कर उसका यथावत् उपयोग करनेका मतलब है सामूहिक जीवनकी जवाबदेही समझपूर्वक स्वीकार करके जीना। ऐसा जीवन व्यक्तिके लिए जीवन-मुक्ति है। जैसे जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी वासनाशुद्धिके द्वारा सामूहिक जीवनके मैलको कम करता रहेगा, वैसे वैसे सामूहिक जीवन विशेष रूपसे दुःखमुक्त होता जायगा। इस प्रकार विचार करनेसे कर्म ही धर्म प्रतीत होगा। अमुक फल अर्थात् रसके अलावा छाल भी। यदि छाल न हो, तो रस टिक नहीं सकता और बिना रसकी छाल भी फल नहीं। इसी प्रकार धर्म तो कर्मका रस है और कर्म केवल धर्मकी छाल है। दोनों जब यथावत् संमिश्रित हों, तभी जीवन-फल प्रकट हो सकता है। कर्मरूप आलम्बनके बिना वैयक्तिक और सामूहिक जीवनकी शुद्धिरूप धर्म रहेगा कहाँ? और यदि ऐसी शुद्धि न हो तो उस कर्मका छालसे अधिक मूल्य भी क्या होगा? इस प्रकारका धर्म-कर्म-विचार इन लेखोंमें ओतप्रोत है। विशेषता यह है कि लेखकोंने मुक्तिकी भावनाका भी विचार सामुदायिक जीवनकी दृष्टिसे किया है और संगति बैठाई है।

कर्म-प्रवृत्तियाँ नाना प्रकारकी हैं। किन्तु उन सबका मूल चित्तमें है। कभी योगियोंने निर्णय किया कि जब तक चित्त है तब तक विकल्प उद्‌भूत होते रहेंगे और विकल्पोंके होनेसे शांतिका अनुभव नहीं होगा। अतएव 'मूले कुठारः' के न्यायसे वे चित्तके विलय करनेको ही प्रवृत्त हो गये और कई लोगोंने मान लिया कि चित्त-विलय ही मुक्ति है और वही परम साध्य है। मानवताके विकासका विचार तो इसमें उपेक्षित-सा ही रह गया। यह भी कर्मको बन्धन मानकर उसके त्यागके जैसी ही भूल थी। उक्त विचारमें अन्य विचारकोंने संशोधन किया कि चित्तविलय मुक्ति नहीं है किन्तु चित्तशुद्धि ही शक्तिका मार्ग होनेसे मुक्ति है। किन्तु सिर्फ वैयक्तिक चित्तकी शुद्धिको पूर्ण मुक्ति मान लेना अधूरा विचार है। सामूहिक चित्तकी शुद्धि बढ़ाते जाना ही

वैयक्तिक चित्त-शुद्धिका आदर्श होना चाहिए। और यदि वह हो, तो किसी स्थानान्तर या लोकान्तरमें मुक्ति-धाम मानने या कल्पित करनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं। वैसा धाम तो सामूहिक चित्तकी शुद्धिमें अपनी शुद्धिकी देन देना ही है।

४—प्रत्येक संप्रदायमें सर्वभूतहितको महत्त्व दिया गया है। किन्तु व्यवहारमें मानव-समाजके भी हितका पूर्णरूपसे आचरण मुश्किलसे दीखता है। अतएव प्रश्न यह है कि मुख्य लक्ष्य कौन-सी दिशामें और किस ध्येयकी ओर देना चाहिए। प्रस्तुतमें दोनों लेखकोंकी विचारसरणी स्पष्ट रूपसे प्रथम मानवताके विकासकी ओर लक्ष्य देने और तदनुसार ही जीवन जीनेकी ओर संकेत करती है। मानवताके विकासका मतलब है मानवताने आज तक जिन सद्गुणोंकी जितनी मात्रामें सिद्धि की है उनकी पूर्णरूपसे रक्षा करना और तद्द्वारा उन्हीं सद्गुणोंमें अधिक संशुद्धि लाना और नये सद्गुणोंका विकास करना, जिससे कि मानव-मानवके बीच द्वन्द्व और शत्रुताके तामस-बल प्रकट न हो सकें। जितने प्रमाणमें इस प्रकार मानवता-विकासका ध्येय सिद्ध होगा उतने ही प्रमाणमें समाज-जीवन संवादी और एकतान बनेगा। इसका प्रासंगिक फल सर्वभूतहित ही होगा। अतएव प्रत्येक साधकके प्रयत्नकी मुख्य दिशा मानवताके विकासकी ही होनी चाहिए। यह सिद्धान्त भी सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे कर्म-फलका नियम घटित करनेके विचारमेंसे ही फलित होता है।

उक्त विचारसरणीसे गृहस्थाश्रमको केन्द्रमें रखकर सामुदायिक जीवनके साथ वैयक्तिक जीवनका सुमेल रखनेकी सूचना मिलती है। गृहस्थाश्रममें ही शेष सभी आश्रमोंके सद्गुणोंको सिद्ध करनेका अवसर मिल जाता है। क्योंकि तदनुसार गृहस्थाश्रमका आदर्श ही इस प्रकारसे बदल जाता है कि वह केवल भोगका धाम न रह कर भोग और योगके सुमेलका धाम बन जाता है। अतएव गृहस्थाश्रमसे विच्छिन्न रूपमें अन्य आश्रमोंका विचार प्राप्त नहीं होता। गृहस्थाश्रम ही चतुराश्रमके समग्र जीवनका प्रतीक बन जाता है। यही वस्तु नैसर्गिक भी है।

———

समाजको बदलो

'बदलना' प्रेरक क्रिया है, जिसका अर्थ है—बदल डालना। प्रेरक क्रिया-में अप्रेरक क्रियाका भाव भी समा जाता है; इसलिए उसमें स्वयं बदलना और दूसरेको बदलना ये दोनों अर्थ आ जाते हैं। यह केवल व्याकरण या शब्दशास्त्रकी युक्ति ही नहीं है, इसमें जीवनका एक जीवित सत्य भी निहित है। इसीसे ऐसा अर्थविस्तार उपयुक्त मालूम होता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अनुभव होता है कि जो काम औरोंसे कराना हो और ठीक तरहसे कराना हो, व्यक्ति उसे पहले स्वयं करे। दूसरोंको सिखानेका इच्छुक स्वयं इच्छित विषयका शिक्षण लेकर—उसमें पारंगत या कुशल होकर ही दूसरोंको सिखा सकता है। जिस विषयका ज्ञान ही नहीं, अच्छा और उत्तम शिक्षक भी वह विषय दूसरेको नहीं सिखा सकता। जो स्वयं मैला-कुचैला हो, अंग-अंगमें मैल भरे हो, वह दूसरोंको नहलाने जायगा, तो उनको स्वच्छ करनेके बदले उनपर अपना मैल ही लगायगा। यदि दूसरेको स्वच्छ करना है तो पहले स्वयं स्वच्छ होना चाहिए। यद्यपि कभी कभी सही शिक्षण पाया हुआ व्यक्ति भी दूसरेको निश्चयके मुताबिक नहीं सिखा पाता, तो भी सिखानेकी या शुद्ध करनेकी क्रिया बिलकुल बेकार नहीं जाती, क्योंकि इस क्रियाका जो आचरण करता है, वह स्वयं तो लाभमें रहता ही है, पर उस लाभके बीज जल्द या देरसे, दिखाई दें या न दें, आसपासके वातावरणमें भी अंकुरित हो जाते हैं।

स्वयं तैयार हुए बिना दूसरेको तैयार नहीं किया जा सकता, यह सिद्धान्त सत्य तो है ही, इसमें और भी कई रहस्य छिपे हुए हैं, जिन्हें समझनेकी जरूरत है। हमारे सामने समाजको बदल डालनेका प्रश्न है। जब कोई व्यक्ति समाजको बदलना चाहता है और समाजके सामने शुद्ध मनसे कहता है—

'बदल जाओ,' तब उसे समाजको यह तो बताना ही होगा कि तुम कैसे हो, और कैसा होना चाहिए। इस समय तुम्हारे अमुक अमुक संस्कार हैं, अमुक अमुक व्यवहार है, उन्हें छोड़कर अमुक अमुक संस्कार और अमुक अमुक रीतियाँ धारण करो। यहाँ देखना यह है कि समझानेवाला व्यक्ति जो कुछ कहना चाहता है, उसमें उसकी कितनी लगन है, उसके बारेमें कितना जानता है, उसे उस वस्तुका कितना रंग लगा है, प्रतिकूल संयोगोंमें भी वह उस सम्बन्धमें कहाँ तक टिका रहा है और उसकी समझ कितनी गहरी है। इन बातोंकी छाप समाजपर पहले पड़ती है। सारे नहीं तो थोड़ेसे भी लोग जब समझते हैं कि कहनेवाला व्यक्ति सच्ची ही बात कहता है और उसका परिणाम उसपर दीखता भी है, तब उनकी वृत्ति बदलती है और उनके मनमें सुधारकके प्रति अनादरकी जगह आदर प्रकट होता है। भले ही वे लोग सुधारकके कहे अनुसार चल न सके, तो भी उसके कथनके प्रति आदर तो रखने ही लगते हैं।

औरोंसे कहनेके पहले स्वयं बदल जानेमें एक लाभ यह भी है कि दूसरोंको सुधारने यानी समाजको बदल डालनेके तरीकेकी अनेक चाबियाँ मिल जातीं हैं। उसे अपने आपको बदलनेमें जो कठिनाइयाँ महसूस होती हैं, उनका निवारण करनेमें जो ऊहापोह होता है, और जो मार्ग ढूँढ़े जाते हैं, उनसे वह औरोंकी कठिनाइयाँ भी सहज ही समझ लेता है। उनके निवारणके नए नए मार्ग भी उसे यथाप्रसंग सूझने लगते हैं। इसलिए समाजको बदलनेकी बात कहनेवाले सुधारकको पहले स्वयं दृष्टांत बनना चाहिए कि जीवन बदलना जो कुछ है, वह यह है। कहनेकी अपेक्षा देखनेका असर कुछ और होता है और गहरा भी होता है। इस वस्तुको हम सभीने गाँधीजीके जीवनमें देखा है। न देखा होता तो शायद बुद्ध और महावीरके जीवन-परिवर्तनके मार्गके विषयमें भी सन्देह बना रहता।

इस जगह मैं दो-तीन ऐसे व्यक्तियोंका परिचय दूँगा जो समाजको बदल डालनेका बीड़ा लेकर ही चले हैं। समाजको कैसे बदला जाय इसकी प्रतीति वे अपने उदाहरणसे ही करा रहे हैं। गुजरातके मूक कार्यकर्ता **रविशंकर महाराजको**—जो शुरूसे ही गाँधीजीके साथी और सेवक रहे हैं,—चोरी और

खून करनेमें ही भरोसा रखनेवाली और उसीमें पुरुषार्थ समझनेवाली 'बारैया' जातिको सुधारनेकी लगन लगी। उन्होंने अपना जीवन इस जातिके बीच ऐसा ओतप्रोत कर लिया और अपनी जीवन-पद्धतिको इस प्रकार परिवर्तित किया कि धीरे-धीरे यह जाति आप ही आप बदलने लगी, खूनके गुनाह खुद-ब-खुद कबूल करने लगी और अपने अपराधके लिए सजा भोगनेमें भी गौरव मानने लगी। आखिरकर यह सारी जाति परिवर्तित हो गई।

रविशंकर महाराजने हाई स्कूल तक भी शिक्षा नहीं पाई, तो भी उनकी वाणी बड़े बड़े प्रोफेसरों तकपर असर करती है। विद्यार्थी उनके पीछे पागल बन जाते हैं। जब वे बोलते हैं तब सुननेवाला समझता है कि महाराज जो कुछ कहते हैं, वह सत्य और अनुभवसिद्ध है। केन्द्र या प्रान्तके मन्त्रियों तक पर उनका जादू जैसा प्रभाव है। वे जिस क्षेत्रमें कामका बीड़ा उठाते हैं, उसमें बसनेवाले उनके रहन-सहनसे मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं—क्यों कि उन्होंने पहले अपने आपको तैयार किया है—बदला है, और बदलनेके रास्तोंका—भेदोंका अनुभव किया है। इसीसे उनकी वाणीका असर पड़ता है। उनके विषयमें कवि और साहित्यकार स्व० मेघाणीने 'माणसाईना दीवा' (मानवताके दीपक) नामक परिचय-पुस्तक लिखी है। एक और दूसरी पुस्तक श्री बबलभाई मेहताकी लिखी हुई है।

दूसरे व्यक्ति हैं **सन्त बाल**, जो स्थानकवासी जैन साधु हैं। वे मुँहपर मुँहपत्ती, हाथमें रजोहरण आदिका साधु-वेष रखते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि बहुत ही आगे बढ़ी हुई है। वेष और पन्थके बाड़ोंको छोड़कर वे किसी अनोखी दुनियामें विहार करते हैं। इसीसे आज शिक्षित और अशिक्षित, सरकारी या गैरसरकारी, हिन्दू या मुसलमान स्त्री-पुरुष उनके वचन मान लेते हैं। विशेष रूपसे 'भालकी पट्टी' नामक प्रदेशमें समाज-सुधारका कार्य वे लगभग बारह वर्षोंसे कर रहे हैं। उस प्रदेशमें दो सौसे अधिक छोटे-मोटे गाँव हैं। वहाँ उन्होंने समाजको बदलनेके लिए जिस धर्म और नीतिकी नींवपर सेवाकी इमारत शुरू की है, वह ऐसी वस्तु है कि उसे देखनेवाले और जाननेवालेको आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। मन्त्री, कलेक्टर, कमिश्नर आदि सभी कोई

अपना-अपना काम लेकर सन्त बालके पास जाते हैं और उनकी सलाह लेते हैं। देखनेमें सन्त बालने किसी पंथ, वेष या बाह्य आचारका परिवर्त्तन नहीं किया परंतु मौलिक रूपमें उन्होंने ऐसी प्रवृत्ति शुरू की है कि वह उनकी आत्मामें अधिवास करनेवाले धर्म और नीति-तत्त्वका साक्षात्कार कराती है और उनके समाजको सुधारने या बदलनेके दृष्टिबिन्दुको स्पष्ट करती है। उनकी प्रवृत्तिमें जीवन-क्षेत्रको छूनेवाले समस्त विषय आ जाते हैं। समाजकी सारी काया ही कैसे बदली जाय और उसके जीवनमें स्वास्थ्यका, स्वावलम्बनका वसन्त किस प्रकार प्रकट हो, इसका पदार्थ-पाठ वे जैन साधुकी रीतिसे गाँव-गाँव घूमकर, सारे प्रश्नोंमें सीधा भाग लेकर लोगोंको दे रहे हैं। इनकी विचारधारा जाननेके लिए इनका 'विश्व-वात्सल्य' नामक पत्र उपयोगी है और विशेष जानकारी चाहनेवालोंको तो उनके सम्पर्कमें ही आना चाहिए।

तीसरे भाई मुसलमान है। उनका नाम है **अकबर भाई**। उन्होंने भी, अनेक वर्ष हुए, ऐसी ही तपस्या शुरू की है। बनास तटके सम्पूर्ण प्रदेशमें उनकी प्रवृत्ति विख्यात है। वहाँ चोरी और खून करनेवाली कोली तथा ठाकुरोंकी जातियाँ सैकड़ों वर्षोंसे प्रसिद्ध हैं। उनका रोजगार ही मानो यही हो गया है। अकबर भाई इन जातियों में नव-चेतना लाये हैं। उच्चवर्णके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भी जो कि अस्पृश्यता मानते चले आये हैं और दलित वर्गको दबाते आये हैं, अकबर भाईको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। यह जानते हुए भी कि अकबर भाई मुसलमान हैं, कट्टर हिन्दू तक उनका आदर करते हैं। सब उन्हें 'नन्हें बापू' कहते हैं। अकबर भाईकी समाजको सुधारनेकी सूझ भी ऐसी अच्छी और तीव्र है कि वे जो कुछ कहते हैं या सूचना देते हैं, उसमें न्यायकी ही प्रतीति होती है। इस प्रदेशकी अशिक्षित और असंस्कारी जातियोंके हजारों लोग इशारा पाते ही उनके इर्द-गिर्द जमा हो जाते हैं और उनकी बात सुनते हैं। अकबर भाईने गाँधीजीके पास रहकर अपने आपको बदल डाला है—समझपूर्वक और विचारपूर्वक। गाँवोंमें और गाँवोंके प्रश्नोंमें उन्होंने अपने आपको रमा दिया है।

ऊपर जिन तीन व्यक्तियोंका उल्लेख किया गया है, वह केवल यह सूचित करनेके लिए कि यदि समाजको बदलना हो और निश्चित रूपसे नये सिरेसे गढ़ना हो, तो ऐसा मनोरथ रखनेवाले सुधारकोंको सबसे पहले आपको बदलना

चाहिए। यह तो आत्म-सुधारकी बात हुई। अब यह भी देखना चाहिए कि युग कैसा आया है। हम जैसे हैं, वैसेके वैसे रहकर अथवा परिवर्तनके कुछ पैबन्द लगाकर नये युगमे नहीं जी सकते। इस युगमें जीनेके लिए इच्छा और समझपूर्वक नहीं तो आखिर धक्के खाकर भी हमें बदलना पड़ेगा।

समाज और सुधारक दोनोंकी दृष्टिके बीच केवल इतना ही अन्तर है कि रूढ़िगामी समाज नवयुगकी नवीन शक्तियोंके साथ घिसटता हुआ भी उचित परिवर्तन नहीं कर सकता, ज्योंका त्यों उन्हीं रूढ़ियोंसे चिपटा रहता है और समझता है कि आज तक काम चला है तो अब क्यों नहीं चलेगा ? फिर अज्ञानसे या समझते हुए भी रूढिके बन्धनवश सुधार करते हुए लोक-निन्दासे डरता है, जब कि सच्चा सुधारक नये युगकी नयी ताकतको शीघ्र परख लेता है और तदनुसार परिवर्तन कर लेता है। वह न लोक-निन्दाका भय करता है, न निर्बलतासे झुकता है। वह समझता है कि जैसे ऋतुके बदलनेपर कपड़ोंमें फेरफार करना पड़ता है अथवा वय बढ़नेपर नये कपड़े सिलाने पड़ते हैं, वैसे ही नयी परिस्थितिमें सुखसे जीनेके लिए उचित परिवर्तन करना ही पड़ता है और वह परिवर्त्तन कुदरतका या और किसी वस्तुका धक्का खाकर करना पड़े, इससे अच्छा तो यही है कि सचेत होकर पहलेसे ही समझदारीके साथ कर लिया जाय।

यह सब जानते हैं कि नये युगने हमारे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पैंव जमा लिये हैं। जो पहले कन्या-शिक्षा नहीं चाहते थे, वे भी अब कन्याको थोड़ा बहुत पढ़ाते हैं। यदि थोड़ा बहुत पढाना जरूरी है तो फिर कन्याकी शक्ति देखकर उसे ज्यादा पढ़ानेमें क्या नुकसान है ? जैसे शिक्षणके क्षेत्रमें वैसे ही अन्य मामलोंमें भी नया युग आया है। गाँवों या पुराने ढंगके शहरोंमें तो पर्देसे निभा जाता है, पर अब बम्बई, कलकत्ता या दिल्ली जैसे नगरोंमें निवास करना हो और वहाँ बन्द घरोंमें स्त्रियोंको पर्देमें रखनेका आग्रह किया जाय, तो स्त्रियाँ खुद ही पुरुषोंके लिए भाररूप बन जाती हैं और सन्तति दिनपर दिन कायर और निर्बल होती जाती है।

विशेषकर तरुण जन विधवाके प्रति सहानुभूति रखते हैं, परन्तु जब विवाहका प्रश्न आता है तो लोक-निन्दासे डर जाते हैं।–डरकर अनेक बार योग्य विधवाकी उपेक्षा करके किसी अयोग्य कन्याको स्वीकार कर लेते हैं और अपने

हाथसे ही अपना संसार बिगाड़ लेते हैं। स्वावलम्बी जीवनका आदर्श न होनेसे तेजस्वी युवक भी अभिभावकोंकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारके लोभसे, उनको राजी रखनेके लिए, रूढ़ियोंको स्वीकार कर लेते हैं और उनके चक्रको चालू रखनेमें अपना जीवन गँवा देते हैं। इस तरहकी दुर्बलता रखनेवाले युवक क्या कर सकते हैं? योग्य शक्ति प्राप्त करनेसे पूर्व ही जो कुटुम्ब-जीवनकी जिम्मेदारी ले लेते हैं, वे अपने साथ अपनी पत्नी और बच्चोंको भी खड्डेमें डाल देते हैं। महँगी और तंगीके इस जमानेमें इस प्रकारका जीवन अन्तमें समाजपर बढ़ता हुआ अनिष्ट भार ही है। पालन-पोषणकी, शिक्षा देनेकी और स्वावलबी होकर चलनेकी शक्ति न होनेपर भी जब मूढ़ पुरुष या मूढ़ दम्पति सन्ततिसे घर भर लेते हैं, तब वे नई सन्ततिसे केवल पहलेकी सन्ततिका ही नाश नहीं करते बल्कि स्वय भी ऐसे फँस जाते हैं कि या तो मरते हैं या जीते हुए भी मुर्दोंके समान जीवन बिताते हैं।

खान-पान और पहनावेके विषयमें भी अब पुराना युग बीत गया है। अनेक बीमारियों और अपचके कारणोंमें भोजनकी अवैज्ञानिक पद्धति भी एक है। पुराने जमानेमें जब लोग शारीरिक मेहनत बहुत करते थे, तब गाँवोंमें जो पच जाता था, वह आज शहरोंके 'बैठकिए' जीवनमें पचाया नहीं जा सकता। अन्न और दुष्पच मिठाइयोंका स्थान वनस्पतियोंको कुछ अधिक प्रमाणमें मिलना चाहिए। कपड़ेकी मँहगाई या तंगीकी हम शिकायत करते हैं परन्तु बचे हुए समयका उपयोग कातनेमें नहीं कर सकते और निठल्ले रहकर मिलमालिकों या सरकारको गालियाँ देते रहते हैं। कम कपड़ोंसे कैसे निभाव करना, सादे और मोटे कपड़ोंमें कैसे शोभित होना, यह हम थोड़ा भी समझ ले तो बहुत कुछ भार हलका हो जाय।

पुरुष पक्षमें यह कहा जा सकता है कि एक धोतीसे दो पाजामे तो बन ही सकते हैं और स्त्रियोंके लिए यह कहा जा सकता है कि बारीक और कीमती कपड़ोंका मोह घटाया जाय। साइकल, ट्राम, बस जैसे वाहनोंकी भाग-दौड़में, बरसात, तेज हवा या आँधीके समयमें और पुराने ढंगके रसोई-घरमें स्टोव आदि सुलगाते समय स्त्रियोंकी पुरानी प्रथाका पहनावा (लहँगे-साड़ीका) प्रतिकूल पड़ता है। इसको छोड़ कर नवयुगके अनुकूल पंजाबी स्त्रियों जैसा कोई पहनावा (कमसे कम जब बैठा न रहना हो) स्वीकार करना चाहिए।

धार्मिक एवं राजकीय विषयोंमें भी दृष्टि और जीवनको बदले बिना नहीं चल सकता। प्रत्येक समाज अपने पंथका वेश और आचरण धारण करनेवाले हर साधुको यहाँ तक पूजता-पोषता है कि उससे एक बिल्कुल निकम्मा, दूसरोंपर निर्भर रहनेवाला और समाजको अनेक वहमोंमें डाल रखने-वाला विशाल वर्ग तैयार होता है। उसके भारसे समाज स्वयं कुचला जाता है और अपने कन्धेपर बैठनेवाले इस पंडित या गुरुवर्गको भी नीचे गिराता है।

धार्मिक संस्थामें किसी तरहका फेरफार नहीं हो सकता, इस झूठी धारणाके कारण उसमें लाभदायक सुधार भी नहीं हो सकते। पश्चिमी और पूर्वी पाकि-स्तानसे जब हिन्दू भारतमें आये, तब वे अपने धर्मप्राण मन्दिरों और मूर्तियोंको इस तरह भूल गए मानो उनसे कोई सम्बन्ध ही न हो। उनका धर्म सुखी हालतका धर्म था। रूढ़िगामी श्रद्धालु समाज इतना भी विचार नहीं करता कि उसपर निर्भर रहनेवाले इतने विशाल गुरुवर्गका सारी जिन्दगी और सारे समयका उपयोगी कार्यक्रम क्या है ?

इस देशमें असाम्प्रदायिक राज्यतंत्र स्थापित है। इस लोकतंत्रमें सभीको अपने मतद्वारा भाग लेनेका अधिकार मिला है। इस अधिकारका मूल्य कितना अधिक है, यह कितने लोग जानते हैं ? स्त्रियोंको तो क्या, पुरुषोंको भी अपने हकका ठीक-ठीक भान नहीं होता; फिर लोकतंत्रकी कमियाँ और शासनकी त्रुटियाँ किस तरह दूर हों ?

जो गिने चुने पैसेवाले हैं अथवा जिनकी आय पर्याप्त है, वे मोटरके पीछे जितने पागल हैं, उसका एक अंश भी पशु-पालन या उसके पोषणके पीछे नहीं। सभी जानते हैं कि समाज-जीवनका मुख्य स्तंभ दुधारू पशु-ओंका पालन और संवर्धन है। फिर भी हरेक धनी अपनी पूँजी मकानमें, सोने-चाँदीमें, जवाहरातमें या कारखानेमें लगानेका प्रयत्न करता है परन्तु किसीको पशु-संवर्धन द्वारा समाजहितका काम नहीं सूझता। खेतीकी तो इस तरह उपेक्षा हो रही है मानो वह कोई कसाईका काम हो, यद्यपि उसके फलकी राह हरेक आदमी देखता है।

ऊपर निर्दिष्ट की हुई सामान्य बातोंके अतिरिक्त कई बातें ऐसी हैं जिन्हें सबसे पहले सुधारना चाहिए। उन विषयोंमें समाज जब तक बदले नहीं, पुरानी रूढ़ियाँ छोड़े नहीं, मानसिक संस्कार बदले नहीं, तब तक अन्य सुधार

हो भी जायँगे तो भी सबल समाजकी रचना नहीं हो सकेगी। ऐसी कई महत्त्वकी बातें ये हैं :—

(१) हिन्दू धर्मकी पर्याय समझी जानेवाली ऊँच-नीचके भेदकी भावना, जिसके कारण उच्च कहानेवाले सवर्ण स्वयं भी गिरे हैं और दलित अधिक दलित बने हैं। इसीके कारण सारा हिन्दू-मानस मानवता-शून्य बन गया है।

(२) पूँजीवाद या सत्तावादको ईश्वरीय अनुग्रह या पूर्वोपार्जित पुण्यका फल मान कर उसे महत्त्व देनेकी भ्रान्ति, जिसके कारण मनुष्य उचित रूपमें और निश्चिन्ततासे पुरुषार्थ नहीं कर सकता।

(३) लक्ष्मीको सर्वस्व मान लेनेकी दृष्टि, जिसके कारण मनुष्य अपने बुद्धि-बल या तेजकी बजाय खुशामद या गुलामीकी ओर अधिक झुकता है।

(४) स्त्री-जीवनके योग्य मूल्यांकनमें भ्रांति जिसके कारण पुरुष और स्त्रियाँ स्वयं भी स्त्री-जीवनके पूर्ण विकासमें बाधा डालती हैं।

(५) क्रियाकांड और स्थूल प्रथाओंमें धर्म मान बैठनेकी मूढता, जिसके कारण समाज संस्कारी और बलवान बननेके बदले उल्टा अधिक असंस्कारी और सच्चे धर्मसे दूर होता जाता है।

समाजको बदलनेकी इच्छा रखनेवालेको सुधारके विषयोंका तारतम्य समझकर जिस बारेमें सबसे अधिक जरूरत हो और जो सुधार मौलिक परिवर्तन ला सके उन्हें जैसे भी बने सर्व प्रथम हाथमें लेना चाहिए और वह भी अपनी शक्तिके अनुसार। शक्तिसे परेकी चीजें एक साथ हाथमें लेनेसे संभव सुधार भी रुके रह जाते हैं।

समाजको यदि बदलना हो तो उस विषयका सारा नक्शा अपनी दृष्टिके सामने रखकर उसके पीछे ही लगे रहनेकी वृत्तिवाले उत्साही तरुण या तरुणियोंके लिए यह आवश्यक है कि वे प्रथम उस क्षेत्रमें ठोस काम करनेवाले अनुभवियोंके पास रहकर कुछ समय तक तालीम लें और अपनी दृष्टि स्पष्ट और स्थिर बनावें। इसके बिना प्रारंभमें प्रकट हुआ उत्साह बीचमें ही मर जाता है या कम हो जाता है और रूढिगामी लोगोंको उपहास करनेका मौका मिलता है।

[तरुण, फरवरी १९५१]

धर्मोंका मिलन

[सर सर्वपल्ली राधाकृष्णनके ' मीटिंग आफ रिलीजियन्स'के गुजराती अनुवादकी प्रस्तावना]

प्रस्तुत पुस्तकमे सर राधाकृष्णनने इँग्लेडमें जो अनेक व्याख्यान दिये और लेख लिखे, उनका अपुनरुक्त संग्रह है। इनमें छोटे-बड़े अनेक विषयोकी अनेकमुखी चर्चा है ऐतिहासिक दृष्टि और तुलनात्मक पद्धतिसे की गई है।

इनमें तीन विशेषताएँ विशेषरूपसे दृष्टिगोचर होती हैं— (१) जी ऊब जाय ऐसा विस्तार किये बिना मनोहर शैलीसे बिल्कुल स्फुट चर्चा करना, (२) प्रस्तुत विषयमें गंभीर भावसे लिखनेवाले अन्य अनेक लेखकोंकी साक्षी देकर सम्बद्ध अवतरणोंके समुचित सकलनसे अपने वक्तव्यको स्फुट और समृद्ध बनाना और (३) तीसरी विशेषता उनकी तर्कपटुता और समभाव है।

भूतकालकी तरह इस युगमें भी भारतमे अनेक समर्थ धर्मचिन्तक धर्मके विषयमे साधिकार लिखने-बोलनेवाले उत्पन्न हुए हैं। असाधारणता उन सबमें हैं, फिर भी भूमिका सबकी भिन्न भिन्न है। भारत और भारत-बाह्य विश्वमे धर्मविषयक विचारणा और अनुभूतिकी विशिष्ट छाप जमानेवाले पाँच महापुरुष सुविदित हैं। अरविन्द घोष गूढ़ तान्त्रिक साधना और गूढ़वाणीद्वारा धर्मके गूढ तत्त्वोंका प्रकाश करते हैं। वह पारदके रसायन जैसा सर्वभोग्य नहीं। कविवर रवीन्द्र अपनी कविसुलभ सर्वतोमुखी प्रतिभा और सहजसिद्ध भाषासमृद्धिके हृदयगम अलंकारोंसे धर्म-तत्त्वका सरस निरूपण करते हैं। वह उपनिषत् और गीताकी गाथाओंके समान सरलतम और गूढतम दोनो प्रकारका काव्य बन जाता है। इससे वह बहुभोग्य होते हुए भी

वस्तुतः अल्पभोग्य है। गाँधीजीके उद्गार और लेख गंभीर होते हुए भी संत-तपस्वीकी वाणीमें सर्वगम्य बन जाते हैं। इससे वे अधिकारीभेदसे बकरी और गायके दूधकी तरह पुष्टिका कार्य करते हैं। डॉ० भगवानदासका धर्मचिन्तन और विचारलेखन अनेक उद्यानोंके अनेकविध पुष्पोंमेंसे भृगराज-द्वारा किये गये मधु-संचय जैसा है। वह मधुर और पथ्य है किन्तु दूधके समान सुपच नहीं। श्रीराधाकृष्णनके धर्मप्रवचन अनेक उद्यानोके नाना लता-वृक्षोंसे चुने हुए अनेक रंगी और विविध जातिके कुसुमोंकी अत्यन्त कुशल मालाकारके द्वारा गूँथी मनोरम पुष्पमाला है, जो किसी भी प्रेक्षक अधिकारीकी दृष्टिको लुब्ध करती है और अपनी सुगंध और सुन्दरतासे वाचक और श्रोताको विषयमे लीन करके रसास्वादी बना देती है।

धर्म कहते हैं सत्यकी जिज्ञासा, विवेकपूर्ण समभाव और इन दो तत्त्वोंके आधारसे घटित जीवन-व्यवहारको। यही धर्म परिमार्थिक है। अन्य विधि-निषेध क्रियाकाण्ड, उपासना भेद, आदि तब तक ही और उतने ही अंशोंमे यथार्थ धर्मके नामके योग्य हैं, जब तक और जितने अंशोंतक उक्त पारमार्थिक धर्मके साथ उनका अभेद्य सम्बन्ध बना है। पारमार्थिक धर्म जीवनकी मूलगत और अदृश्य वस्तु है। उसका अनुभव या साक्षात्कार, धार्मिक व्यक्तिको ही होता है, जब कि व्यावहारिक धर्म दृश्य होनेसे पर-प्रत्येय है। यदि पारमार्थिक धर्मका सम्बन्ध न हो, तो अति प्राचीन और बहुसम्मत धर्मोंको भी वस्तुतः धर्माभास कहना होगा।

आध्यात्मिक धर्म किसी एक व्यक्तिके जीवनमेंसे छोटे-बड़े स्रोतरूपसे प्रकट होता है और आसपासके मानव-समाजकी भूमिकाको प्लावित कर देता है। उस स्रोतका बल कितना ही क्यो न हो किन्तु वह सामाजिक जीवनकी भूमि-काको कुछ अंशोंतक ही आर्द्र करता है। भूमिकाकी अधूरी आर्द्रतामेंसे अनेक कीटाणुओंका जन्म होता है और वे अपनी आधारभूत भूमिकाका ही भक्षण करने लगते हैं। इतनेमें फिर किसी दूसरे व्यक्तिमेंसे धर्मस्रोत प्रकट होता है और तब वह प्राथमिक कीटाणुजन्य गन्दगीको साफ करनेके लिए तत्पर होता है। यह दूसरा स्रोत पहले स्रोतके ऊपर जमी हुई काईको हटाकर जीवनकी भूमिकामें अधिक फलदायी रसतत्त्वका सिंचन करता है। आगे चलकर उसके ऊपर भी काई जम जाती है और तब काल-क्रमसे तीसरे व्यक्तिमें प्रादुर्भूत-

धर्मस्रोत उसका मार्जन करता है। इस प्रकार मानव-जीवनकी भूमिकापर धर्म-स्रोतके अनेक प्रवाह आते रहते हैं और उनसे वह भूमिका अधिकाधिक योग्य और उर्वर होती जाती है।

धर्मस्रोतोंका प्रकटीकरण किसी एक देश या जातिकी पैतृक संपत्ति नहीं है। वह तो मानवजातिरूप एक विशाल वृक्षकी भिन्न भिन्न शाखाओंमें प्रादुर्भूत होनेवाला सुफल है। यह सच है कि उसका प्रभाव विरल व्यक्तिमें ही होता किन्तु उसके द्वारा समुदायका भी अनेक अंशोमे विकास होता है। इसी प्रकार धर्मकी आकर्षकता, प्रतिष्ठा, उसके नामसे सब कुछ अच्छा या बुरा करनेकी शक्यता, और बुरेको त्राण देनेकी उसकी शक्ति,—इन सब बलोंके कारण मानव-समुदायमें अज्ञान और वासनाजन्य अनेक भयस्थान भी खड़े हो जाते हैं। कोई भी धर्मपंथ इन भयस्थानोसे सर्वथा मुक्त नहीं होता। इससे इहलोक और परलोकके भेदको मिटानेकी, श्रेय और प्रेयके अभेदको सिद्ध करनेकी तथा आनेवाले सभी प्रकारके विक्षेपोंको लुप्त करके मानव जीवनमें सामंजस्य स्थापित करनेकी धर्मकी मौलिक शक्ति कुंठित हो जाती है। धर्मके उत्थान और पतनके इतिहासका यही हार्द है।

धर्म-नदीके किनारे अनेक तीर्थ खडे होते हैं, अनेक पथोके घाट निर्माण होते हैं। इन घाटोसे आजीविका करनेवाले पंडे या पुरोहित अपने अपने तीर्थों या घाटोंकी महत्ता या श्रेष्ठताका आलाप करके ही सन्तुष्ट नहीं होते, बल्कि अन्य तीर्थों या घाटोकी न्यूनता दिखलानेमे भी अधिक रस लेने लगते हैं। धर्मकी प्रतिष्ठाके साथ वे कुछ दूसरे तत्त्वोंका भी मिश्रण कर देते हैं। वे कहते हैं हमारा धर्म मूलतः तो शुद्ध है, किन्तु उसमें जो कुछ अशुद्धियाँ आगई हैं वह परपंथोका आगन्तुक असर है। इसी प्रकार यदि दूसरे धर्ममें कोई अच्छा तत्त्व दिखता है तो कहते हैं कि वह तो हमारे धर्मका असर है। साथ ही सनातनताके साथ ही शुद्धि और प्रतिष्ठाका गठबन्धन करते हैं। इन और ऐसे ही अन्य विकारी तत्त्वोंके कारण लोगोंका धार्मिक जीवन क्षुब्ध होता है। प्रत्येक पंथ अपनी सनातनता और शुद्धिकी स्थापनाके लिए तो तत्पर रहता है पर अन्य पन्थोंके उच्च तत्त्वोंकी उपेक्षा करता है।

धार्मिक जीवनकी इस बुराईको दूर करनेके अनेक मार्गोंमेंसे एक सुपरिणाम-दायी मार्ग यह है कि प्रत्येक धर्मजिज्ञासुको ऐतिहासिक और तुलनात्मक

दृष्टिसे धर्मका ज्ञान कराया जाय जिससे धर्मकी शिक्षा सिर्फ एक पंथमें सीमित न रहकर सर्वपंथगामी बने और अपने पराये सभी पंथोंके स्थूल और सूक्ष्म जीवनके इतिहासका भान हो। इस प्रकारकी शिक्षासे अपने पथकी तरह दूसरे पंथोंके भी सुतत्त्वोंका सरलतासे ज्ञान हो जाता है और परपंथोंकी तरह सुपंथकी भी त्रुटियोंका पता लग जाता है। साथ ही प्राचीनतामें ही महत्ता और शुद्धिकी भ्रान्त मान्यता भी सरलतासे लुप्त हो जाती है। इस दृष्टिसे धर्मके ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययनको बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त होता है।

धर्मके व्यापक और तटस्थ दृष्टिसे ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययनके लिए योग्य स्थान सार्वजनिक कालेज और यूनिवर्सिटियाँ ही हैं। यों तो प्रत्येक देशमे अनेक धर्मधाम हैं और उन धर्म-धामोंसे संबंधित विद्याधाम भी हैं। परन्तु विशेष विशेष सम्प्रदायोंके होनेके कारण उनमें सिर्फ उन्हीं सम्प्रदायोका अध्ययन कराया जाता है और उन्हीं सम्प्रदायोंके विद्यार्थी और अध्यापक रहते हैं। ऐसे विद्याधामोंमें चाहे कितना ही उदार वातावरण क्यों न हो अन्यधर्मी विद्यार्थी और अध्यापक मुश्किलसे ही जाते हैं और यदि जाते हैं तो उनमें सम्पूर्ण रीतिसे घुल-मिल नहीं सकते। परिणामस्वरूप ऐसे विद्याधामोंका धर्म-शिक्षण एकदेशीय रह जाता है। इससे भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंके बीचका अंतर और भ्रान्तियाँ दूर होनेकी अपेक्षा अगर बढ़ती नहीं है तो कम भी नहीं होतीं। यातायातके सुलभ साधनोंने इस युगमें सभी देशोंको निकट ला दिया है। संसारके भिन्न भिन्न खण्डके मनुष्य आसानीसे मिल-जुल सकते हैं। ऐसी अवस्थामे कई विषयोंमें विश्व-संघकी योजना बनानेकी शक्ति उपलब्ध हो गई है। इस युगमें मनुष्यकी रग रगमें पैठा हुआ धर्म-तत्त्वका एकदेशीय शिक्षण चल नहीं सकता और चलना भी नहीं चाहिए। वस्तुतः इस युगने ही सर्व-मिलन-योग्य कालेजों और यूनिवर्सिटियोंकी स्थापना की है। यही संस्थाएँ प्राचीन विद्याधामों और धर्म-धामोंका स्थान ले रही हैं और तदनुरूप ऐतिहासिक और तुलनात्मक धर्मशिक्षाकी नींव रखी गई है। यह शिक्षा प्राचीन धर्मधामोंको अपनी उदारतासे प्रकाशित करेगी और अगर उन्होंने अपनी संकुचितता न छोड़ी तो वे अपने आपको तेजोहीन बना लेंगे। श्रीराधाकृष्णनका यह कथन उपयुक्त ही है कि कॉलेज और यूनिवर्सिटियाँ धर्म-प्रचारके स्थान नहीं हैं; ये तो

शुद्ध और व्यापक ज्ञान देनेवाली शिक्षासंस्थाएँ हैं। वर्तमान युगमें प्रत्येक विषयमें सार्वजनिक शिक्षाकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इस युगमें धर्मकी भी सर्वग्राह्य सार्वजनिक शिक्षा कितनी आवश्यक है और इस विषयमें जनताकी कितनी रुचि है, यह हमें दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई धर्मविषयक ऐतिहासिक और तुलनात्मक शिक्षासे मालूम हो जाता है। यद्यपि ऐसी शिक्षाका प्रारम्भ यूरोपियनोंद्वारा और यूरोपकी भूमिपर हुआ था, फिर भी यह प्रसन्नताकी बात है कि भारतके एक सच्चे ब्राह्मणने उसी यूरोपकी भूमिमें इस विषयका गुरु-पद प्राप्त किया है। मनुके इस कथनका कि 'किसी भी देशके निवासी भारतमें आकर विद्या ग्रहण करें' गहरा आशय यह भी हो सकता है कि भारतके युगानुरूप ब्राह्मण भारतके बाहर जाकर भी युगानुरूप शिक्षा देंगे। जहाँ सनातन संस्कारके द्विज आज भी मनुके इन शब्दोंसे चिपके हुए हैं वहाँ मनुके ज्ञानके उत्तराधिकारी श्रीराधाकृष्णन शब्दोंसे न चिपककर उसके गर्भित अर्थको अमलमें ला रहे हैं।

बुद्धि, स्मृति, विशाल अध्ययन, सङ्कलनशक्ति और भाषापर असाधारण प्रभुत्व आदि सर्वगुणसंपन्न होते हुए भी अगर श्रीराधाकृष्णनको आर्य धर्म और उसके तत्त्वोंका विशद सूक्ष्म और समभावी ज्ञान न होता, तो उनके द्वारा इतनी सफलतासे विश्वके सभी धर्मोंकी तात्त्विक और व्यावहारिक मीमांसा होना असंभव था।

यद्यपि इस पुस्तकके पदपदसे विशदता टपकती है तो भी पाठकोंको उसका कुछ नमूना पृष्ठ १७५ में 'निवृत्ति बनाम प्रवृत्ति' के अन्तर्गत चित्रित किये गये चित्र-परसे उपस्थित किया जा सकता है। पाठक देख सकते हैं कि इस अध्यायमें पूर्व और पश्चिमके धर्मोंका स्वरूप-भेद, मानस-भेद और उद्देश्य-भेद कितनी खूबीसे चित्रित किया गया है। उनकी विचार-सूक्ष्मताको प्रदर्शित करनेके लिए दो तीन उदाहरण यथेष्ट होंगे। लेखक मोक्षके स्वरूपकी चर्चा करते हुए धर्मोंके एक गूढ रहस्यका उद्घाटन करते हैं। कुछ लोग मोक्षको ईश्वरकी कृपाका फल मानकर बाहरसे आनेवाली भेंट समझ लेते हैं, तो कुछ उसे आत्म-पुरुषार्थका फल मानते हैं। इसके सूक्ष्म विवेचनमें श्रीराधाकृष्णन वास्तवमें योगशास्त्रकी 'चित्तभूमिका' जैनशास्त्रके 'गुणस्थानोंका' और बौद्ध-पिटकोंके मार्गका ही अत्यन्त सरल भाषामें विवेचन करते हैं। उनका कथन है कि अपने हृदयमें

क्रमशः होनेवाला विकास ही मोक्ष है। ईश्वरकी कृपा और आत्माका पुरुषार्थ दोनों एक ही क्रियाके दो पहलू हैं। (पृ ११९) कर्म और पुनर्जन्मके विषयमें चर्चा करते हुए, पापीके पापको धोनेके लिए दूसरेको दुःख भोगना पड़ता है, इस ईसाई धर्मके सिद्धान्तकी सूक्ष्म समीक्षा की गई है और पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है कि स्वकृत कर्म अन्यथा नहीं हो सकते और अगर होते भी हैं तो कर्त्ताके सत्पुरुषार्थसे ही। यह चर्चा पृ० १३३ से प्रारम्भ होती है।

भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंमें परमात्मदर्शनके साधनोंके विषयमें कई विरोधी दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होते हैं। एक परमात्म-दर्शनके लिए किसी मूर्तिका अवलम्बन लेता है तो दूसरा उसे निरर्थक कहकर चिन्तन और जपको परमात्म-दर्शनका साधन मानता है। इन दो मार्गोंमें स्थित गहरे विरोधने भाई-भाई और संप्रदाय-सम्प्रदायमें संक्रामक विषका सिंचन किया है और अनेकोंके प्राण हरे हैं। इस विरोधका परिहार श्रीराधाकृष्णनने जिस मौलिक ढंगसे किया है उसे सुनकर मुझे अपने जीवनकी एक अद्भुत घटनाका स्मरण हो आया। मैं जन्मसे मूर्ति नहीं माननेवाला था। अनेक तीर्थों और मंदिरोंमें जानेपर भी उनमें पाषाणकी भावनाके अतिरिक्त दूसरी भावनाका मेरे मनमें उदय नहीं हुआ। एक बार प्रखर तार्किक यशोविजयजीका 'प्रतिमाशतक' पढ़ा गया। उसमें उन्होंने एक सरल दलील दी है कि परमात्माका स्मरण करना उपासकका ध्येय है। यह स्मरण यदि नामसे हो सकता है तो रूपसे भी हो सकता है। तब क्या यह उचित है कि एकको मानें और दूसरेको त्याग दें? इस तर्कसे मेरे जन्मगत कुसंस्कारोंका लोप हो गया। श्रीराधाकृष्णनने भी मूर्तिविरोधियोंके सामने यही वस्तु बहुत विस्तार और सूक्ष्मरीतिसे उपस्थित की है। उनका कथन है कि परमात्म-तत्त्व तो वाणी और मनसे अगोचर है; लेकिन हमारे सदृश अपूर्ण व्यक्तियोंके लिए उस पथमें आगे बढ़नेके लिए और उसके स्मरणको पुष्ट करनेके लिए अनेक प्रतीक हैं। भले ही वे प्रतीक काष्ठ, पाषाण या धातुरूप हों या कल्पना, जपस्वरूप मानसिक या अमूर्त्त हों। वस्तुतः ये सब मूर्त-अमूर्त प्रतीक ही तो हैं। उन्होंने इस चर्चामें मानसशास्त्रके सिद्धान्त और ज्ञानका जो सुन्दर सम्मेलन किया है उसके ऊपर अगर कोई तटस्थतासे विचार करे, तो उसका पुराना विरोध खण्ड खण्ड हुए बिना नहीं रहेगा।

श्रीराधाकृष्णनके निरूपणकी खूबी उनके समभावमें है। वे गाँधीजीके समान ही समभावको सहिष्णुता, दया और उदारतासे भी ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं। इस्लाम धर्मकी समीक्षा करते समय वे उसके दो तत्त्वों—ईश्वरका पितृत्व और मानवी भ्रातृत्व—को अपनाने और जीवनमें उतारनेके लिए हिन्दुओंको प्रेरित करते हैं। यद्यपि वे मुख्यरूपसे ईसाईयोंके सामने ईसाई धर्मके भ्रामक विचारोंकी खूब टीका करते हैं, तो भी ईसाई धर्मके मानव-सेवा, व्यवस्था आदि तत्त्वोंको ग्रहण करनेका संकेत करते हैं। हिन्दुओंके लिए भी उनकी कुरूप और जंगली प्रथाओंको त्याज्य बताना श्रीराधाकृष्णनकी समतोल बुद्धिका प्रमाण है। परन्तु राधाकृष्णनकी वास्तविक संस्कारिणी और सौंदर्यदृष्टि तो उस समय व्यक्त होती है जिस समय वे कहते हैं कि अहिंसाकी जो बढ़ बढ़कर बातें करते हैं वे ही पशुयज्ञोंको उत्तेजन देते हुए मालूम पड़ते हैं (पृ० १६७)। इसी प्रकार वे कहते हैं कि एक दूसरेके खंडनमें मशगूल रहनेवाले अनेक वाद, बुद्धिसे अगम्य तत्त्वोंका पिष्ट-पेषण किया करते हैं।

'धर्म और राष्ट्रीयता' शीर्षकके अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण विचार उपस्थित किया गया है जो आजके विचारकोंके मस्तिष्कमें चक्कर काट रहा है। उसका तात्पर्य यह है कि धर्मसंघोंको मिथ्या राष्ट्राभिमानमें नहीं पड़ना चाहिए। उन्होंने यह बात मुख्यतः ईसाई धर्मको लक्ष्यमें रखकर कही है। ईसाई धर्मने इस राष्ट्राभिमानके वशवर्ती होकर अपनी आत्माका हनन किया है। ईसाई संघ अपने राष्ट्रके ही वफादार रहते हैं, ईसाके सिद्धान्तोंके नहीं। यही दोष मुसलमानोंमें पाकिस्तानके रूपमें अवतरित हो रहा है। इसका फल यह होगा कि जो मुसलमान जिस देशमें रहते हैं उनके लिए वही सर्वोच्च हो जायगा, कुरानके सिद्धान्त नहीं। अगर हिन्दू-महासभा भी इस प्रकार चलेगी तो उसमें भी यही दोष आ जायगा। जापानी बौद्धोंने अपने बौद्ध धर्मको जापानकी राजसत्ताको सौंप दिया है। इस तरह धर्मके तेजोहीन होनेपर जब राष्ट्र लड़ते हैं, तब धर्मगुरु उनको युद्धसे पराङ्मुख करनेका धार्मिक बल खो देते हैं। गाँधीजी राजनीतिमें भी धर्मको स्थान देते हैं। उनका यह धर्म कोई एक सप्रदायका नहीं बल्कि सर्वसंप्रदायसम्मत प्रेम, सेवा और त्यागका धर्म है। गांधीजी राष्ट्रके

लिए लड़ते हैं लेकिन धर्मको निर्जीव या गौण करके नहीं। राष्ट्रके विपरीत मार्गपर जानेपर उसे धर्म दृष्टिसे ही सुमार्ग बताते हैं। जिस प्रकार पराधीनतासे मुक्त होनेके लिए वे धर्मका आश्रय लेकर कार्यकी योजना बनाते हैं उसी प्रकार स्वराष्ट्र शुद्ध धर्मसे रहित न हो जाय, इसकी भी सावधानी रखते हैं। जब लोग कहते हैं कि गाधीजी राष्ट्रीय नहीं, धार्मिक हैं; तब इसका अर्थ यही समझना चाहिए कि वे हैं तो राष्ट्रीय ही लेकिन राष्ट्रको विपरीत मार्गपर न जाने देनेके लिए सावधान हैं, और इसीलिए वे धार्मिक हैं। अगर वे सिर्फ धार्मिक ही होते, तो दूसरे निष्क्रिय साधुओंकी तरह एकातमें चले जाते। लेकिन वे तो धर्मसे ही राष्ट्रोद्धार करना ठीक मानते हैं और उसीसे धर्म और अधर्मकी परीक्षा करते हैं। गाँधीजी अगर सिर्फ धार्मिक ही होते तो वे धर्मके नामपर समस्त देशको उत्तेजित करते और दूसरे धर्मोंका सामना करनेके लिए कहते। लेकिन वे तो दूसरोंकी लुटारुवृत्तिका विरोध करते हैं, उनके अस्तित्वका नहीं। इसी भाँति वे स्वदेशकी निर्बलताका विरोध करते हैं और साथ ही राष्ट्रके उद्धारमें जरा भी उदासीनता नहीं आने देते। जिस समय धर्म राष्ट्रके वशमें हो जाता है उस समय वह राष्ट्रके आक्रमण-कार्यमें सहायक होता है और दूसरोंकी गुलामीका पोषण करता है, साथ ही साथ स्वराज्यमें गुलामीका बीज वपन करता है। ग्रीस, रोम, अरब आदि देशोंमें जो हुआ है वही जापानमें बौद्ध धर्मके द्वारा हो रहा है। जब धर्म राष्ट्रके अधीन हो जाता है तब राष्ट्र अपने बचावके लिए अगर अधर्मका आचरण करता है, तो उसमें भी धर्म सहायक होता है। उदाहरणके तौरपर चीनका बौद्ध धर्म लिया जा सकता है। जब चीन अपने दुश्मनोंसे हिंसक युद्ध लड़ता है, तब वहाँका बौद्ध धर्म उसमें सहायक बनता है। यही है धर्मकी राष्ट्राधीनता। अगर धर्म प्रधान रहता है तो वह राष्ट्रको आक्रमण नहीं करने देता, उसमें सहायक भी नहीं बनता, स्वराष्ट्रको गुलामीसे मुक्त करनेके लिए भी अधर्म्य साधनोंका उपयोग नहीं होने देता। इसके विपरीत वह धर्म्य साधनोंकी नई योजना बनाकर देशको पराधीनतासे मुक्त करता है। इस दृष्टिसे अगर कोई देश धर्मकी स्वतंत्रताका दावा कर सकता है तो वह भारत ही है और वह भी गाँधीजीके हाथों। गाँधीजीका धर्म सक्रिय और निष्क्रिय दोनों है। पर-सत्वको छीननेमें तो वह निष्क्रिय है लेकिन स्व-सत्व सिद्ध करनेमें सक्रिय है।

भारत आक्रमण तो करता ही न था, इस लिए उसके धर्मोंमें आक्रमण कार्यमें मदद कानेका दोष आया ही नहीं जैसा कि इस्लाम और ईसाई धर्ममें आ गया है। लेकिन इसमें आक्रमण सहनेका या अन्यायका विरोध न कानेका दोष आ गया है। उसीको दूर करनेके लिए गाँधीजी प्रयत्न करते हैं। धर्मद्वारा राष्ट्रको पराधीनतासे मुक्त करनेका गाँधीजीका मार्ग अपूर्व है। श्रीराधाकृष्णन और टैगोर आदि जिस समय धर्म और राष्ट्राभिमानका सम्मिश्रण नहीं करनेकी बात कहते हैं, उस समय उनके सामने सभी अधर्मगामी राष्ट्रोंका सजीव चित्र होता है।

इस ग्रंथका नामकरण भी उचित ही हुआ है। इसके सभी निबंध और प्रवचन मुख्यरूपसे धर्म-मिलनसे संबंध रखते हैं। धर्म-मिलनका साध्य क्या होना चाहिए, यह मुख्य प्रश्न है। इसका उत्तर श्रीराधाकृष्णनने स्वयं ही 'महासमन्वय'की चर्चा करके दिया है। प्रत्येक धर्मके विचारक, अनुयायी और ज्ञाताओंका यह निश्चित मत है कि धर्मान्तर करनेकी प्रवृत्ति अनिष्ट है। साथ ही साथ किसी भी धर्मका उच्चतर अभ्यासी और विचारक ऐसा नहीं है जो अपने परंपरानुगत धर्मके स्वरूपसे संतुष्ट हो। प्रत्येक सुविचारक और उत्साही परंपरागत धर्मभूमिको वर्तमान स्थितिसे विशेष उन्नत और व्यापक बनानेकी इच्छा रखता है। एक तरफ पन्थान्तर या धर्मान्तरकी ओर बढ़ती हुई अरुचि और दूसरी ओर अपने अपने धर्मका विकास करनेकी, उसे विशेष व्यापक और शुद्ध करनेकी उत्कट अभिलाषा, इन दोनोंमें विरोध दृष्टिगोचर होता है। परन्तु यह विरोध ही 'महासमन्वय'की क्रिया कर रहा है। कोई धर्म सम्पूर्ण नहीं है, साथ ही यह भी नहीं है कि दूसरा पूर्णरूपसे पंगु है। जागरूक दृष्टि और विवेकशील उदारता हो तो कोई भी धर्म दूसरे धर्ममेंसे सुन्दर वस्तु ग्रहण कर सकता है। इस-प्रकार प्रत्येक धर्मका उच्चीकरण संभव है। यही धर्मजिज्ञासुओंकी भूख है। यह भूख श्रीराधाकृष्णनके सर्वधर्मविषयक उदार और तटस्थ तुलनात्मक अध्ययनसे संतुष्ट होती है और वे ऐसे निरूपणद्वारा भिन्न भिन्न धर्मोंके अनुयायियोंको अपने अपने धर्ममें स्थित रहकर उच्चतम स्थिति प्राप्त करनेका संकेत करते हैं।

धर्म कहाँ है ?

धर्मके दो रूप हैं। एक दृष्टिमें आने योग्य प्रत्यक्ष और दूसरा दृष्टिसे ओझल, केवल मनसे समझा जानेवाला परोक्ष। पहले रूपको धर्मका शरीर और दूसरेको आत्मा कहा जा सकता है।

दुनियाके सब धर्मोंका इतिहास कहता है कि प्रत्येक धर्मका शरीर अवश्य होता है। प्रत्येक छोटे बड़े धर्म-पंथमें इतनी बातें साधारण हैं—शास्त्र, उनके रचयिता और ज्ञाता पंडित या गुरु; तीर्थ मंदिरादि पवित्र स्थल; विशेष प्रकारकी उपासना या क्रियाकाण्ड, और उन क्रियाकाण्डों और उपासनाओंका पोषण करनेवाला और उन्हींपर निर्वाह करनेवाला एक वर्ग। सारे धर्मपथोंमें किसी न किसी रूपमें उक्त बातें मिलती हैं और ये ही उस धर्मके शरीर हैं। अब यह देखना है कि धर्मका आत्मा क्या है? आत्मा अर्थात् चेतना या जीवन। सत्य, प्रेम, निःस्वार्थता, उदारता, विवेक, विनय आदि सद्गुण आत्मा हैं। शरीर भले ही अनेक और भिन्न भिन्न हों परंतु आत्मा सर्वत्र एक होता है। एक ही आत्मा अनेक देहोंमें जीवनको पोसता है, जीवनको बहाता है।

यदि अनेक देहोंमें जीवन एक हो और अनेक देह केवल जीवनके प्रकट होनेके वाहन हों, तो फिर भिन्न भिन्न देहोंमें विरोध, झगड़ा, क्लेश और प्रतिद्वंद्विता कैसे संभव हो सकती है? जब एक ही शरीरके अंग बनकर भिन्न भिन्न स्थानोंपर व्यवस्थित और विभिन्न कामोंके लिए नियुक्त हाथ-पाँव, पेट, आँख-कान वगैरह अवयव परस्पर लड़ते या झगड़ते नहीं हैं, तो फिर एक ही धर्मके आत्माको धारण करनेका गर्व करनेवाले भिन्न भिन्न धर्मपंथोंके देह परस्पर क्यों लड़ते हैं? उनका सारा इतिहास पारस्परिक झगड़ोंसे क्यों रँगा हुआ है? इस प्रश्नकी ओर प्रत्येक विचारकका ध्यान जाना आवश्यक है। निरीक्षक और विचारकको स्पष्ट दिखाई देगा कि प्रत्येक पथ जब आत्माविहीन मृतक जैसा होकर गँधाने लगता है और उसमेंसे धर्मके आत्माकी ज्योति लोप हो जाती है, तभी वे संकुचितदृष्टि होकर दूसरेको विरोधी और शत्रु मानने मनानेको तैयार होते हैं। यह सड़न किस प्रकार शुरू होती है और कैसे बढ़ती जाती है, यह जाननेके लिए बहुत गहराईमें जानेकी जरूरत नहीं है। शास्त्र, तीर्थ और मंदिर वगैरह स्वयं जड़ हैं, इस कारण न तो वे किसीको पकड़ रखते हैं और न किसी व्यक्तिसे भिड़नेके लिए धक्का मारते हैं। वे यह करने और वह नहीं

करनेके लिए भी नहीं कहते। स्वयं जड़ और निष्क्रिय होनेके कारण दूसरे क्रियाशीलके द्वारा ही प्रेरित होते हैं और क्रियाशील होते हैं प्रत्येक धर्मपंथके पंडित, और क्रियाकाण्डी। जब ये लोग स्वयं जानकर या अनजाने ही धर्मके भ्रममें पड़ जाते हैं और धर्मके मधुर तथा सरल आश्रयके नीचे बिना परिश्रमके आराम-तलबी और बेजिम्मेदारीसे जीनेके लिए ललचाते हैं तबी धर्म-पंथका शरीर आत्माविहीन होकर सड़ने लगता है, गँधाने लगता है। यदि अनुयायी-वर्ग भोला, अपढ़ या अविवेकी होता है, तो वह धर्मको पोषनेके भ्रममें उलटा धर्म-देहकी गंधका पोषण करता है और इसकी मुख्य जिम्मेदारी उस आरामतलब पंडित या पुरोहित वर्गकी होती है।

प्रत्येक पंथका पंडित या पुरोहित-वर्ग अपना जीवन आरामसे बिताना चाहता है। वह ऐसी लालसाका सेवन करता रहता है कि अपना दोष दूसरोंकी नजरमें न आवे और अपने अनुयायी-वर्गको नजरमें बड़ा दिखाई दे। इस निर्बलतासे वह अनेक प्रकारके आडम्बरोंका अपने बाड़ेमें पोषण करता जाता है और साथ ही भोला अनुयायी वर्ग कहीं दूसरी ओर न चला जाय, इस डरसे सदैव दूसरे धर्मपथके देहकी त्रुटियाँ बताता रहता है। वह जब अपने तीर्थका महत्त्व गाता है तब उसे दूसरोंके तीर्थकी महिमाका ख्याल नहीं रहता, इतना ही नहीं वह दूसरे धर्म-पंथोंका अपमान करनेसे भी बाज नहीं आता। जब सनातन धर्मका पंडा काशी या गयाके महत्त्वका वर्णन करता है तब उसीके पासके सारनाथ या राजगृहको भूल जाता है, बल्कि इन तीर्थोंको नास्तिक-धाम कहकर अपने अनुयायी वर्गको वहाँ जानेसे रोकता है। पालीताणा और सम्मेदशिखरके महत्त्वका वर्णन करनेवाला जैन यति गंगा और हरिद्वारका महत्त्व शायद ही स्वीकार करेगा। कोई पादरी जेरुसलमकी तरह मक्का मदीनाको पवित्र नहीं मानेगा। इसी प्रकार एक पंथके पंडित दूसरे पंथके अति महत्त्वपूर्ण शास्त्रोंको भी अपने शास्त्रसे अधिक अधिक महत्त्व नहीं देंगे। इतना ही नहीं, वे अपने अनुयायीवर्गको दूसरे पंथके शास्त्रोंको छूने तकके लिए मना करेंगे। क्रियाकाण्डके विषयमें तो कहा ही क्या जाय! एक पंथका पुरोहित अपने अनुयायीको दूसरे पंथमें प्रचलित तिलक तक नहीं लगाने देता! इन धर्मपथोंके कलेवरोंकी पारस्परिक घृणा तथा झगड़ोंने हजारों वर्षोंसे ऐतिहासिक युद्धस्थल निर्माण किये हैं।

इस प्रकार एक ही धर्मके आत्माके भिन्न भिन्न देहोंका जो युद्ध चलता

रहता है उसका एक कारण तो ऊपर बताया गया है—उसीपर निभनेवाले वर्गकी अकर्मण्य और आरामतलब जिंदगी। दूसरा कारण है प्रत्येक पंथके अनुयायी-वर्गकी मतिमंदता और तेजोहीनता। यदि हम इतिहासके आधारसे समझ लेते हैं कि अधिकतर पंथके पोषक मानवताको जोड़नेके बदले उसे बराबर खंडित करते आये हैं, तो हमारा (अनुयायी-वर्गका) कर्तव्य है कि हम स्वयं ही धर्मके सूत्र अपने हाथमें लेकर उसके विषयमें स्वतंत्र विचार करें। एक बार अनुयायी-वर्गमेंसे कोई ऐसा विचारक और साहसी-वर्ग बाहर निकला तो उस पंथके देह-पोषकोंमेंसे भी उसे साथ देनेवाले अवश्य मिल जायँगे। धर्मपंथके पोषकोंमें कोई योग्य नहीं होता या उनमें किसी योग्य व्यक्तिका होना संभव नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। परंतु प्रत्येक पंथका वातावरण धीरे धीरे ऐसा अन्योन्याश्रित हो जाता है कि यदि उसमेंसे कोई सच्चा पुरोहित पंडित या गुरु कोई सच्ची बात कहने या तदनुसार आचरण करनेका निश्चय करे तो वह दूसरेसे डरता है और दूसरा तीसरेसे। जिस स्टेशनके सभी कर्मचारी रिश्वत आदि लेकर काम करते हों, उसमें एकाध प्रामाणिक व्यक्तिके लिए अपना जीवन बीताना कठिन हो जाता है। यही दशा पंथ-देहके पोषकोंमें किसी योग्य व्यक्तिकी होती है। किसी असाधारण शक्तिके बिना पुरोहित, पंडित या गुरुवर्गमें पालित पोषित व्यक्तिके लिए कुलपरंपरागत प्रवृत्तिका विरोध करना या उसमें उदार दृष्टिबिंदु प्रविष्ट करना बहुत कठिन हो जाता है। जो धर्म सबको एक समय प्रकाश देनेकी और सबको समान भावसे देखनेकी दृष्टि अर्पित करनेकी शक्ति रखता है, वही धर्म पंथोंमें फँसकर अपना अस्तित्व गवाँ देता है। पंथ-पोषक वर्ग जब धर्मके प्रवचन करता है तब तो सारे जगतको समान भावसे देखनेकी और सबकी समानरूपसे सेवा करनेकी बात कहता है और उसके लिए अपने शास्त्रोंके प्रमाण भी देता है, पर जब उसके आचरणकी ओर दृष्टिपात करते हैं, तब जो असंगति उसके रहन-सहनके बीचमें होती है वह स्पष्ट दिखाई दे जाती है। सेवा, संपूर्ण त्याग और अहिंसाकी महिमा गानेवाला तथा उसके प्रचारके लिए वेष लेनेवाला वर्ग लोगोंकी पसीनेकी कमाईका जब केवल अपनी सेवाके लिए उपयोग करता है और बिलकुल व्यर्थ तथा भाररूप आडम्बरपूर्ण क्रियाकांडों और उत्सवोंमें खर्च कराके धर्मकृत्य करनेके संतोषका पोषण करता है, तब समझदार मनुष्यका मन विह्वल होकर पुकार उठता है कि इससे धर्मको क्या लेना देना है?

यदि आडम्बर और स्वागत आदिसे भी धर्मकी प्रभावना और वृद्धि होती हो, तो गणितके हिसाबसे जो अधिक आडम्बर करता कराता है, वह अधिक धार्मिक गिना जाना चाहिए। यदि तीर्थों और मंदिरोंके निमित्त केवल धनका सचय करना ही धर्मका लक्षण हो, तो जो पेढ़ी ऐसा धन अधिक एकत्रित करके उसकी रक्षा करती है वही अधिक धार्मिक गिनी जानी चाहिए। परंतु दूसरी ओर पंथ-देहके पोषक ही उससे उलटा कहते हैं और मानते-मनाते हैं। वे अपने लिए होनेवाले आडम्बरोंके सिवाय दूसरोंके आडम्बरका महत्त्व या उसकी धार्मिकताका गाना नहीं गाते। इसी प्रकार वे दुनियाके किसी भी दूसरे धर्मपंथकी पेढ़ीकी प्रचुर संपत्तिको धार्मिक संपत्ति नहीं गिनते। ऐसा है तो यह भी स्पष्ट है कि यदि दूसरे पंथके पोषक पहले पंथके पोषकोंके आडम्बरों और उसकी पेढियोंको धार्मिक नहीं गिनें, तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं है। यदि दोनों एक दूसरेको अधार्मिक गिनते हैं, तो हमें क्या मानना चाहिए? हमारी विवेक-बुद्धि जागरित हो, तो हम थोड़ी-सी भी कठिनाईके बिना निश्चय कर सकते हैं कि जो मानवताको नहीं जोड़ती है, उसमें अनुसंधान पैदा करनेवाले गुणोंको नहीं प्रकट करती है, ऐसी कोई भी बात धार्मिक नहीं हो सकती।

अनुयायी वर्गमें ऊपर बताई हुई विचारसरणी पैदा करने, उसे पचाने और दूसरेसे कहने योग्य नम्र साहसको विकसित करनेका नाम धार्मिक शिक्षण है। यह हमें दीपककी तरह बता सकता है कि धर्म उसके आत्मामें है और उसका आत्मा है सदाचारी और सद्गुणी जीवन। ऐसे आत्माके होनेपर ही देहका मूल्य है, अभावमें नहीं। भिन्न भिन्न पंथोंके द्वारा खड़े किये गये देहोंके अवलंबनके बिना भी धर्मका आत्मा जीवनमें प्रकट हो सकता है, केवल देहोंका आश्रय लेनेपर नहीं।

इस साधनोंकी तंगी और कठिनाइयोंसे युक्त युगमें मानवताको जोड़ने और उसे जीवित रखनेका एक ही उपाय है और वह यह कि हम धर्मकी भ्रान्तियों और उसके बहमोंसे जल्दी मुक्ति प्राप्त करें और अंतरमें सच्चा अर्थ समझें।

[मांगरोल जैन-समाका सुवर्ण महोत्सव अंक, सन् १९४७]

मंगल प्रवचन *

श्रीयुत मोतीचन्द भाईने मेरे परिचयमे कहा है कि मैं बीसवीं शताब्दीके विचारप्रवाहों और दृष्टि-बिन्दुओंसे परिचित हूँ। उनके इस कथनमे यदि सत्य है तो मैं अपनी दृष्टिसे उसका स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ। ८०० की जन-संख्यावाले एक छोटेसे गन्दे गाँवमे मेरा जन्म और पालन हुआ, जहाँ आधुनिक संस्कारों, शिक्षा और साधनोंका सर्वथा अभाव था, ऐसे वातावरणमें, उन्नीसवीं शताब्दीमे मैं पला और पढ़ा लिखा। गुजराती ग्रामीण पाठशालासे आगे मेरे लिए शिक्षाका कोई वातावरण था ही नहीं। मुझे जहाँ तक याद है, मैंने कोई बीसेक वर्षकी उम्रमे एक साम्प्रदायिक मासिक पत्रका नाम सुना था। १९ वीं अथवा २० वीं शताब्दीके कालेजों और विश्वविद्यालयकी शिक्षाका लाभ मुझे नहीं मिला। इस दृष्टिसे मुझे १९ वींका ही क्यों एक तरहसे चौदहवीं शताब्दीका गिनना चाहिए।

यह सब सत्य होते हुए भी उनके कथनानुसार यदि मैं २० वीं शताब्दीका हूँ तो वह इसी अर्थमें कि किसी भी काल, देश और विषयके प्राचीन अथवा नवीन विचार जिस समय मेरे सामने आते हैं उस समय मैं उनका सभी प्रकारके बन्धनोसे मुक्त होकर विचार करता हूँ और यथाशक्ति सत्यासत्यका निर्णय करनेका प्रयत्न करता हूँ। इस प्रयत्नमें जाति, धर्म, सम्प्रदाय, शास्त्र अथवा भाषाके कदाग्रह या पूर्वग्रह मुझे शायद ही जकड़ रखते होंगे। मैं आचरण कर सकता हूँ या नहीं, यह प्रश्न पुरुषार्थका है किन्तु जिज्ञासा और विचारकी दृष्टिसे मैं अपने मनके सभी द्वार पूर्ण रूपसे खुले रखता हूँ। मुझे इसकी पूरी चिन्ता रहती है कि कोई ज्ञातव्य सत्यांश पूर्वग्रह और उपेक्षाके कारण छूट न जाय। मनको पूर्वग्रहों और संकुचितताके बन्धनोंसे परे रखकर तथ्य जानने, विचारने और स्वीकार करनेकी ओर रुचि और तत्परता रखना ही यदि २० वीं शताब्दीका लक्षण हो तो मैं उस अर्थमें अवश्य ही २० वीं शताब्दीका हूँ, चाहे

* ता० १४।७।४५ के दिन नये वर्षके सत्रारम्भके प्रसंगपर श्रीमहावीर-जैन-विद्यालयके विद्यार्थियोंके समक्ष किया हुआ मंगल प्रवचन।

दूसरे अर्थमें भले ही १९ वीं या १४ वीं शताब्दीका गिना जाऊँ। मेरा विश्वास है कि सत्यकी जिज्ञासा और शोध किसी एक शताब्दीकी चीज नहीं। प्रत्येक शताब्दी और युगमें चाहनेवालोंके लिए हमेशा उनके द्वार खुले रहते हैं और दूसरोंके लिए किसी भी शताब्दी और युगमें बन्द रहते हैं।

इस व्यक्तिगत चर्चाद्वारा मैं आप लोगोंका ध्यान दो बातोंकी ओर खींचना चाहता हूँ। एक तो जीवनमें हमेशा विद्यार्थी-अवस्था बनाए रखना और दूसरे विद्यार्थीपनको मुक्त मनसे अर्थात् निर्बन्धन और निर्भय होकर विकसित करते रहना।

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो विद्यार्थी-अवस्थाके अर्थात् संस्कार ग्रहण करनेकी योग्यताके बीज जिस समय बालकके माता पिता दाम्पत्य-जीवनमें प्रवेश करते हैं उसी समयसे मनोभूमिका रूपसे संचित होने लगते हैं और गर्भाधानके समयसे व्यक्त रूप धारण करने लगते हैं। किन्तु हमारा गुलाम मानस इस सत्यको नहीं समझ पाता। जिनको शिशु, किशोर और कुमारा-वस्थाके विद्यार्थी-जीवनमें सावधानीसे सुविचारित मार्गदर्शन मिला हो, ऐसे विद्यार्थी हमारे यहाँ बहुत कम हैं। हमारे यहाँके सामान्य विद्यार्थीका जीवन नदीके पत्थरोंकी भाँति आकस्मिक रीतिसे ही गढ़ा जाता और आगे बढ़ता है। नदीके पत्थर जैसे बारबार पानीके प्रवाहके बलसे घिसते घिसते किसी समय खुद ही गोल गोल सुन्दर आकार धारण करते हैं उसी प्रकार हमारा सामान्य विद्यार्थी-वर्ग पाठशाला, स्कूल, समाज, राज्य और धर्मद्वारा नियंत्रित शिक्षण-प्रणालीकी चक्कीके बीचसे गुजरता हुआ किसी न किसी रूपमें गढ़ा जाता है। १६ वर्ष तकका विद्यार्थी-जीवन दूसरोंके छननेसे विद्या-पान करनेमें बीतता है। अर्थात् हमारे यहाँ वास्तविक विद्यार्थी-जीवनका प्रारंभ स्कूल छोड़कर कालेजमें प्रवेश करते समय ही होता है। इस समय विद्यार्थीका मानस इतना पक जाता है कि अब वह अपने आप क्या पढ़ना, क्या न पढ़ना, क्या सत्य और क्या असत्य, क्या उपयोगी क्या अनुपयोगी, यह सब सोच सकता है। इसलिए विद्यार्थी-जीवनमें कालेज-काल बहुत महत्त्वका है। पहलेकी अपक्वावस्थामें रही हुई त्रुटियों और भूलोंको सुधारनेके उपरान्त जो सारे जीवनको स्पर्श करे और उपयोगी हो, ऐसी पूरी तैयारी इसी जीवनमें करनी होती है। उस समय इतना उत्तर-दायित्व समझने और निभाने जितनी बुद्धि और शारीरिक तैयारी भी होती है।

इसलिए इस समय विद्यार्थीका जरा-सा भी प्रमादी होना जीवनके मध्यबिन्दुपर कुठाराघात करना है ।

मै थोड़ा बहुत कालेजके विद्यार्थियोंके बीच रहा हूँ और मैंने देखा है कि उनमेंसे बहुत कम विद्यार्थी प्राप्त समय और शक्तिका संपूर्ण जागृतिपूर्वक उपयोग करते हैं। किसी न किसी तरह परीक्षा पास करनेका लक्ष्य होनेसे विद्यार्थीके बहुमूल्य समयका और शक्तिका ठीक उपयोग नहीं हो पाता। मेरे एक मित्रने—जो कि इस समय कुशल वकील और प्रजासेवक हैं, मुझसे कहा कि हम विद्यार्थी—खासकर बुद्धिमान् गिने जानेवाले विद्यार्थी—रात और दिनका बहुत बड़ा भाग गप्पें हाँकने और अनावश्यक वाग्युद्ध करनेमें व्यतीत कर देते थे और यह मान बैठे थे कि परीक्षा पास करनेमें क्या है? जब परीक्षा समीप आवेगी, तब तैयारी कर लेंगे और वैसा कर भी लेते थे। किन्तु जब बी० ए० पास हुए और आगे उच्च अध्ययनका विचार किया तब मालूम हुआ कि हमने प्रारंभके चार वर्षोका बहुत-सा समय व्यर्थ ही बरबाद कर दिया है। उस समय अपने पूरे सामर्थ्य और समयका ठीक ढंगसे नियमित सदुपयोग किया होता, तो हमने कालेज-जीवनमें जितना प्राप्त किया उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेते। मै समझता हूँ कि मेरे मित्रकी बात बिलकुल सच्ची है और वह कालेजके प्रत्येक विद्यार्थीपर कम या अधिक अंशमे लागू होती है। इसलिए मैं प्रत्येक विद्यार्थीका ध्यान जो इस समय कालेजमे नया प्रविष्ट हुआ हो या आगे बढ़ा हो, इस ओर खींचता हूँ। कालेजके जीवनमे इतने अच्छे अवसर प्राप्त होते हैं कि यदि मनुष्य सोचे तो अपना संपूर्ण नवसर्जन कर सकता है। वहाँ भिन्न भिन्न विषयोंके समर्थ अध्यापक, अच्छेसे अच्छा पुस्तकालय और नये रक्तके उत्साहसे उफनते हुए विद्यार्थियोंका सहचार जीवनको बनानेकी अमूल्य सम्पत्ति है। केवल उसका उपयोग करनेकी कला हाथ आनी चाहिए।

जीवन-कला

विद्यार्थी-जीवनमें यदि कोई सिद्ध करने योग्य तत्त्व है, तो वह है जीवन-कला। जो जीनेकी कलाको हस्तगत कर लेता है वह साधन तथा सुविधाकी कमीके विषयमे कभी शिकायत नहीं करता। वह तो अपने सामने जितने और जैसे साधन होते हैं, जितनी और जैसी सुविधाये होती हैं, उनका इतने

सुन्दर ढंगसे उपयोग करता है कि उसीमेंसे उसके सामने अपने आप नये साधनोंकी सृष्टि खड़ी हो जाती है। वे बिना बुलाये आकर सामने खड़े हो जाते हैं। जो इस प्रकारकी जीवन-कलासे अपरिचित होता है वह हमेशा यह नहीं, वह नहीं, ऐसा नहीं, वैसा नहीं, इस ढगकी शिकायत करता ही रहता है। उसके सामने चाहे जैसे और चाहे जितने साधन रहें वह उनका मूल्य नहीं समझ सकता। क्योंकि जंगलमे मंगल करनेकी कलासे वह अपरिचित होता है। परिणामतः ऐसा विद्यार्थी प्राप्त सुविधाके लाभसे तो वंचित रह ही जाता है साथ ही भावी सुविधाकी प्राप्ति उसके मनोराज्यमे रहकर उलटी व्याकुलता पैदा कर देती है। इसलिए हम किसी भी क्षेत्रमें हों और कुछ भी करते हों, जीवन-कला सबसे पहले आवश्यक है। जीवन-कला अर्थात् कमसे कम और नगण्य साधन सामग्रीसे भी संतुष्ट रहना, आगे बढ़नेमें उसका उपयोग कर लेना और स्वपुरुषार्थसे अपनी इच्छित सृष्टि खड़ी कर लेना।

असुविधाओंका अतिभार यदि जीवनको कुचल सकता है, तो सुविधाओंका ढेर भी वही कर सकता है। जिसके सामने बहुत सुविधाएँ होती हैं वह हमेशा प्रगति कर सकता है अथवा करता है, ऐसा कोई ध्रुव नियम नहीं। इसके विपरीत जो अधिक असुविधा अथवा कठिनाईमें होता है वह पीछे रह जाता है अथवा कुचला जाता है, यह भी कोई ध्रुव नियम नहीं। ध्रुव नियम तो यह है कि बुद्धि और पुरुषार्थ होने पर प्रत्येक स्थितिमें आगे बढ़ा जा सकता है। जिसमें इस तत्त्वको विकसित करनेकी भूख होती है वह सुविधा असुविधाकी झंझटमें नहीं पड़ता। कई बार तो वह 'विपदः सन्तु नः शश्वत्' कुन्तीके इस वाक्यसे विपत्तियोंका आह्वान करता है।

मैंने एक ऐसे महाराष्ट्र विद्यार्थीको देखा था जो माता-पिताकी ओरसे मिलनेवाली सभी सुविधाओंको छोड़कर अपने पुरुषार्थसे ही कालेजमें पढ़ता था और बी. एस. सी. का अभ्यास करनेके साथ साथ खर्चयोग्य कमानेके उपरान्त स्वयं भोजन पकाकर थोड़े खर्चमें जीनेकी कला सिद्ध करता था। मैंने उससे पूछा कि "पढ़ने लिखनेमें बहुत बाधा पड़ती होगी?" उसने कहा कि "मैंने आरंभसे ही इसी ढंगसे जीना सीखा है कि आरोग्य बना रहे, और विद्याभ्यासके साथ साथ स्वाश्रयवृत्तिमें आत्म-विश्वास बढ़ता चला जाए।" अन्तमें उसने उच्च श्रेणीमें बी. एस. सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। हम यह जानते

हैं कि व्यापारीवृत्तिके माता-पिता अपनी सन्ततिके लिए अधिकसे अधिक सम्पत्तिका उत्तराधिकार दे जानेकी इच्छा रखते हैं। वे कई पीढ़ी तककी स्वसंततिके सुखकी चिन्ता करते हैं किन्तु इसका परिणाम उलटा ही होता है और उनकी संततिके सुखकी धारणा धूलमें मिल जाती है। इसलिए मेरी दृष्टिसे जीवनकी सबसे बड़ी खूबी यही है कि हम चाहे जैसी स्थितिमें हो और चाहे जहाँ हों अपनी विद्यार्थी-अवस्था बनाए रखें और उसका उत्तरोत्तर विकास करते जायँ।

खुला हुआ और निर्भय मन

ज्ञान अथवा विद्या केवल बहुत पढ़नेसे ही मिलती है, ऐसी बात नहीं। कम या अधिक पढ़ना यह रुचि, शक्ति और सुविधाका प्रश्न है। कमसे कम पढ़नेपर भी यदि अधिक सिद्धि और लाभ प्राप्त करना हो तो उसकी अनिवार्य शर्त यह है कि मनको खुला रखना और सत्य-जिज्ञासा रखकर जीवनमें पूर्वग्रहों अथवा रूढ़ संस्कारोंको अवकाश न देना। मेरा अनुभव यह है कि इसके लिए सर्व प्रथम निर्भयताकी आवश्यकता है। धर्मका यदि कोई सच्चा और उपयोगी अर्थ है तो वह है निर्भयतापूर्वक सत्यकी खोज। तत्त्वज्ञान सत्य-शोधनका एक मार्ग है। किसी भी विषयके अध्ययनमें धर्म और तत्त्वज्ञानका संबंध रहता ही है। ये दोनो वस्तुएँ किसी चौकेमें नहीं बाँधी जा सकती। यदि मनके सभी द्वार सत्यके लिए खुले हों और उसकी पृष्ठभूमिमें निर्भयता हो, तो जो कुछ विचारा जाय अथवा किया जाय, सब तत्त्व-ज्ञान और धर्ममें समाविष्ट हो जाता है।

जीवन-संस्कृति

जीवनमेंसे गंदगी और दुर्बलताको दूरकर उनके स्थानपर सर्वांगीण स्वच्छता और सामञ्जस्यपूर्ण बलका निर्माण करना, यही जीवनकी सच्ची संस्कृति है। यही वस्तु प्राचीन कालसे प्रत्येक देश और जातिमें धर्मके नामसे प्रसिद्ध है। हमारे देशमें संस्कृतिकी साधना सहस्रों वर्ष पूर्व प्रारंभ हुई और आज भी चलती है। इस साधनाके लिए भारतका नाम सुविख्यात है। ऐसा होते हुए भी यहाँ धर्मका नाम ग्लानि उत्पन्न करनेवाला हो गया है और तत्त्वज्ञान निरर्थक कल्पनाओंमें गिना जाने लगा है। इसका क्या कारण है? इसका उत्तर धर्मगुरुओं, धर्म-शिक्षा और धर्म-संस्था ओंकी जड़ता

और निष्क्रियतामें मिल जाता है। धर्म अथवा तत्त्वज्ञान अपने आपमें तो जीवनका सर्वव्यापी सौरभ है। परतु इसमे जो दुर्गंध आने लगी है, वह दाम्भिक ठेकेदारोंके कारण। जिस प्रकार कच्चा अन्न अजीर्ण करता है, पर इससे कुछ भोजन मात्र ही त्याज्य नहीं हो जाता और जैसे ताजे और पोषक अन्नके बिना जीवन नहीं चल सकता, उसी प्रकार जड़ता-पोषक धर्मका कलेवर त्याज्य होते हुए भी सच्ची संस्कृतिके बिना मानवता अथवा राष्ट्रीयता नहीं टिक सकती।

व्यक्तिकी सारी शक्तियाँ, सिद्धियाँ और प्रवृत्तियाँ जब एक मात्र सामाजिक कल्याणकी दिशामें लग जाती हैं, तभी धर्म या संस्कृति चरितार्थ होती है। धर्म, संस्कृति और तत्त्वज्ञानकी विकृत विचारधारा दूर करने और शताब्दियों पुराने भ्रमोंको मिटानेके लिए भी संस्कृतिका सच्चा और गहरा ज्ञान आवश्यक है।

इस दृष्टिसे गाँधीजी

हम लोगोंको मालूम है कि गाँधीजी एक महान् राजपुरुष हैं। उनकी राजकीय प्रवृत्ति और हलचलके मूलमे सतत प्रवाहित होनेवाले अमृतके झरनेको उत्पन्न करनेवाला यदि कोई अटूट उद्गम-स्थान है तो वह है उनका संस्कृति-विषयक सच्चा विवेक। उनकी निर्णायक शक्ति, सुनिर्णयपर जमे रहनेकी दृढता और किसी भी प्रकारके भिन्न दृष्टिकोणको सहानुभूतिसे समझनेकी महानुभावता, ये सब उनके संस्कृतिके सच्चे विवेकके आभारी है। इसके अतिरिक्त उनके पास अन्य कोई धर्म नहीं। ऐसा संस्कृतिप्रधान विद्याका वातावरण तैयार करना जिस प्रकार संस्थाके संचालकों और शिक्षकोंपर निर्भर है उसी प्रकार विद्यार्थियोंपर भी उसका बहुत कुछ आधार है।

व्यवसायियों और कुटुम्बियोंसे

हम मानते आये हैं कि जो कुछ सीखनेका है वह तो केवल विद्यार्थियोंके लिए है। हम व्यवसाय या गृहस्थीमें फँसे हुए क्या सीखें ? और कैसे सीखें ? किन्तु यह मान्यता बिलकुल गलत है। मॉण्टेसरीकी शिक्षण-पद्धतिमें केवल शिशु और बालकके शिक्षणपर ही भार नहीं दिया जाता अपितु माता-पिताओंके सुसंस्कारोंकी ओर भी संकेत किया जाता है। ऐसा होने पर ही शिशु

और बालकोंका जीवन घर और पाठशालाके संस्कारोंके संघर्षके बीच स्थिर रह सकता है। यही बात बड़ी उम्रके विद्यार्थियोंके विषयमें भी है। प्रत्येक व्यवसायी अथवा गृहस्थ, अपने बचे हुए समय और शक्तिका उपयोग सुसंस्कार ग्रहण करनेमें कर सकता है। इतना ही नहीं उसे वैसा करना भी चाहिए, अन्यथा उसके और उसकी संततिके बीच ऐसी दीवाल खड़ी हो जानेवाली है कि संतति उसे दोष देगी और वह संततिपर दोष मढ़ेगा। ऐसी स्थिति कदापि ठीक नहीं कि संतति कहे कि माता पिता वहमी, जड़, और रूढ़िगामी हैं और माता-पिता कहें कि पढ़े लिखे विद्यार्थी केवल हवामें उड़ते हैं। माता-पिताओं और विद्यार्थियोंके बीचकी खाई अधिक गहरी न हो, इसका रामबाण इलाज माता-पिताओंके ही हाथमें है, और वह इलाज है अपनी समझको शुद्ध करनेका प्रयत्न।

प्रबुद्ध जैन
१५-९-४२

अनु०—**मोहनलाल मेहता**

धार्मिक शिक्षाका प्रश्न

धार्मिक शिक्षा देना चाहिए या नहीं, इस प्रश्नको लेकर मुख्य रूपसे आमने सामनेके छोरोंपर खड़े हुए दो वर्ग नजर आते हैं। एक वर्ग वह है जो धार्मिक शिक्षा देने दिलानेके लिए बहुत आग्रह करता है जब कि दूसरा वर्ग इस विषयमें उदासीन ही नहीं है अपितु अक्सर विरोध भी करता है। यह स्थिति केवल जैन समाजकी ही नहीं प्रायः सभी समाजोंकी है। हमे देखना चाहिए कि विरोध करनेवाला विरोध क्यों करता है? क्या उसे शिक्षाके प्रति अरुचि है या धर्मके नामसे सिखाई जानेवाली बातोंके प्रति द्वेष है? और इस अरुचि या द्वेषका कारण क्या है? इसी प्रकार धार्मिक शिक्षाके प्रति आग्रह रखनेवाला किस धर्मकी शिक्षाके विषयमें आग्रह रखता है और उस आग्रहके मूलमें क्या है?

विरोध करनेवालेकी शिक्षाके प्रति उतनी ही ममता है जितनी धर्म-शिक्षाके आग्रहीकी। धर्मके प्रति भी उसकी अरुचि नहीं हो सकती, यदि वह

जीवनप्रद और मानवतापोषक हो। उसका विरोध धर्मके नामसे सिखाई जानेवाली बातोंके प्रति ही है और उसका कारण है उस प्रकारकी धर्म-शिक्षाके द्वारा मानवताका विकास होनेके बजाय ह्रास होना। दूसरी ओर धार्मिक शिक्षाका आग्रह रखनेवाला मुख्य रूपसे अमुक अमुक पाठ सिखाने और परम्परागत क्रियाकाण्ड सिखानेका ही आग्रह करता है। इस आग्रहके मूलमें उसका खुदका धर्मविषयक जीता जागता अनुभव नहीं होता किन्तु परम्परागत क्रियाकाण्डके जो संस्कार उसे प्राप्त हुए हैं उन संस्कारोंको बनाए रखनेका जो सामाजिक मोह है और उन संस्कारोंको सींचनेके लिए पंडित और धर्मगुरु जो निरन्तर जोर दिया करते हैं वह होता है।

जिस समय विरोधी वर्ग धार्मिक शिक्षाका विरोध करता है उस समय वह इतना तो मानता ही है कि मानव-जीवन उच्च और शुद्ध संस्कारयुक्त होना चाहिए। ऐसे संस्कार कि जिनका सेवन करके मनुष्य निजी और सामाजिक जीवनमें प्रामाणिकता न छोड़े, तुच्छ स्वार्थके लिए समाज और राष्ट्रके विकासको रुद्ध करनेवाला कोई भी काम न करे। जीवन पोषक एक भी तत्त्व इस वर्गको अमान्य नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि समृद्ध और संस्कारी जीवनके लिए जो आवश्यक शिक्षा है वही इस वर्गकी दृष्टिमें ठीक है। जिस शिक्षाके द्वारा जीवनमें उदात्त संस्कार जमनेकी सम्भावना शायद ही होती है, उस शिक्षाका विरोध ही उसका विरोध है। इस तरह गहरे उतरकर देखें तो मालूम होगा कि धार्मिक शिक्षाका विरोध करनेवाला वर्ग वास्तवमें धार्मिक शिक्षाकी आवश्यकता स्वीकार करता है। दूसरी ओर इस शिक्षाका बहुत आग्रह रखनेवाला शब्द-पाठ और क्रियाकाडके प्रति चाहे जितना आग्रह रखे, फिर भी जीवनमें उच्च संस्कार-समृद्धि बढ़ती हो या उसका पोषण होता हो तो वह उसे देखनेके लिए उत्सुक रहता है। इस प्रकार आमने सामनेके छोरोंपर खड़े हुए ये दोनों वर्ग उच्च और संस्कारी जीवन बनानेके विषयमें एकमत हैं। एक पक्ष अमुक प्रकारका विरोध करके और दूसरा पक्ष उसका समर्थन करके अन्तमें दोनों नकार और हकारमेंसे एक ही सामान्य तत्त्वपर आकर खड़े हो जाते हैं।

यदि आमने सामनेके दोनों पक्ष किसी एक विषयमें एकमत होते हों, तो उस उभयसम्मत तत्त्वको लक्ष्य करके ही शिक्षाके प्रश्नका विचार करना

चाहिए और विवादास्पद तत्त्वके विषयमें एकान्तिक विधान या व्यवस्था न करके उसे शिक्षार्थीकी रुचि और विचारपर छोड़ देना चाहिए।

जो लोग धार्मिक पाठ और क्रियाकाण्डके पक्षपाती हैं उन्होंने यदि अपने जीवनसे यह सिद्ध किया होता कि परम्परागत धार्मिक क्रियाकांडका सेवन करनेवाले अपने जीवन-व्यवहारमें दूसरोंकी अपेक्षा अधिक सच्चे होते हैं और सादा जीवन व्यतीत कर अपनी चालू धर्म-प्रथा द्वारा मानवताकी अधिक सेवा करते हैं, तो वैसी शिक्षाका विरोध करनेका कोई कारण ही न होता। किन्तु इतिहास इससे विपरीत कहता है। जिस जिस जाति या समाजने रूढ धर्मशिक्षा अधिक पाई है, उस जाति या कौमने दूसरी जाति या कौमकी अपेक्षा भेद-भावनाका अधिक पोषण किया है। सबसे अधिक क्रिया-काण्डी शिक्षाका अभिमान रखनेवाली ब्राह्मण या हिन्दू जाति दूसरे समाजोंकी अपेक्षा अधिक भेदोंमें बँट गई है, और अधिक दाम्भिक साथ ही डरपोक बन गई है। ज्यों ज्यों धार्मिक शिक्षा विविध और अधिक हो, त्यों त्यों जीवनकी समृद्धि भी विविध और अधिक होनी चाहिए। किन्तु इतिहास कहता है कि धर्मपरायण मानी जानेवाली जातियाँ धर्मके द्वारा परस्पर जुड़नेके बजाय एक दूसरेसे अलग होती गई हैं। इस्लाम धर्मकी रूढ शिक्षाने यदि अमुक वर्गको अमुक अंशमें जोड़ा है तो उससे बड़े वर्गको अनेक अंशोंमें प्रथम वर्गका विरोधी मानकर मानवताको खंडित भी किया है। ईसाई धर्मकी रूढ शिक्षाने भी मानवताको खंडित किया है। अमुक धर्म अपने रूढ शिक्षणके बलसे यदि अमुक परिमाणमें मानव-वर्गको भीतर ही भीतर जोड़नेका पुण्य करता है तो उससे भी बहुत बड़े वर्गको अपना विरोधी माननेका महापाप भी करता है। यह तो रूढ शिक्षा-जन्य मानवताके खंडित होनेकी कथा हुई। यदि सम्प्रदायकी रूढ शिक्षा अपने सम्प्रदायके लिए भी सरल, प्रामाणिक और परार्थी जीवन बनानेवाली होती तब भी धार्मिक शिक्षाका विरोध करनेवालेको विरोध करनेका कारण नहीं मिल सकता। किन्तु इतिहास दूसरी ही कथा कहता है। किसी एक सम्प्रदायके प्रधान माने जाने-वाले धर्मगुरुओं अथवा मुख्य गृहस्थोंको लेकर विचार करें तो मालूम होगा कि प्रत्येक धर्मगुरु आडम्बरपूर्ण जीवनमें ही रस लेता है और अपने भोले अनुयायियोंके बीच उस आडम्बरका धर्मके नामसे पोषण करता है। जिस धन, शक्ति और समयसे उस सम्प्रदायके अनुयायियोंका आरोग्य बढ़ सकता है,

उन्हें शिक्षा दी जा सकती है, उद्योग सिखाकर स्वावलम्बी बनाया जा सकता है, उसी धन, शक्ति और समयका अधिकतर उपयोग प्रत्येक धर्मगुरु अपनी आडंबर-सज्जित जीवन-गाड़ी चलाते रहनेमें किया करता है। स्वयं शरीरश्रम करना छोड़ देता है किन्तु अन्यके श्रमके फलोंका भोग नहीं छोड़ता। स्वयं सेवा करना छोड़ देता है किन्तु सेवा लेना नहीं छोड़ता। बन सके उतना उत्तरदायित्व छोड़ देनेमें धर्म मानता है किन्तु खुदके प्रति दूसरे लोग उत्तरदायित्व न भूलें, इसकी पूरी चिन्ता रखता है। सम्प्रदायके ये रूढ़शिक्षा-रसिक अगुए गृहस्थ, अपने जीवनमें राजाओंके समान असदाचारी होते हैं, मनमाना भोग करते हैं और चाहे जितनोंको वंचित करके कमसे कम श्रमसे अधिकसे अधिक पूँजी एकत्र करनेका प्रयत्न करते हैं। जब तक अनुकूल परिस्थितियाँ होती हैं तब तक तो व्यवसायमें प्रामाणिकता रखते हैं किन्तु ज़रा-सी जोखिम आ पड़नेपर टाट उलट देते हैं। ऐसी परिस्थितिमें चाहे जितना जोर लगाया जाय किन्तु रूढ़ धर्म-शिक्षाके विषयमें स्वतंत्र और निर्भय विचारक आन्तरिक और बाह्य विरोध रखेंगे ही। यदि वस्तुस्थिति ऐसी है और ऐसी ही रहनेकी है, तो अधिक सुन्दर और सुरक्षित मार्ग यह है कि जो उभय-पक्ष-सम्मत हो उसी धर्मतत्त्वकी शिक्षाका प्रबन्ध सावधानीसे किया जाय।

धर्मतत्त्वमें मुख्य रूपसे दो अंश होते हैं, एक आचारका और दूसरा विचारका। जहाँ तक आचरणकी शिक्षाका संबंध है, निरपवाद एक ही विधान संभव हो सकता है और वह यह कि यदि किसीको सदाचरणकी शिक्षा देना हो तो वह सदाचारमय जीवनसे ही दी जा सकती है, केवल वाणीसे नहीं दी जा सकती। सदाचरण वस्तु ही ऐसी है कि वह वाणीमें उतरते ही फीकी पड़ जाती है। यदि वह किसीके जीवनमें अन्तस्तलसे उदित हुई हो, तो दूसरेको किसी न किसी अंशमें प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि मानवताका पोषण करनेवाले जिस प्रकारके सदाचारको समाजमें दाखिल करना हो, जब तक उस प्रकारका सदाचारी व्यक्ति कोई न मिले तब तक उस समाज या संस्थामें सदाचारकी शिक्षाके प्रश्नको हाथमें लेना निरी मूर्खता है। माता पिता या अन्य लोग बालकोंके जीवनका जैसा निर्माण करना चाहते हों, उन्हें अपने

जीवनको वैसा ही बनाना चाहिए और यदि वे ऐसा नहीं कर सकते हों तो उन्हें अपनी संततिके जीवनमें सदाचरण लानेकी आशा नहीं करनी चाहिए। कोई भी संस्था किरायेके नकली शिक्षक रखकर विद्यार्थियोंमें सदाचारका वातावरण उत्पन्न नहीं कर सकती। यह व्यवहारका विषय है और व्यवहार सच्चा या झूठा देखादेखीमेंसे उत्पन्न होनेके बाद ही विचारके या संस्कारके गहरे प्रदेश तक अपनी जड़ें पहुँचाता है।

धर्म-शिक्षाका दूसरा अंश विचार है—ज्ञान है। कोई भी संस्था अपने विद्यार्थियोंमें विचार और ज्ञानके अंश सिंचित और पोषित कर सकती है। इस तरह प्रत्येक संस्थाके लिए राजमार्गके रूपमें धार्मिक शिक्षाका एक ही विषय बाकी रहता है और वह है ज्ञान तथा विचारका।

इस अंशके लिए संस्था जितना उदात्त प्रबंध करेगी उतनी सफलता अवश्य मिलेगी। प्रत्येक विद्यार्थीको जाननेकी कम या अधिक भूख होती ही है। उसकी भूखकी नाड़ी यदि ठीक ठीक परख ली जाय तो वह विशेष तेज भी की जा सकती है। इसलिए विद्यार्थियोंमें विविध प्रकारसे तत्त्व-जिज्ञासा पैदा करनेका आयोजन करना संस्थाका प्रथम कर्तव्य है। इस आयोजनमें समृद्ध पुस्तकालय और विचारपूर्ण विविध विषयोंपर व्याख्यानोंका प्रबंध आवश्यक है। साथ ही सम्पूर्ण आयोजनका केन्द्र ज्ञान और विचारमूर्ति शिक्षक और उसकी सर्वग्राहिणी और प्रतिक्षण नवनवताका अनुभव करनेवाली दृष्टि भी चाहिए। जो संस्था ऐसे शिक्षकको प्राप्त करनेका सौभाग्य प्राप्त करती है उस संस्थामें ऐसी धर्मशिक्षा अनिवार्य रूपसे फैलेगी और बढ़ेगी ही, जो विचार करनेके लिए काफी होती है। करनेकी बात आनेपर विद्यार्थी जरा-सा कष्टका अनुभव करता है किन्तु जाननेका प्रश्न सामने आनेपर उसका मस्तिष्क अनुकूल शिक्षकके सन्निधानमें जिज्ञासाको लिए हुए हमेशा तैयार रहता है। प्रतिभाशाली अध्यापक ऐसे अवसरसे लाभ उठाता है और विद्यार्थीमें उदार तथा व्यापक विचारोंके बीजोंका वपन करता है। संस्थाएँ धार्मिक शिक्षाका आयोजन करके भी वास्तवमें जो विद्यार्थीके लिए करना चाहिए, उस कार्यको पूर्ण नहीं करतीं और जिस धार्मिक कहे जाने-वाले अंशमें विद्यार्थीको अथवा स्वयं शिक्षकको रस नहीं होता उस अंशपर परम्पराके मोहके कारण अथवा अमुक वर्गके अनुसरणके कारण भार देकर दोनों चीजें खो देती हैं। शक्य विचारांशकी जागृतिमें बाधा पहुँचती है

या रुकावट खड़ी होती है और अशक्य रूढ आचारोंमें रसवृत्ति उत्पन्न होनेके बजाय हमेशाके लिए उनसे अरुचि हो जाती है। मेरी दृष्टिसे प्रत्येक सस्थामें उपस्थित होनेवाले धार्मिक शिक्षाके प्रश्नका हल यह हो सकता है—

(१) प्रत्येक क्रियाकाण्डी अथवा रूढ शिक्षा ऐच्छिक हो, अनिवार्य नहीं।

(२) जीवनके सौरभके समान सदाचरणकी शिक्षा शब्दोंसे देनेमें ही सन्तोष नहीं मानना चाहिए और ऐसी शिक्षाकी सुविधा न हो, तो उस विषयमें मौन रहकर ही सन्तोष करना चाहिए।

(३) ऐतिहासिक तुलनात्मक दृष्टिसे धर्मतत्त्वके मूलभूत सिद्धान्तोंकी शिक्षाका विद्यार्थियोंकी योग्यताके अनुसार श्रेष्ठतम प्रबंध होना चाहिए। जिस विषयमें किसीका मतभेद न हो, जिसका प्रबंध संस्था कर सकती हो और जो भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंकी मान्यताओंको मिलानेमें सहायक तथा उपयोगी हो और साथ ही साथ मिथ्या भ्रमोंका नाश करनेवाली हो वही शिक्षा सस्थाओंके लिए उपयोगी हो सकती है।

अनु०—मोहनलाल मेहता

विद्याकी चार भूमिकाएँ *

भाइयो और बहनो,

आप लोगोंके सम्मुख बोलते समय यदि मैं प्रत्येक व्यक्तिका चेहरा देख सकता या शब्द सुनकर भी सबको पहचान सकता तो मुझे बड़ा सुभीता होता।

सुपद्धतिसे अथवा वैज्ञानिक ढंगसे काम करनेकी जैसी शिक्षा आपको मिली है, वैसी मुझे नहीं मिली, इसलिए मुझे बिना शिक्षाके इधर-उधर भटकते हुए जो मार्ग दिखाई दे गया, उसीके विषयमें कुछ कहना है। जिस व्यक्तिने अन्य मार्ग देखा ही न हो और जो पगडंडी मिल गई उसीसे जंगल पार किया हो वह केवल अपनी पगडंडीका ही वर्णन कर सकता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि दूसरी पगडण्डियाँ हैं ही नहीं, अथवा हैं तो उससे घटिया या हीन हैं। दूसरी पगडंडियाँ उससे भी श्रेष्ठ हो सकती हैं। फिर

* गुजरातविद्यासभाकी अनुस्नातक विद्यार्थी-सभाके अध्यापकों और छात्रोंके समक्ष १९४७ के पहले सत्रमें दिया हुआ मंगल प्रवचन।—'बुद्धिप्रकाश' से

भी मेरी पगडंडीसे मुझे तो आनन्द और स्थिरता मिल रही है। मुझे विद्यार्थी-जीवन चार विभागों अथवा भूमिकाओंमें विभाजित दिखाई देता है। प्राथमिकसे माध्यमिक तकका प्रथम विभाग, माध्यमिकसे उच्च शिक्षण तकका— बी. ए. अथवा स्नातक होने तकका—द्वितीय, अनुस्नातकका तृतीय और उसके बादका चतुर्थ।

हमारी प्रारम्भिक शिक्षा शब्द-प्रधान और स्मृति-प्रधान होती है। इसमें सीखनेवाले और सिखानेवाले दोनोंकी समझने और समझानेकी प्रवृत्ति भाषाके साधनद्वारा होती है। इसमें सीधा वस्तु-ग्रहण नहीं होता। केवल भाषाद्वारा जो संस्कार पड़ते हैं वे स्मृतिमें पकड़ रखे जाते हैं। यहाँ मैं जिसे भाषा कहता हूँ उसमें लिखना, बोलना, पढना और उच्चारण करना सब कुछ आ जाता है। इस प्रवृत्तिसे समझ और तर्कशक्ति विशेष उत्तेजित होती है, किन्तु वह अधिक अंशोंमें आयुपर निर्भर है।

उसके बादकी दूसरी भूमिका संज्ञान अर्थात् समझ-प्रधान है। विद्यार्थी जब कालेजमें प्रविष्ट होता है उस समय भी भाषा और शब्दका महत्त्व तो रहता है, किन्तु इस भूमिकामें उसे विषयको पकड़कर चलना पड़ता है। इसीसे पाठ्यक्रममें बहुत-सी पुस्तकें होनेपर भी वे सभी पूरी हो जाती हैं। यदि उसे वहाँ भी केवल स्मृतिका आधार लेकर चलना पड़े तो ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए वहाँ शब्द नहीं, अर्थका महत्त्व होता है। इस अर्थ-ग्रहणकी पद्धतिमें अन्तर हो सकता है किन्तु मुख्य वस्तुस्थिति इसी प्रकारकी होती है।

उसके बादकी भूमिकामें समझके सिवाय एक नया तत्त्व आता है। इसके पहलेकी भूमिकाओंमें शिक्षा, चर्चा, आलोचना इत्यादि सब दूसरोंकी ओरसे आता था और समझ लिया जाता था, किन्तु अब तृतीय भूमिकामें तारतम्य, परीक्षण-वृत्ति, किसी भी मतको अपनी बुद्धिपर कसकर देखनेकी परीक्षक-वृत्ति और भी शामिल हो जाती है। इस समय विद्यार्थी ऐसा कर सकनेकी उम्रमें पहुँच गया होता है। अतः पहले जिस पुस्तक अथवा अध्यापकको वह प्रमाण-भूत मानता था उसका भी विरोध करनेको तैयार हो जाता है।

इसके बादकी भूमिका पी० एच० डी० होनेके लिए की जानेवाली प्रवृत्ति है। शब्दप्रधान, समझप्रधान, विवेकप्रधान और परीक्षा-प्रधान विद्याध्ययनका उपयोग इस भूमिकामें होता है। इसमें जो विषय

चुना जाता है उसपर उस समयतक जितना काम हो चुका होता है, उस सबको समझकर और उपलब्ध ज्ञानको प्राप्त करके कुछ नई खोज करना, नई रचना करना, कुछ नई वृद्धि करना पड़ता है, पूर्वोक्त शब्द, स्मृति, संज्ञान और परीक्षाकी त्रिवेणीके आधारपर। इसमें किये हुए कामका परिमाण देखनेकी आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् पन्नोंकी सख्या नहीं देखी जाती, किन्तु उसकी मौलिकता, उसका आधिकार देख जाता है। उसकी नई खोज कभी कभी एकाध वाक्यसे भी प्रकट हो जाती है। अभिप्राय यह कि यह खोज और सर्जन शक्तिकी भूमिका है।

यहाँ एकत्र होनेवाले तीसरी और चौथी भूमिकावाले हैं। इस समय मैं डिग्री चाहनेवालों या परीक्षा पास कर चुकनेवालोंका विचार नहीं करता। विद्यार्थियों और अध्यापकोंका भी मैं एक ही साथ विचार करता हूँ। फिर भी अध्यापकोंके विषयमे थोड़ा-सा कहना है। यों तो सच्चा अध्यापक हमेशा विद्यार्थी-मानसके साथ ताल मिलाता हुआ ही चलता है। किन्तु जिस समय वह विद्यार्थीकी संशोधन-प्रवृत्तिमें सहायक होता है उस समय जुदा ही रूप लेता है। इस कक्षामें अध्यापकको ऐसी ही बातें बतानी होती हैं जिनमें विद्यार्थीकी सशोधक-वृत्ति जाग्रत हो। अर्थात् अध्यापक प्रत्यक्ष शिक्षासे ही नहीं अपितु चर्चा, वार्तालाप, सूचना इत्यादिके द्वारा भी विद्यार्थीके मनमें कुछ नई चीज पैदा करता है। जिस प्रकार विद्यार्थी-जीवनकी चार भूमिकाएँ हैं उसी प्रकार अध्यापकके जीवनकी भी चार भूमिकाएँ गिननी चाहिए।

विद्यार्थी और अध्यापकका संबंध भी समझ लेने योग्य है। विद्याध्ययन दोनोंका सामान्य धर्म है। वास्तवमें अध्यापक और विद्यार्थी दोनों एक ही वर्गके हैं। केवल अध्यापकके पदपर नियुक्त हो जानेसे कोई अध्यापक नहीं होता, विद्यार्थीकी बुद्धि और जिज्ञासाको उत्तेजित करनेवाला ही सच्चा अध्यापक है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी और अध्यापकके बीच कोई ज्यादा तारतम्य नहीं है। फिर भी अध्यापकके बिना विद्यार्थीका काम नहीं चल सकता, जिस तरह रस्सीके बिना नाचनेवाले नटका। और यदि विद्यार्थी न हों, तो अध्यापक अथवा अध्यापनकी कोई संभावना ही नहीं हो सकती। वस्तुतः विद्यार्थीके सान्निध्यसे ही अध्यापककी आत्मा विकसित होती है, व्यक्त होती है। ज्ञान

भी तभी स्पष्ट होता है। विद्यार्थी उसके पास आता है कुछ प्राप्त करनेकी श्रद्धासे। किन्तु श्रद्धा तभी सार्थक होती है, जब अध्यापक अपना उत्तरदायित्व समझता हो। इस प्रकार उच्च शिक्षाकी संस्थामें अधिकसे अधिक उत्तरदायित्व अध्यापकका होता है।

परन्तु केवल अध्यापकके उत्तरदायित्वसे ही विद्यार्थीका उद्धार नहीं हो सकता। जो अध्यापककी शरणमें आता है उसे स्वयं भी जिज्ञासु, परिश्रमी और विद्या-परायण होना चाहिए।

स्वयं अध्यापकका भी एक ध्येय होता है। उसे भी नवीन संशोधन करना होता है। विद्यार्थियोंको मार्ग बताते समय, सूचना देते समय और उनसे कार्य लेते समय उसकी खुदकी सूझका भी विकास होता है और उसके नेतृत्वको गति मिलती है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि अच्छा संशोधक हमेशा अपने आसपास विद्यार्थियोंका मंडल रखना चाहता है। इतना ही नहीं, उसके साथ कुटुम्ब जैसा व्यवहार रखता है। कलकत्तेमें और शान्तिनिकेतनमें मैंने ऐसे अध्यापक देखे हैं। ऐसे अध्यापकोंसे विद्यार्थी तो शंका या प्रश्न करके निश्चिन्त होकर घर जाकर सो सकते हैं किन्तु अध्यापककी तो अक्सर नींद ही उड़ जाती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थीकी शंकाका समाधान करनेके लिए उसने जो उत्तर दिया है वह अधूरा है। पूर्ण संतोष-जनक उत्तर देनेपर ही उसे चैन मिलती है। जब विद्यार्थीको यह मालूम होता है तब अध्यापकके जीवनका रंग उसपर भी चढ़ जाता है।

विद्योपार्जनकी क्रिया वृक्ष जैसी होती है। सतत रस खींचते रहनेसे ही वह बढ़ता है और शाखा शाखा पत्र पत्रमें रस पहुँचा करता है।

लोग पूछते हैं कि क्या अहमदाबादमें संशोधन हो सकता है? प्रश्न ठीक है क्योंकि अहमदाबादका धन कुछ जुदा ही है। फिर भी इस धनकी विशेष इच्छा रखनेवाले भी विद्या-धनकी इच्छा रखते हैं। अहमदाबाद इस विषयमें अपवाद नहीं हो सकता। हम जिसका उपार्जन करते हैं वह भी एक धन है। उस धनको प्राप्तकर झोंपड़ीमें रहकर भी सुखी रहा जा सकता है। जो व्यक्ति निरलस उत्साही है, जिसे अपनी बुद्धि और चारित्रके विकासमें ही धन्यता दिखाई देती है उसके लिए विद्योपार्जन धन्य व्यवसाय है। हम सब इच्छासे अथवा अनिच्छासे इस व्यवसायमें ढकेले गये हैं, फिर भी इसका उपयोग

है। अक्सर लोग पूछ बैठते हैं कि इसमें तुम क्या देखकर फँस गये? मैं उत्तर देता हूँ कि मुझे मरते समय विल (वसीयत) करनेकी जरूरत न पड़ेगी। और धनिक लोग भले ही अभिमान करें किन्तु विद्याधनवालों—विद्वानोंको—ढूँढ़े बिना उनका भी काम नहीं चल सकता। खुदके लिए नहीं तो अपनी सन्तानके लिए तो उन्हें विद्वानोंकी आवश्यकता होती ही है। यह मैं लक्ष्मी और सरस्वतीके विरोधकी बात नहीं कह रहा हूँ। विद्यार्थीके साधना कालमें लक्ष्मीकी लालसा विघ्नरूप है। विद्याकी साधनामें यदि कोई विघ्न है तो वह धन है। निर्धन स्थान और गरीब कुटुम्बमें रहते हुए धनकी महत्त्वाकांक्षा जाग्रत नहीं होती। धनिकोंके संसर्गसे ही वह जागती है। इस लिए चतुर्थ भूमिकामें व्यक्त होनेवाली अपनी मौलिक साधनोंमें हमें इससे सावधान रहना चाहिए।

एक विघ्न और भी है। कई बार पिछली भूमिकाओंकी त्रुटियाँ भी आगेकी भूमिकाओंमें दिखाई देती हैं। उन्हें भी दूर करना चाहिए। मैंने अपने समयका सदुपयोग करनेवाले विद्यार्थी बहुत कम देखे हैं। उनका पुरुषार्थ परीक्षा काल तक ही सीमित रहता है। इससे उनका आरोग्य भी नष्ट होता है। यह भूल दूसरी भूमिकामें बारबार देखी जाती है। परन्तु तृतीय और चतुर्थ भूमिकामें यह भूल कदापि नहीं होनी चाहिए। और यदि होती हो, तो उसे अपने प्रयत्नसे और विवेकसे दूर करना चाहिए। पहली दो भूमिकाओंकी भूलोंके लिए हम शिक्षकों, शिक्षा-पद्धति, समाज आदि किसीको भी उत्तरदायी समझें किन्तु तृतीय भूमिकामें तो विद्यार्थीको स्वयं ही उत्तरदायी बनना पड़ेगा। और चतुर्थ भूमिकामें तो यह भूल निभ ही नहीं सकती। इसे दूर करना ही पड़ता है।

इस भूमिकामें आप और मैं सभी हैं। यह मंगल अवसर है, मंगल जीवन है। नये घरमें वास, विवाह, परदेश प्रयाण आदिमें कोई खास समय मंगलमय माना जाता है, परन्तु विद्यार्थी जीवनका तो प्रत्येक क्षण मांगलिक है।—उसकी चर्चा, वाचन, शोधन, सूझमें मांगल्य उमड़ता है। पहली तीन भूमिकाओंके तो वर्ष भी नियत हैं किन्तु चतुर्थ भूमिकामें इसका भी बंधन नहीं। यह तो सदा मंगल है।

अनु०—मोहनलाल मेहता